सुधांशु

॥ श्री सद्गुरु माणिकप्रभुः प्रसीदतु ॥

अर्पण-पत्रिका

अखंडमंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरं।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
सर्वश्रुतिशिरोरत्नविराजितपदांबुजं॥
वेदांतांबुजमार्तण्डः तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

भक्तकार्यकल्पद्रुमादि विरुदाङ्कित, सकलमतस्थापित
अभिनव शङ्कराचार्य, ज्ञानशङ्कर
ब्रह्मीभूत
श्रीसद्गुरु मार्तण्डमाणिकप्रभु महाराज के
चरण-कमलों में—

सादर समर्पित.

एकनिष्ठ चरणरजाङ्कित, अनन्य बालक—
यशवन्त सदाशिव कोरेकल.

काव्यमार्तण्ड पं. श्रीयशवन्तरावजी कोरेकल विरचित ग्रन्थ.

मूल्य

१ काव्य-कुसुम-कलिका–प्रथम उद्भव. पृष्ठ-संख्या. कलदार. हाली.
(इसको उस्मानिया विद्यापीठने परीक्षाके लिए नियुक्त किया है) मराठी काव्य-ग्रन्थ २२३ १ १८=

२ पुष्प–पाकळ्या–द्वितीय-उद्भव. " " ४३३ १॥ १॥।
(रजिस्ट्रेशन नं. ८ ता. २८,५,४४ फ.) "

३ सुमन-सौरभ—तृतीय-उद्भव. " " ४०४ २ २॥

४ 'काव्य किसलय' (च. ") " लगभग५०० [असुद्रित]

५ 'विरोधाभाव' (सङ्गीत) नाटक. " लगभग१५० [असुद्रित]

६ यशोबिम्ब. [हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी]" १८० १। १॥

७ सोजो_साज़ उर्फ़ कलामे_नुसरत दीवान [उर्दू] १६० ॥। ॥।
(रजिस्ट्रेशन नं. २ ता. २ बहमन १३४२ फ.)

८ 'मक्सदे_हयात' उर्फ़ "इष्तियाके_तआलीम" सङ्गीत नाटक [उर्दू] लगभल२०० [असुद्रित]

९ 'करिष्मै इष्क़' (सङ्गीत) नाटक " लगभग १२५ ["]

१० विचारवैभव. (वेदान्त ग्रन्थ) [मराठी] गद्य ग्र. ३२५ २ २॥

११ कौस्तुभ-किरण. (निबन्ध, लघुकथाएँ) " " " २१२ १॥ १॥।

१२ यशोविलास. (संगीत-साहित्य-विविध विचारात्मक निबन्ध) " " " २१४ १॥ १॥।

१३ "सुधांशु" वेदान्त-ग्रन्थ (महाराष्ट्र भाषाङ्कित "ज्ञानमार्तण्ड" का हिन्दी अनुवाद.) हिन्दी " " ३९४ ३॥ ४.

१४ 'आफ्तावे_इरफ़ान'—
("सुधांशु" हिन्दी ग्रन्थका रूपान्तर) [उर्दू] " ३०० [असुद्रित]

१५ मराठी-उर्दू-कोश. लगभग ५०० ["]

पुस्तक मिलनेका पता–काव्यकौस्तुभ य. स. कोरेकल. शालीवंडा, है. द.
(अथवा) प्रकाशक–अप्पासाहेब देशपाण्डे. सं. माणिकनगर,
पोस्ट–होमिनाबाद, जि. गुलबर्गा (निज़ाम स्टेट.)
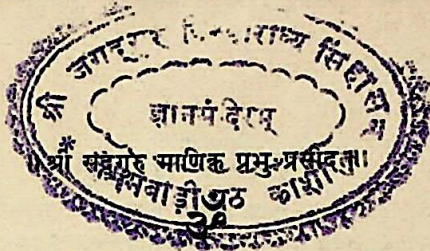
मङ्गलाचरण

श्री

भक्तकार्यकल्पद्रुम गुरुसार्वभौम

श्रीमद्राजाधिराजयोगीमहाराज

त्रिभुवनानन्द अद्वैत अभेद

निरञ्जन निर्गुण निरालम्ब

परिपूर्ण सदोदित

सकलमतस्थापित

सद्गुरु

माणिकप्रभु

महाराज की जय !

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं

यः सर्वं सर्वतश्च यः।

यश्च सर्वमयो देवः

तस्मै सर्वात्मने नमः॥

अनुक्रमणिका

उत्तरार्ध :—

परिशिष्टाएँ :—

३६० + ३४ = ३९४

॥ श्री ॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

भक्तकार्यकल्पद्रुमादि विरुदांकित, सकलमतस्थापित, अभिनवशंकराचार्य,
श्री सद्गुरु मार्तण्ड माणिक प्रभु महाराज के चरणकमलों में
सादर समर्पित.

कविवर्य, काव्यकौस्तुभ, वृत्तसम्राट्, सकलकलाकोविद, रहस्यज्ञ,
काव्यमार्तण्ड--

यशवंत सदाशिव कोरेकल.

PREMIER ART PRINTING WORKS — FORT, BOMBAY —
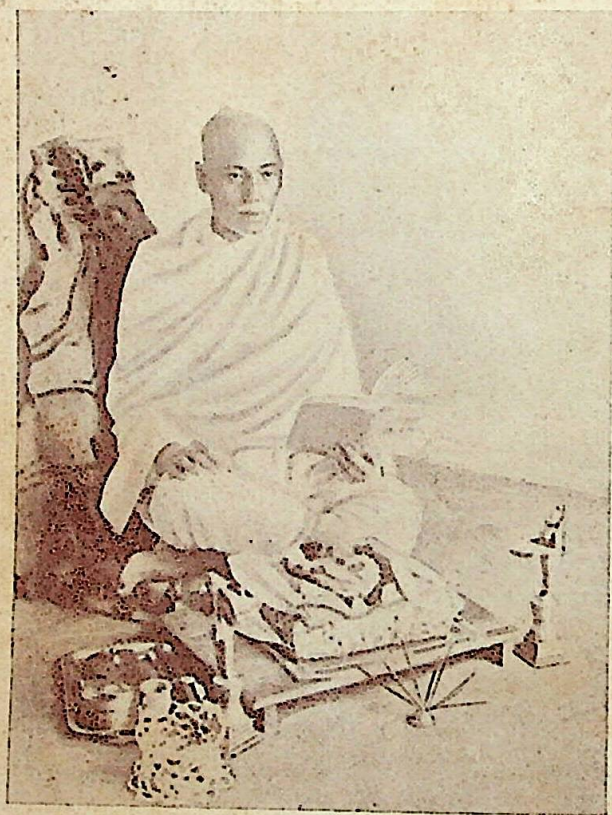
॥ श्री सद्गुरु माणिकप्रभुःप्रसीदतु॥

अल्प निवेदन.

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद्गुरोरेव मे न हि ।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्न हि ॥

नमस्तस्मै सदैकस्मै कस्मैचिन्महसे नमः। यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ते ॥
(गुरुगीता ५२१).

श्री प्रभुने न जाने किस हेतु मुझ जैसे, दीन, दैवहीन के हाथों कभी कुछ काव्य-कलात्मक कृतियाँ करायीं तो कभी कतिपय आध्यात्मिक, वेदान्तविचारात्मक, सामाजिक (प्रबन्धमय और गद्यमय) ग्रन्थ लिखाए, फिर भी सच कहा जाय तो मैं अभी विद्यार्थी दशा में ही हूँ और श्वासान्त तक रहूँगा भी। बाहरी लौकिक और मान्यता की अभिलाषा से बहुत कुछ दूर हूँ। क्यों कि, गुरुचरण-धूलि-कृपा मुझे जनाती है कि, विशुद्ध अन्तरात्मा जो अपने-आप को ढूँढ़ रहा हुआ सा जान पड़ता है, कर्माकर्म, पुण्यपापात्मक बाहरी भौतिकैश्वर्य-सत्तादि भवबद्धक पाश से अथवा वृत्युद्भूत शब्दश्रृंखला से बँध जाता है। निर्व्याज्य अन्तरिक सत्ता में सदा का विलीन नहीं हो सकता। यद्यपि वह उभयविध प्रकार में परिबद्ध दीखे तिसपर भी वह जानता है कि, कैसे भी दृढ़तर बन्धन में स्वरूपतः मैं सदा मुक्त ही हूँ। बाह्य स्थूल आंशिक प्रकाशमात्र रहने के कारण पतन की ओर अग्रसर है। आकर्षक सुन्दरता विलासता को बढ़ानेवाली, इस कारण

विनाश के गहरे गर्त में गिराने वाली है। तब तो अचिन्त्यानन्तगुणसम्पन्न अप्राकृत सच्चिदानन्दमयता ही एकमेव अखिल रसात्मक-सिन्धु है। अतः हर एक चिन्ताशील भक्त को चाहिए कि वह अपनी जीवन की गति को सब ओर से फिराकर सर्वतोभाव से केवल एक परात्पर परमात्मा प्रभुजी के ही शरणापन्न हो जाय।

हानि--लाभ की उपेक्षा कर सत्य, शिव, शान्तरूपी परम सुन्दर मन्दिर खड़ा करने के हेतु आरम्भ में कार्यकर्ता उन दीवारों को केवल स्वयंस्फूर्त संकल्प ही के बलपर ढाह सकता है, जिन्हें स्वयम् ही तो श्रमपूर्वक खड़ा किया था! स्वभावतः मानुषतन यावच्छक्य किसी न किसी यत्न में लगा रहता ही है। छोटामोटा कोई कार्य क्यों न हो, यदि कर्तव्य ही है तो लगातार यत्न, अभ्यास-रगड़पटी करने से निश्चय ही उसमें थोड़ी बहुत पटुता प्राप्त भी होने लगती है। पर, विचारी यह भी जानते हैं कि, आंशिक वस्तु जोड़ना चाहें तो पहले की तरह उसे हम नहीं जोड़ पाते। हमारी सीमाएँ हमने ही सीमित कर रखी हैं। चाहे उनका अनुनय करें चाहे उन्हें और विस्तृत करने के लिए आगे बढ़ते भी जायँ। असीम, अमर्याद, अवाङ्मनसगोचर ऐसा एक परात्पर परमात्मा ही केवल "प्रेम" है। आत्मज्ञान के साथ साथ जब अगाध, अपार प्रीति और भक्ति भी उसी परम प्रेम-मूर्ति के सजावार और सदा के लिए स्वयम् उसके गले का हार बनने पायगी तब उसकी गहरी लगन अकथनीय अधीरता की मिठास अनुभव करने लग जायगी! और जब कभी सीमा का उल्लंघन कर मन की वह छटपटाहट, प्रेमभरी तड़प, सबकुछ दर्दभरी मीठीसी एकतानता में विलीन होकर बाहरी दृश्य के साथ साथ वृत्तियोंसमेत प्रीति और भक्तिसह स्वयम् भक्त की ही भूल पड़ जाय, द्वंद्व का मानदण्ड खण्डित हो जाय, त्रिपुटी के तीन तीन हो जायँ, तब कहीं बाह्यान्तर दर्शनों की सीमाओं से छुटकारा पा असीम, अमर्याद स्वस्वरूप-सौंदर्यसागर में घुलमिल

जायगी। यह तो अत्यंत स्पष्ट है कि सौंदर्यसीमा प्रेम-मूरत तो क्या -रूपा-रूपविशुद्ध परमात्मा ही परमाकृष्ट एकमेव केवल स्वयम्-प्रेम है! दर्दभरे भक्त के हृदय में दर्शन-पिपासा और मिलन की परमोत्कण्ठा उत्पन्न कर निःशब्द-स्फुरण से लेकर सत्य-सङ्कल्प का भगवान् ही आद्य दाता है तो उसका पूर्ण-कर्ता भी निस्संशय वही है! यहाँ हमको किसी बलवती और ठोस कार्यावली से भी काम नहीं! इच्छा केवल इतनी ही है कि, किसी न किसी निमित्त से अपनी अमिट स्वरूप-स्वतन्त्रता जैसीकी वैसी बनी रहे! बाहरी दृश्य, शब्द-सुखभोगादिक खलबली न मचा सकें। यद्यपि तत्त्वविवेचन, सदुपदेश बिगड़ी को बनाने का सद्धेतु समझा जा सकता है -पर यहाँ केवल इतना कह रखना भी पर्याप्त होगा कि, जो बिगड़ ही नहीं सकता उसे बनाने की साधना अथवा स्वसंतोष कहना वह भी एक असद्वासना ही तो है! जहाँ जहाँ कुछ ना कुछ कामना है वहाँ वहाँ साधना सदा के लिए पीछे पड़ जाती है। किसी एक साध्य के कारण कितने भी यत्न-मार्ग यदि कोई काटने लग जाता है तो पग-पग पर सन्देहपुञ्ज इकट्ठा होकर उसे किसी न किसी फल की चटान पर पटकने में जरा भी नहीं हिच-कते। कार्यावली की सहायता से कोई एक हेतु धारकर किसी न किसी प्रकार के फलप्राप्ति की चेष्टा का नाम है यत्न अथवा साधना!! यदि 'मनस्सन्तोष" कहा जाय-"सन्तोष" तो स्पष्टतया निगृहीत मन का केवल एक भ्रम-प्रकार है!!! जिससे व्यवहार में अतृप्तता तो आही जाती है, अभ्युदय के साथ साथ निःश्रेयस मुक्ति-मार्ग में भी कुछ कम रोड़े खड़े नहीं होते! अतः अहेतुकता के नींव पर बन्धन-भित्ति कहो, कि साधनसौंध-एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाकर, चाहे पुरस्कार मिले या तिरस्कार- उसका मनमें तनिक भी विचार न लाने आजतक उर्दू, महाराष्ट्र और हिन्दी भाषाओं में मेरी दौड़-धूप जो कुछ, जितनी और जैसी कुछ हो सकी और हो रही है वह सब फलतः तत्त्व-दृष्टि से अफलता के बराबर है। कारण, आध्यात्मिक साधना में एक विलक्षणता-मर्म की बात यह रहा करती है कि साधक की सारी साहित्यनिष्पत्ति निःसाधनता

की अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त करने अथवा पश्चात् भी उत्पन्न होनेवाले मुमुक्षुओं को प्राप्त करा देने के यत्न में लगा रहती है।

यदि ऊँची सी ऊँची साहित्यसेवा कही जाय, तो वह यह है कि जिसमे संसारभर का जीवन समृद्ध, विशाल और सर्वग्राही बन जाय, वज्रमूर्ख भी परम विद्वान् हो जाय, कदाचारी सदाचारी तथा अविचारी ऐसा सद्विचारी बन जाय, कि फिर भूलेसे भी भ्रम में न पड़ने के हेतु तात्त्विक मनन-निदिध्यासन का ताँता तनिक भी न टूटने दे और चहुँ ओर से निश्चित ही कृतार्थ हो जाय। ऐसा पुरुष तो वही हो सकता है जो बाह्य सम्पदैश्वर्य से उदासीन, स्वार्थ-बुद्धि-रहित, सर्वत्यागी और प्राणिमात्र में समदर्शी, विश्वप्रेमी हो। स्वयं तो क्या-मानव-समाज को यथार्थ मानवता के विकास के योग्य और शान्ति तथा शिव-सौन्दर्य का भाण्डार बनाकर आत्मिक उन्नति के शिखरपर जो स्थान सुख-सम्भोग, ऐश्वर्य-सम्पत्ति और प्रभुत्व के बहुत ऊपर रहता और रखता है चढ़ा दे।

यहाँ इतना और सूचित कर रखना पर्याप्त होगा कि, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से फलविहीन वृक्ष व्यर्थ के अर्थ में "सूना" कहलाता हो तो भी मुझे उसके फल की तो क्या, पुष्प के किसी एक भी फकड़ी की अभिलाषा से नहीं, किन्तु उसकी केवल सहजसिद्ध शीतल छाया ही एक प्रकार के अवचनीय चित्त-शान्ति का सुखप्रदान करती है. यदि यही वृक्ष सम्भवतः श्री प्रभुकृपा-लीला-विनोद-प्रभावपर से क्या अचरज है, कि पुष्प-फल-भार से खूब लद जाय. वाचक चाह से पढ़ने लगें- मुमुक्षु अनुभव की ओर मुड़ जाय, तो भी उन उभयात्मक देन के अधिकारी मेरे परम प्रेमी वाचकवर्ग हैं। उन्ही को वह सब सम्पत्ति प्राप्त हो जाय और मेरा भाव-भोला सन्तोष केवल छाया ही से परिबद्ध रह जाय-चाहे वह सीमित ही रहे, चाहे इतना बढ़ता जाय कि ब्रह्माण्डावर्त अम्बर में भी न समा सके-मेरी आध्यात्मिक साहित्य-सेवा, कुछ झिलमिलाती चिनगारियाँ जलती-धधकती हुई ज्वालाएँ बनकर वहाँ फैलें

और चाहे कोई समझ बैठें कि, तिमिरनाश-कार्य में लग जाएँ, पर मैं अपने प्राप्त और पर्याप्त घनच्छाया-स्थान में ही तृप्त रहूँ। क्यों कि मैं जानता हूँ और खूब स्मरण रखा हूँ कि, वेदान्तपर साहित्यसेवा अनेकों ग्रन्थों द्वारा उन्नत और विशालकाय हिमालयपर्वतावली-सदृश भी यदि की जाय तो भी वाक् पथातीत वस्तु का यथार्थ वर्णन और अरूप, अज, अव्यय का चित्रण कहो कि लेखन कहो, क्या कभी बन पायगा? शब्दान्वित वर्णन रहे अथवा शब्दातीत मूक ध्यान, वह दोनों मानो कि विस्फुलिङ्ग सदृश जड़ और सजीव ऐसे दो पदार्थ हैं। कार्य न करते नाश हो जानेवाले विस्फुलिङ्ग "जड़" कहलाएँ और मरणपूर्व कुछ ठोस स्मृति-चिन्ह रख छोड़ने की अभिलाषा से यथाशक्ति कार्य करते हुए अपनी जीवनी बिताने और जगज्जनजनार्दन की अखण्ड सेवा की अभिलाषा से साहित्य कार्य-छोड़ जानेवाले "जीव" कहलाएँगे।

संसारभर में कोई भी कार्य इन्द्रियसंघात-देह की ओर से ही बन पड़ता है। देह यानी मानो कि "इलेक्ट्रिक करन्ट" है और अध्यात्म मानो कि "रेडियो सेट" कहो अथवा नभोवाणी-केन्द्र! जो 'येन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति" का प्रत्यक्ष प्रतीतिप्रदायक है। यही सत्य का शाश्वत, सनातन और सुन्दर साहित्य है!! इस सत्य से तो कोई मुख मोड़ नहीं सकता!!! चाहे कर्म-मार्ग हो कि, उपासना, भक्ति अथवा ज्ञानयोग- ब्रम्ह तत्त्व को कर्मी सद्रूप से देखता है तो ज्ञानी चिद्रूप से और उपासक अथवा भक्त आनन्दरूप-भाव रखता है। ज्ञान की सबसे ऊँची अवस्था को जिसमें चित्त "निमेषार्धं न तिष्ठंति वृत्तिं ब्रम्हमयीं विना। यथा तिष्ठंति ब्रह्माद्याः संनकाद्याः शुकादयः ॥१३४॥ (अपरोक्षानुभूति) की भाँति सर्वथा तत्त्वाकार स्वस्वरूपस्थित हो जाता है "सहजावस्था" कहते हैं। सहजस्थिति ही शाश्वतस्वरूप से संयोग करा तो देती है! पर "कही नहीं जा सकती" की सार्वत्रिक पुकारपर भी समाधान का उत्तर अद्वय अद्वैत-ग्रन्थ में जो दे रखा है सुभीता के कारण यदि एक ही शब्द के बलपर ब्रम्ह-

विचार और स्वस्वरूपानुभूति-सिद्धान्त किया और कहा जाय तो वह "विदिता-विदितविलक्षण" इस शब्द से पूर्ण होता हैं। इसी प्रकार उसका स्वाभाविक निष्प्रपञ्चत्व अकथनीय होते हुए भी वह "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते" ॥१८,४०॥, (श्रीविद्यारण्यमुनिकृत अनुभूतिप्रकाश अध्याय१,२ (पृ.७६) इस श्लोकार्धपर से स्पष्ट हुआ कि, निष्प्रपञ्चत्व अध्यारोप और अपवाद की योगसे ही वाग्व्यवहार के योग्य किया जाता है। यह महामहिम अद्वैत-वेदान्तशास्त्र-ग्रन्थों का महदुपकार ऐसा अमूल्य है कि उसका उऋण कोई हो ही नहीं सकता। देह-रोग दूर करके पूर्वस्वास्थ्य प्राप्त करा देनेवाली दवाई की भाँति स्वस्वरूपसंयोग-प्राप्तितक का वेदान्तशास्त्र में यह एक रामवाण उपाय सूचित कर रक्खा है कि:- "आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया" (जबतक सो या मर न जाय तबतक ब्रह्मचिन्तन में रहे) जो यह कर पाता है वही विषाद-सिन्धु सहज ही पार कर जाता है। और "सुखं मे भूयात्, दुःख में मा भूत" की उसे विवञ्चना नहीं रहती। वास्तव में देखा जाय तो जो "स्व" में "स्थित" नहीं वही सदाका "अस्वस्थ" है! स्वरूपच्युति ही दुःख का मुख्य कारण है!! द्वैतबुद्धि में ही भय है!! एकत्व में भय कहाँ और क्योंकर? जहाँ भय और विनाश की चटान हो वहींसे दुःख का झरना उत्पन्न होता है!!!

आज संसारभर सभी एक-दूसरे के भय से काँप रहे हैं, झगड़ा-रगड़ा, ताड़ना-प्रताड़ना, कलह, द्वेष युद्ध, संग्राम बढ़ते जाने पर चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है! मनुष्यको-वज्रमूर्ख को तक-दुःख तो तनिक भी नहीं सुहाता!!! फिर यह स्वरूपच्युति क्यों? समस्या कुछ उतनी घनिष्ट और कठिन तो नहीं दिखायी देती! कारण, तत्त्वतः "आदावेव हि यन्नास्ति वर्तमानेपि तत्तथा। भातं वा भातमेवा तो मृगतृष्णांबुवज्जगत् ॥१०॥ (योग-वासिष्ठ, तृतीय प्रकरणम् ॥ त्रयोविंशःसर्गः) दृश्य जगत् मृगजलवत् केवल मृषा भास है! एक दृष्टि से यह "अजातवाद" भी बाह्यवृत्ति को अन्तर्मुखा बनाने वाला एक प्रकार का उपाय हो सकता है। यदि कहा जाय कि "कुछ है" तो भी

विना सिर-पैर का भूत! अथवा बिन पेंदी का छोटा लोटा!! चाहे इसीको कोई "शोक-सागर" कह दे! पर है न हुआ ही हौआ!!! वस्तुतः दृश्यादृश्य सब-कुछ दिक्कालाद्यनवच्छिन्न, अखण्डदण्डायमान, केवल आनन्दमय ब्रह्म ही ब्रह्म भरा हुआ है! पर विषयविलासी संसारी जीव नें अपनी मनभाती बाहरी, विनाशी और क्षणिक विषयसुखों की चाट चित्त को अनेक जन्मों से लगातार लगा रखी है जिस कारण वह भ्रमवश विषय-चक्र में वृथा चकराता रहता हैं!

यहाँ विषय-प्रवृत्ति की कारणमीमांसा अथवा एक रहस्यपूर्ण मर्म की बात कह रखनी आवश्यकीय जान पड़ती है कि, तीर की तरह अन्तःकरण-धनुष से निकसी हुई वृत्ति नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा विषयों तक दौड़ती तो है, पर भाला-बर्छा की नाईं उसके सिरेपर चिदाभास की तीखीदार अनी लगी रहती हैं। अर्थात् जड़ विषय-भान के लिए चिदाभास और वृत्ति की आवश्यकता रहती हैं और चिद्रूप ब्रह्म जो स्वयंस्फुरण, स्वयंप्रकाश रहने के कारण चेतन और ज्ञान है विना साधन के भासमान होता है और पूर्वानुभूत विषय-सुख-स्मृति जागनेपर स्फुरणपूर्व अन्तर्मुख बनी वृत्ति पहिले क्षणार्ध आत्मानन्दानुभव करके अनन्तर बाह्य विषय प्राप्ति के हेतु शरीर की ओरसे यत्न कराती है। तो भी सर्प और सपेरे के उदाहरणपर से 'क्षणिकत्वाल्लेशतास्य पूर्णस्याप्युपचर्यते। विषयानन्दता भ्रान्त्या ब्रह्मानन्दो हि वस्तुतः ॥२७॥ (तैत्तिरीयोपनिषद्व्याख्यान-रूप अनुभूतिप्रकाश, अध्याय २). (आनन्द-निर्बाध तृप्ति- परिपूर्ण को गौणवृत्ति से लेशत्व और भ्रान्ति से विषयानन्दता प्राप्त हुई, वस्तुतः वह ब्रह्मानन्द ही है) यह श्लोक निश्चय पूर्वक अभय दिलाता है कि, तत्त्वपरिज्ञात, वेदान्तरहस्यज्ञ ऐसे ज्ञानी को, मर्मज्ञ को वह कोई हानि नहीं पहुँचा सकती।

यूँ तो सत्य-सद्धर्म की अपेक्षा युगधर्म-प्रभावपर से आजकल भ्रमवश झूट ही अधिक फलीभूत होता है, अथवा मानो कि, जागतिक विविधता के साथ विपरीत संयोग-वियोगवश जीवन में विपरीतता के साथ विचित्रताएँ फूट निकलती हैं। मन की मारने निजीरूप से गिराया-जो योगियोंको तक धोखा

देकर पछाड़ डालता है, साधारणों की बात तो क्या कही जाय ! मन की चञ्चलता का क्या पूँछना !! देखनेवाले के दृष्टि को वह बन्दर की भाँति सदाकदा एक डारसे दूसरी डार पर उछलता, कूदता-फाँदता ही दिखाई देगा। सच पूँछो तो सप्तपुरी और चाहो तो चारों धाम की यात्रा चार ही मिनिटों में चल आय, पाँच पल में भी पृथ्वी परिक्रमा परिपूर्ण कर दिखलाय। ऐसे मन को साथ लिए जीवन-यात्रा स्थिर और शान्ति के साथ कैसी बन पड़े ! यह चुलबुला, मोहन मन तो इन्द्रियों को स्वाधीन कर अपनी ही चाल पर इतनी दृढ़ता से डटा रहता है कि किसीके हटाये यह हठीला, नटखट हटता ही नहीं !! सदाकदा कुछ न कुछ खलबली मचाता रहता है !!! यहाँ उस असीम संसारासक्त, आलसी अथवा कायर की बात ही क्या कि जो पगपगपर आगे बढ़ने के लिए हानि न होने की गॅरेंटी चाहता हो ! जीवन की विषमता के कठिनाइयों को लाँघने और आयुष्य का कण्टकाकीर्ण मार्ग अनायास काटने के लिए प्रभु अपना करावलम्ब देकर यदि एक बारगी शोकसागर से हँसते-खेलते पार लगा दे तो ही निबाह लगे !!!

"यह मेरा स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं—इस प्रकार की सेवा जो महाराष्ट्र भाषा में "विचारवैभव" नामक वेदान्त-ग्रन्थद्वारा श्रीप्रभुवर्य नें ई. स. १९३८ में इस मूक, पंगु और निहत्ते के हाथों अल्प-स्वल्प सार्थक कराई है वह वेदान्तप्रेमिक महाराष्ट्रीय बन्धुओं की सेवा में निमग्न भी है—किन्तु मेरे श्रीमत्परब्रह्म सनातन-सद्गुरु, देवत्रय, जनकजननीद्वय-रूप श्रीमन्मार्तण्डमाणिकप्रभुवर्य-विरचित "ज्ञानमार्तण्ड" ग्रन्थराज का हिन्दि अनुवाद है। उन्ही की आज्ञा और कृपा-प्रभाव के बल पर जनतारूपी जनार्दन की सेवा में कथा-लेख, निबन्ध, व्याख्यान और लगातार १६ वर्ष प्रस्थानत्रयी पर नित्य-प्रवचन द्वारा मनसोक्त, विस्तरशः आध्यात्मिक सेवा का लाभ जो यह भक्तकार्यकल्पद्रुम-छायाश्रित सद्गुरुदासानुदास निरन्तर उठा रहा है अपने को बड़ा ही बड़भागी समझता

है। इसका एक और भी कारण हृद्गताविष्करण के स्वरूप में प्रेमी हिन्दी वाचक-भाइयों को कह रखना आवश्यक समझता है कि, श्रीप्रभु-कृपया विविध प्रकार की विस्तारशः वेदान्त-सेवा लाभ नित्य प्राप्त रहने पर भी और विशेषतः आजकल की मुद्रण-सामग्री की तीव्रतर प्रतिकूलता के प्रखरतम माध्यान्ह-समय में तक अत्रम-सेवानुरत-वृत्ति गागर में सागर की नाई सूत्ररूप इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करनेकी ओर अग्रसर हुई। हेतु इतना ही है कि, शास्त्रीय पद्धति से, घटे हुए पूर्व-उत्तर- पक्षादि प्रकार स्वीकार कर आध्यात्मिक तत्त्व-विचार प्रकट किए हुए जो अनेकों मूल्यवान् ग्रन्थ भरे पड़े हैं उनका सशास्त्र अभ्यास-श्रम आजकल के लघुकथादि पद्धति-काल में जहाँ आवश्यकीय वृतपत्र-पठण में भी केवल शीर्षक-वाचन को ही पर्याप्त समझने वाले कतिपय विपुल-कार्यमग्न वाचकों की प्रवृत्ति दीख पड़ती है वहाँ उनकी मनस्वस्थता और वाचन-सुभीता के कारण केवल सूत्रमय लेख का अवलम्बन किया जाय तो भी वह उत्पीडक और उलटा प्रतिरोधरूप होनेकी सम्भावना ही अधिक प्रतीत होगी। अध्ययन, अनुशीलनादि श्रम उठाने वालों की अत्यल्प संख्या तो स्पष्ट ही है! इधर अविद्या की चढती-उतरती श्रेणियाँ भी स्पष्ट दिखायी देती हैं और इतिहास भी पुकार पुकार कर इसकी पर्याप्त साक्षी दे रहा है!! तब तो आध्यात्मिक पहेलियाँ, उसकी गुत्थियाँ और समस्याएँ जैसी की वैसी विना-सुलझी पड़ी की पड़ि रहेंगी और वार-वार मुमुक्षु के मार्ग में कण्टक, कन्कर, रोड़ों की रूप में आड़ी आती रहेंगी। ऐसी अवस्था में उपनिषदों तथा संत-महंतों की वानियों में ही ढूँढ-खोज करनी होगी। यह विचार कर राह जोह रहा था कि पूर्वकथित कल्पद्रुम की घनच्छाया में वार वार यही एक बात परिस्फुरित होती रही कि श्री "ज्ञानमार्तण्ड" का हिन्दी-अनुवाद किया जाय। अतः यह ग्रन्थ जो मार्तण्ड-प्रकाश के कृपाकटाक्षकिरणों से प्रकाशित-हो रहा है इस हेतु इसका नाम "सुधांशु" (चन्द्रमा) रखा गया है। इस कार्य में आरम्भ से लेकर परि-पूर्ति तक अनेक प्रातिकूल और तीव्रतम कठिनाइयों से सामना रहा, फिर भी

मेरे गुरु-मैया की वात्सल्य-नैया नें अपने अनजान अर्भक को सागरपार लगाया। उस अहेतुक, अथाह वात्सल्यता की याद से अन्तःकरण अत्यन्त गद्गद हो जाता है, शरीर में रोमाञ्च हो आता है! और हृदय पसीज उठता है!! अतः मेरे माता-पिता, ईश्वर परब्रह्म सद्गुरुराज के उभय चरणकमलों में उत्कण्ठावश बरबस मूँदे नयनों से गिरते आँसुओं के साथ सदाके लिए सिर को नवाय रखना ही पर्याप्त समझकर इस अल्प निवेदन के आरम्भ में दिया हुआ निवेदन-निचोड़ रूपः—

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद्गुरोरेव मे न हि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्न हि॥

इस श्लोक की फिरसे यहाँ स्मृति दिला कर विराम की अनुज्ञा चाहता हूँ।

श्रीमत्परब्रह्म गुरुं स्मरामि
श्रीमत्परब्रह्म गुरुं वदामि।
श्रीमत्परब्रह्म गुरुं भजामि
श्रीमत्परब्रह्म गुरुं नमामि॥५॥ (श्री गुरुगीता)

श्रीप्रभुदरबार
शाह–अली–बंडा,
हैदर–आबाद दक्खिन
मि. बलि प्रतिपदा शके १८६६

भवदीय विनयावनत
–यशवन्त सदाशिव कोरेकल

ॐ

सुधांशु की कान्ति में

पण्डितश्रेष्ठ यशवन्तरावजी कोरेकल की इस अमर वाङ्मयकृतिके ओर जिज्ञासु और मुमुक्षुवाचकोंका चित्त आकृष्ट करने में मुझे घनिष्ठ आनन्द हो रहा है. सुधांशु, पूर्णबिम्बचन्द्रमाको मेरे हस्तस्थित टिम-टिमानेवाले शब्द-प्रदीपसे प्रकाशित करना यह तो मेरा धार्ष्ट्यही नहीं किन्तु केवल मौर्ख्य है. यशवन्तरावजी ललितकलाओंके जगत् और साहित्यसंसारमें एक सुप्रसिद्ध महापुरुष है. हैदर आबाद संस्थानमेंही नहीं किन्तु सकल भारतवर्षमें कला-भ्यासियों और वाङ्मयोपासकोंको इनका सुष्ठुतया परिचय है. जाग्रत तो उसको करना चाहिये जो निद्रित हो! परिचय भी उसीका हो सकता है जो अपरिचित हो!! सूक्ष्मलेखन-रेखन कर्तरीकर्तन,' संगीत आदि ललित-कलाओं में पण्डित महोदयसे जो और जैसे कुछ पराक्रम प्रकट हुए हैं और उन्हें जो पारितोषकें और प्रशास्तिपत्र प्राप्त हुए हैं भला वह सुविद्य जनताके मनसे कैसे भूले जा सकते हैं!!! पूज्य "नुसरत" जी का कलाम ("सोजो साज") जो उनके व्यापक बौद्धिक सामर्थ्यका जीता प्रतिविम्ब है, (यानी अच्छे अच्छे विद्वानोंसे जिस कलामनें अपना लोहा मनवा लिया) क्या यह बात इस्लामी संस्कृतिके प्रेमियोंसे छुपा है? काव्यकौस्तुभ, वृत्तसम्राट्, काव्यमार्तण्डजीकी महाराष्ट्र-काव्यचातुरी जो अनेक महाराष्ट्रीय ग्रन्थों के रूपमें चिरंजीव बनी हैं वह राष्ट्रीय ज्ञान-धनके कोशागारमें महत्त्व-पद प्राप्त कर चुकी हैं. उनके गद्यग्रन्थ महाराष्ट्रभाषाके अलंकार हैं. उनका जीवन बाह्यतः एक व्यावहारिक पुरुषके

जैसा है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि यह देखेविना नहीं रह सकती कि यशवन्तरावजी, एक ब्रह्मनिष्ठ पुरुष ह. सांसारिक पातोत्पातोंमें अचलचित्त रहना, सतत परोपकारिता, नित्य तत्त्वचिन्तन शरीरसे सदैव उद्योगरत रहना यह महान् त्यागी और योगीके लक्षण हैं. रहस्यज्ञ यशवन्तरावजीमें यह सब प्रतिक्षण दृश्यमान हैं. उपासनाके मार्गोंका विवरण करनेवाले ग्रन्थोंमें वतलाया जाता है कि पुरुषको विषयोंके मोहसे बचना सुलभ है, इन्द्रियदमन करना शक्य है औरभी अन्य विविध देहदण्डोंको सहन करनाभी शक्य हैं परन्तु अहंकार छोड़ना अत्यंत कठिन है. इस अहंकारके विवश वडे बड़े योगीभी भ्रष्ट हो जाते हैं· अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियोंद्वारा चमत्कार अनुभव लेते हैं और व्यावहारिक जनतापर अपना श्रेष्ठत्व जतलाते हैं. आजके शास्त्रीय युगमें यह अहंकार कीर्तिलालसा के स्वरूपमें अभिव्यक्त होता हैं. वालुका-कण समान कार्य करनेवालाभी दिगंत कीर्ति चाहता है तब पर्वतप्राय वाङ्मयीन-कार्य करनेवालोंको कीर्तिप्रसिद्धिकी कितनी अमर्याद कामना होनी चाहिये? पर पण्डितजी की नियन्त्रित चित्तवृत्तियाँ इस विलोभनीय वस्तूकी ओर एक मृत्तिकालोष्ट के समान धिक दृष्टीसे देखती हैं. मुमुक्षुओंका बड़ा भाग्य है कि ऐसे अनुभवी विचारी, दान्ताचित्त-पुरुषनें राष्ट्रभाषा हिन्दी में वेदान्तविषयपर "सुधांशु" जैसा ग्रन्थ लिखा हैं.

यह मेरा अधिकार नहीं कि वेदान्त-विषयके सम्बन्ध में मैं कुछ लिखूं· मुख्य ग्रन्थ में इस विचार-शैलके उन्नत शिखपर पहुँचनेके अनेक सुलभ मार्ग और युक्तियाँ वतलाई गयी हैं. तर्क और अनुमान-शक्ति सुतीक्ष्ण होनेपर ही यह विषय समझमें आता हैं, किन्तु इसी शास्त्रमें तर्कके अनेक मौलिक नियमोंका उल्लंघन और खण्डन करना पड़ता है. माया जो सबसे बड़ी जटिल हैं उसका लक्षण नियमों से कुछ विरुद्धभी है. वस्तु या तो होगी या नहीं होगी. माया तो सदसत्परा है अर्थात् है कहो तो नहीं और नहीं कहो तो है. क्या

ब्रह्मज्ञान किसीको हुआ है? इस छोटीसी बातका पता लगाना चाहे तो सिद्धान्त यह है कि "अविज्ञातं विजानता विज्ञातंच अविजानता" (नहीं जाननेवालेनें जाना है और जाननेवालेनें जाना नहीं) बड़े प्रयत्नसे ग्रन्थिभेद करना पड़ता है. ग्रन्थी = आत्मा और माया, अज्ञान या अविद्याका सम्बन्ध तोड़ना चाहिये. और ग्रन्थिभेद होतेही बतलाया जाता है कि ग्रन्थि तो मूलतः थी ही नहीं! ब्रह्मप्राप्तिकेलिये कैसीही उपासना की जाय उसके साथ साथ "नेदं यदिदमुपासते" यह सूत्र लगा हुआ है. महाराष्ट्रभाषाशिरोमणि श्रीज्ञानदेव-महाराजजीनें यहाँतक कह दिया है कि "कांहीं न कारिजे ते तुझी सेवा। कांहीं नव्हेसी तें तूं देवा। नेणिजे तें तुझें रूप। जाणिजे तितुकें पाप गा देवा॥ स्तुति ते तुझी निंदा। स्तुतिजोगा नव्हेसी गोविन्दा! (कुछभी नहीं करना यहही तेरी सेवा है और जो कुछ नहीं वह तू है. जो ज्ञानकक्षामें आताहि नहीं वह तेरा स्वरूप और जो जो बुद्धिके आकलनमें आता है वह सब पाप है, यदि स्तुति की जाय तो वह निन्दासमान है, तू स्तुतिके योग्यही नहीं.) ऐसे गहन, सूक्ष्म और कठिन विषयको समझना, समझाना साधारण बात (बच्चोंका खेल) नहीं.

यूँ तो यह कहना बड़ा सुलभ है कि वेदान्त केवल शब्दावडम्बर और शब्दजंजाल है. सच तो यह है कि वह स्वयं नहीं जानते कि हम क्या कह रहे हैं. "अयं घटः, अयं पटः" करनेवाले, रज्जु-सर्प अथवा शुक्ति और रजत के दृष्टान्तोंकी चर्चामें समय गवाँनेवाले कालक्षय और जीवितापव्यय करते हैं ऐसे माननेवालेही आज संसारमें बहुत हुए और हैं. सम्भव है कि सौ वेदान्त-प्रेमियोंमेंसे ९९.९ वेदान्ती मूरखतासे शब्द-जालमें फँसे हों, किन्तु इस शास्त्रको हीन समझना ऐसा साहस है कि उसकी तुलना और किसी मौर्ख्यंसे हो नहीं सकती! कणाद, पतंजलि, गौतम, व्यास, श्री शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य जैसे ज्ञानसूर्योंको खद्योत कह देना यह तो मनुष्यत्वकाही लक्षण नहीं. जिनके प्रखर तर्क और तीक्ष्ण ज्ञान-शक्तिकी झलक देखकेही दृष्टि स्तिमित हो

जाती है उनको कःपदार्थ समझना यह ऐसा दुर्भाग्य है, कि हमको शब्द नहीं मिलते! वेदान्त-शास्त्रमेंही बतलाया गया है कि जिसका संचित अधिकाधिक शुद्ध है उसकोही इस विषयमें अधिकाधिक प्रवेश है, वरन् सबही तो शब्दही हैं. संसारमें संकट, आपत्ति, दुःख, दुरवस्था यह क्या है? क्यों पैदा होते हैं —पहिले तो इनका समझनाही अत्यंत कठिन है यदि समझमें आजाय तब कहीं उनके हटानेका प्रयत्न शक्य हैं. अज्ञान है दुःखका कारण! और ज्ञान है आनन्दका साधन!! यह तो अन्तरंगकी बातें हैं!!! ज्ञानी और अज्ञानीको कोई नहीं जान सकता उसका आनन्द और समाधान वह ही जाने.

आंग्ल- विद्याविभूषित नये प्रकाशवालोंसे मेरी यह प्रार्थना है कि, वह इस विषयको उपेक्षणीय न समझें, जिसका अभ्यास दुष्कर और उसके विषयमें प्रेम न हो तो परवा नहीं, यदि कभी प्रेम उत्पन्न हो जाय तो कुछ प्रयत्न करें, नहीं तो उसको दूरही रहने दें; परन्तु इस श्रेष्ठ ज्ञानधनको अवमानित कर कुत्सिततासे तुच्छ न करें. यह बात तो और है कि वेदान्ती और साधक तो इस ओर ध्यानभी न देंगे! हालाहलभी प्राशन करना पड़ा तो वह अपना निश्चय छोड़ते नहीं. विचार-सृष्टि का तेजस्वी गोल सॉक्रेटिस एक सुप्रसिद्ध महापुरुष था. वह अपने आध्यात्मिक धुन का ऐसा पक्का था कि अपनी विचार-प्रणालीको छोड़नेके स्थानमें उसने विषप्राशनही योग्य समझा!!! पण्डित महोदय यशवन्तरावजीको हम जितनेभी धन्यवाद दें वह कम हैं . यदि हम अपने कल्याणके लिए परमात्मासे प्रार्थना करें कि, भगवन्! ऐसे महापुरुषको जितना दीर्घायु बना सके बनाइये, सब प्राकृत जनतापर बड़ी कृपा होगी. न जाने पण्डित महोदय इस प्रार्थनाको क्या समझेंगे! उनके अन्तरंगका प्रकाश, समाधान और गांभीर्य तो घनिष्ठही होता रहेगा. वह तो अब सेवानिवृत्तभी हो चुके हैं. और २४ घंटेका समय पूरा परोपकारिता और आत्मानंदके अमृतमें कूटस्थको स्नान डालते हुये मगन रहेंगे. जिस अधिकारीको जो मिलना है वह

अवश्य मिलेगाही!! हमको उससे मात्सर्य क्यों? "सुधांशु" के ज्योत्स्नामें हम हमारी बिगड़ी सुधारेंगे और भ्रष्ट-मार्ग हुवे हैं सो सरल पन्थपर आयेंगे. इति शम्–

रघुनाथ मुरलीधर जोशी.

॥ श्रीगुरु मार्तण्डमाणिक ॥

प्रकाशक का निवेदन

प्रिय पाठक! इसके पहिले यूँ तो कई बार श्री यशवन्तरावजी कोरेकल के विविध ग्रन्थ-प्रकाशन के अवसरपर मैंने आपसे सहर्ष बात-चीत तो की है तथापि आजका आनन्द-प्रसंग कुछ और विशेषता लिए प्राप्त हुआ है. काव्य-कौस्तुभ श्री यशवन्तरावजीने अवतक विपुल और विविध वाङ्मय-निर्मितिद्वारा जो भव्य साहित्य-मन्दिर खड़ा किया है मानो कि उसपर आज परम मनोहर "सुधांशु" का शिखर वे चढ़ा रहे हैं. किसी भी देवालय का शिखर यह अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण और उसका परमोच्च भाग हुआ करता है. सर्व-साधारण क्रम देखा जाय तो प्रथमतः शिखर-दर्शन, उसके अनन्तर मन्दिर-प्रवेश और अन्तिम में देवता-साक्षात्कार! तब तो यह आवश्यकीय हुआ कि देवालय की ओर मनके साथ पग को भी आकृष्ट कर देवता-साक्षात्कार करा देनेवाला यह मन्दिर-भाग अत्यन्त ही आकर्षक हो. भला "सुधांशु" के सौन्दर्य से कौन नहीं आकर्षित होता! उसके आल्हादकारी दर्शन से हर कोई आनन्दमय हो ही जाता है!! यदि हो भी ऐसा कोई अभागी (जो सुधांशु-दर्शन से उल्लसित न होता हो) तो वैसे दुर्दैवी मानव के मनोविकृतिपर दया करनेके सिवा हम आप भी तो अधिक क्या कर सकेंगे!!! वस्तुतः "सुधांशु" जो बहुत पहले लिखा-लिखाया सिद्ध था, पर सबके अनन्तर इसको प्रसिद्ध करनेमें जो उचित भाव सकलकलाकोविद श्री यशवन्तरावजी प्रकट कर रहे हैं कौन नहीं कहेगा कि वह अत्यन्त कुतूहल-जनक है?

इसमें कोई शंका नहीं कि हमारा हैदराबाद आजकल सब ओर से बहुत कुछ उन्नत हो रहा है और वह दिनेदिन तीव्र-गतिसे सुधारणा-पथ का आक्रमण कर रहा है. यदि संस्कृतिसंवर्धन का महत्तम कार्य कहा जाय तो वह हमारे उस्मानिया विश्वविद्यालय की ओर अंगुलि-निदर्शन है. और वस्तुतः भी उसकी वह चौड़ी चकली, भव्य राजभुवन जैसी विशाल (इमारत) देखनेके बाद कोई भी आश्चर्य-स्तंभित हुए विना नहीं रह सकता, परन्तु मेरे प्रिय पाठक! ऐसे कतिपय होंगे जिनको इस अचरजभरी बात की कल्पना होगी कि इसी हैदराबाद-शहर में संस्कृतिसंवर्धन-कार्य करनेवाला वेदान्त-विषयक एक और भी विश्वविद्यालय है! इसकी कल्पना होगी भी तो कुछ ही थोड़े गिनती के, सूक्ष्मदृष्टिवाले महाभागोंकोही हो सकती है! जिस प्रकार कि यदि प्रखर किरणोंमें कोई सूर्य-दर्शन करना चाहे तो वह दूरबीन की सहायताविना किसीसे बन नहीं पड़ेगा. तद्वत् तैजस विचार का आकलन करना हो तो उसके लिए रसिकता के सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता रहती है. गद्य और पद्य, ललित तथा तात्त्विक लेखन महाराष्ट्रीय, हिन्दी और उर्दू (हिन्दुस्तानी) इस प्रकारके विविध अंगोपांगसे भरी, सुशोभित और वैचारिक सौंदर्यसे जगमगाती हुई काव्यमार्तण्ड श्री यशवन्तरावजी के वाङ्मयनिर्मिति को यदि विश्वविद्यालय की उपमा दी जाय तो यद्यपि प्रथमतः वह एक अतिशयोक्तिसी भासमान होगी, परन्तु विचार करनेके अनन्तर अवास्तव तो तनिक भी नहीं जान पड़ेगी!

व्यावहारिक–फल, प्रसिद्धि की पुकार आदि सम्बन्ध की चिन्ता छोड़-छाड़ सम्पूर्णतया अन्तर्मुख वृत्तिसे सतत कार्यमग्न रहनेवाले रहस्यज्ञ श्री यशवन्तरावजी के जीवन सम्बन्ध में मैं अबतक अनेक बार लिख चुका हूँ; परन्तु उस प्रत्येक समय में मुझे ऐसा ही जान पड़ा कि मैं कुछ भी नहीं लिख सका. यदि उनके विविध–गुणसमुच्चय का स्थूल भी दिग्दर्शन किया जाय तो स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना की आवश्यकता होगी. खाने-पीने, रहने-सहने, लिखने-पढ़ने, कला-कौशल्य, भजन पूजन, प्रवचन-कीर्तन वादन–गायन आदि किसी तपस्वी के समान

अनासक्त किन्तु सतत कार्यासक्त ऐसा उनका दिनक्रम देखनेवाले को अक्षरशः आद्वितीयत्वही दिखाई देगा. यदि कोई ऑडिटर उनसे दिनके चौवीस घण्टोंका हिसाब माँगे तो जरूर वे उसको अठ्ठाईस घण्टों का हिसाब दे रखनेपर कटि-बद्ध दिखायी देंगे. पाठक! अचरजमें पड़ इसे हँसीपर न छोड़ें और मेरे इस विधान को बालिशता भी न समझ बैठें. प्रत्यक्ष यदि देख लें तो मेरे इस अनोखी विधान के सत्यता की स्वयम् ही पर्याप्त परीक्षा कर लेंगे. अपने "अल्प-निवेदन" के प्रारम्भमें ही श्री यशवन्तरावजी अपनेको अभी "विद्यार्थी" कहते हैं. तो फिर विद्यार्थी-जीवन में चैन और आलस्य कहाँ! सदाकाही कार्य-तत्पर, आत्मशोधनपर मन बाहरी उपाधियोंकी क्या चिन्ता रखेगा! "अहे-तुकता की नीव पर बन्धन-भित्ति कहो, कि साधनसौध,– एड़ी-चोटी का जोर लगाकर चाहे पुरस्कार मिले या तिरस्कार उसका तनिक भी मनमें विचार न" लाने वाले "फलतः तत्त्व-दृष्टि से सब अफलता के बराबर" मानने वाले और साधक की सारी साहित्यनिष्पत्तिमें से निःसाधनता की अनिर्वचनीय अवस्था को आत्मसात् किए हुए इस "रहस्यज्ञ" के सम्बन्ध में कितनाभी लिखा जाय फिरभी बहुत कुछ उर्वरित रहताही है. तो फिर भला मैं क्यों व्यर्थ लेखन-परिश्रम उठाऊँ!

"ज्ञानमार्तण्ड" ग्रन्थ का यह हिन्दी भाषान्तर बहुत पहिले लिखा गया यह बात मैंने प्रारंभमेंही कह रखी है. जिस समय हम सब परम पूज्य सद्‌गुरुवर्य श्रीमार्तण्डमाणिक प्रभुमहाराज के भौतिक प्रत्यक्षता का लाभ उठा रहे थे उसी समय श्रीजी के आज्ञापरसे श्री. यशवन्तरावजीने यह भाषान्तर लिखा. भगवान् श्री आद्य शङ्कराचार्यजी के आज्ञासे उनके शिष्यवर सुरेश्वरा-चार्यने सूत्रभाष्यपर जो वार्तिकें बनाना स्वीकार किया था वह बात मुझे इस समय याद आती है. परन्तु यहाँ (पद्मपाद–रचित पञ्चपादिका का) कोई झगड़ा खड़ा न होते प्रभुकृपया ग्रन्थ–सिद्धि हुई. भाषान्तर, दृष्टिसे भी देखा जाय तो पृ. २९५ पर समर्थ-वचन की एक समश्लोकी जोः–

गर्वे गाणें गाउं नये ॥ गातां गातां गळों नये ॥
दम्भयुक्त होकर नहिं गाना। गाते गाते नहीं खिसकना ॥
गौप्य गुज गर्जो नये। गुण गावे ॥३॥
गोप्य गुह्य गर्जना न करना। गुण गाना (गाते रहना) ॥

यह है, देख सुप्रसिद्ध वामन-पण्डित रचितः-

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
मेलिया पावशी स्वर्ग
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
जिंकिल्या भोगशी मही

इस आद्वितीय समश्लोकी का स्मरण हुएविना नहीं रहता. इस ग्रन्थकी ऐसी कतिपय विशेषताएँ अन्यान्य स्थानोंमें भी बतलाई जा सकती हैं. पर केवल विस्तार के भयसे लेखनी रोक ली गयी. अस्तु, यह भाषान्तर श्रीजी के अवलोकनमें आया और इसको सहर्ष सम्मतिनिदर्शक आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ. जबसे प्रस्थान-त्रयीपर नित्य-प्रवचनादि सतताभ्यास के सांचे में ढालकर और उसपर अनुभव की जिला चढ़ाकर सुशोभित बनाया हुआ यह शिखर आज साहित्य-मन्दिरपर चढ़ाया जाकर इस मन्दिरकी परिपूर्तता हो रही है.

प्रस्तुत "सुधांशु" ग्रन्थ मूल "ज्ञानमार्तण्ड" का केवल भाषान्तर ही नहीं किन्तु सानुभव अनुवाद भी है. मूल ग्रन्थ सूत्रमय पद्धतिसे लिखा जानेके कारण कुछ जगहपर पाठकों के सुभीता के कारण किञ्चित् विशदीकरण करना आवश्यकीय जान पड़नेपर कहीं कुछ शब्द, वाक्य बढ़ाये गये! नहीं तो बहुतसे भाषान्तर के सम्बन्धमें "हे प्रभो! मेरा इस भाषान्तर-पठणसे रक्षण करो" इस प्रकारकी प्रार्थना करनेका कहीं कहीं जो प्रसंग प्राप्त होता है वह यहाँ भी आन खड़ा होता. अब (अनुवाद कहो कि भाषान्तर) महाराष्ट्र-भाषा नहीं जाननेवाले असंख्य हिन्दी बान्धवोंके तत्त्व-जिज्ञासाकी तीव्रता का निश्चय-पूर्वक

"ज्ञान-मार्तण्ड" के इस शीतल प्रतिविम्बरूपी "सुधांशु" से आशा है कि पर्याप्त उपशम प्राप्त होगा.

मैं यदि मूल ग्रन्थ "ज्ञानमार्तण्ड" के सम्बन्धमें कुछ लिखना चाहूँ तो कविकुलगुरु की "तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुमे नास्ति सागरम्" इस उक्तिका मुझे स्मरण हो आता है. सद्गुरुवर्य श्रीमन्मार्तण्ड-माणिक प्रभुमहाराज का वेदान्ता. धिकार कितना श्रेष्ठ और घनिष्ट था यह उनका स्वयम् ग्रन्थही ठीक ठीक कह सकेगा. प्रस्तुत ग्रन्थ उनके यच्चयावत् वेदान्त-ग्रन्थों के प्रदीर्घ अभ्यास का परिपक्व फल है. यदि ऐसा कहा जाय कि वेदान्तके सिद्धान्त अभ्यासके मूस में अच्छीतरह तपा-गलाकर और अनुभव के कसौटीपर सम्पूर्ण-तया शुद्ध स्वरूपमें उतरनेवाला यह पहिला ही ग्रन्थ है, तो आतिशयोक्ति तो नहीं किन्तु अल्पोक्तिही होगी. क्या यह अनुभवके सामर्थ्यविना कभी शक्यभी है कि आज-तक के शास्त्रीय प्रक्रिया-घटित ग्रन्थोंमें मुमुक्षुत्व के चहुँ ओर साधनचतुष्टय-सम्पन्नता की जो प्रचण्ड भित्तियाँ खड़ी की गयीं हैं उनको ग्रन्थके प्रारम्भमें ही लीलया ढाह दें !

" ज्ञान यानी आत्म-विद्या जिस किसी की इच्छा हो वह प्राप्त कर ले ऐसा हम प्रतिज्ञा पूर्वक कह देते हैं"...."अपना उद्धार हो जाय ऐसी जिसकी अपेक्षा हो वही अधिकारी है" (पृष्ठ ३). "यदि साधक कॉलेजमें भी आत्म-विद्या सम्पादन करके उसमें प्रवीण हो जाय तो भी उसने अपना हित साध लिया" (पृ. ४८).

साधन–चतुष्टय के काल्पनिक भूतसे भयग्रस्त और आत्मज्ञानसाध्य से पराङ्मुख होनेवाले साधकों को इस घोषणासे भला कितना आनन्द होगा ! प्रस्तावना--लेखनमें यहभी एक हेतु रहा करता है कि, ग्रन्थ की कुछ विशेष-ताएँ पाठकोंको दिखलाकर समग्र ग्रन्थ पठनकी जिज्ञासा उनमें निर्माण करें; परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ प्रारम्भसे अन्तिमतक विशेष ही विशेष होनेके कारण उसका

और भी विशेष क्या कहा जाय? इस सम्भ्रममें लेखनी को आगे न बढ़ाना स्वाभाविकीय हो जाता है मूल ग्रन्थके "इस ग्रन्थमें क्या विशेष है" इस प्रकरणमें श्रीजीने स्वयम् अभिलाषा से कुछ विशेष कह रखे हैं. और "सुधांशु" अनुवाद में तो पाठकों का चित्त आकर्षण करनेके हेतु महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ अधो-रेखित कर प्रस्तावना के लेखक का आधा-अधिक कार्यभाग श्री यशवन्तरावजी ने पहिले पहल ही कर रखा है. सनातन और अतिप्रसिद्ध विरोधी द्वंद्वोंका उलझाव सुलझाकर ऐसा कहना कि तत्त्वतः वे सब एकही हैं क्या विशेष नहीं है? यदि किसीको यह विशेषता दीख न पड़े तो कहना पड़ेगा कि उसकी बुद्धि कुछ वैसीही अनोखी विशेषता लिए जीवन बिताती होगी.—"हमारे सिद्धान्त में प्रारब्ध और प्रयत्न दोनों एकरूप हैं" (पृ. ४६) "अन्धेरा और उजियाला हमारे मत से यह दोनों एक ही पदार्थ हैं" (पृ. ४७). "हमारा यह निवेदन है कि ज्ञान और अज्ञान दोनों एक (पदार्थ) हैं, एक ही ज्ञान के वे रूपान्तर हैं....जगत् में सभी अज्ञानी हैं ऐसा जिनका अभिप्राय है उनको साधारणतः यदि यह बतलाया जाय कि सभी आत्मज्ञानी हैं, आत्मा का कभी लोप नहीं होता तो क्या यह विशेषता नहीं है? " पृ. ४८). यदि वेदान्त-शास्त्र का कोई पर्याप्त अभ्यासी, विद्वन्मान्य ऊँची सी ऊँची विद्वत्ता रखता हो तो भी आजकलके कतिपय सुशिक्षित (वस्तुतः अर्धशिक्षित ही वे!) "शुष्क शब्दज्ञानी" इस विशेषण के साथ उसकी हँसी उड़ानेमें जरा भी नहीं हिच-कते. और प्रश्न उठाते हैं कि "रूखे सूखे शब्दों में क्या रक्खा है? कुछ ठोस अनुभवभी तो हो" ऐसे कहनेवालों के लिए यदि "अनुभव यह आत्माका स्वभाव है" (पृ. २२६) यह प्रकाश उनके हृदयमें पड़ जाय तो मनका अन्धियारा निपटकर भला उनका कितना बड़ा भारी लाभ होगा। जगत् के सम्बन्ध में तिरस्कार और सर्वसाधारण व्यवहारमें निराशा निर्माण कर लोगोंको सुस्त और कायर बनानेवाला यह वेदान्त उत्पन्नही नहीं होता तो ठीक था इस तरह वितण्ड-वाद करनेवाले (कुएँ के मेंडक) यदि "सहजमुक्ति-प्रशंसा"

(पृ. ५४) "मृत्युविचार" (पृ. ७२) आदि प्रकरणोंका अभ्यास करेंगे तो अवश्यमेव उनका कल्पना-मालिन्य साफ़ धुलकर स्वच्छ हो जायगा. वेदान्त-सिद्धान्तोंमें "अजात-वाद" बहुत महत्त्वपूर्ण और उतनाही अनाकलनीय है. "जड़ाजड़-विभाग-विचार" नामक प्रकरणमें के "दृश्य उत्पन्न हुए विना नहीं रहता (पृ. २३२). "अनेक विषय रहनेके कारण ज्ञान भी अनेक सा भासता है"...."पूर्ण, स्वतन्त्र चेतनरूप मैं ही हूँ"...."मायिक व्यापार मुझसे ही उत्पन्न होकर भासता है और मुझमें ही लीन दोता है."(पृ. २३३). "अल्प प्रकाश के द्वारा ही व्यावहारिक पदार्थ दीख पड़ते हैं. अति प्रखर प्रकाश में केवल प्रकाश ही प्रकाश रहता है" (पृ. २३९) आदि पंक्तिओंसे वेदान्त-अभ्यासियोंके बहुतसे शंकाओंका निरास सहजतया होगा. प्रिय पाठक! "मुक्त पुरुषों का मायिक जन्म" नामक दुसरा प्रकरण सम्भवत: आपको ऐसा प्रतीत होगा मानो कि आप वायुयान (हवाई जहाज) में बैठे ऊँचे आकाशमें उड़े जा रहे हैं. पृथ्वीपर प्रचण्ड वेगसे वहनेवाले नदियाँ उस उंचाइंसे पानीके एक रेखा-समान दिखाई देंगे, विशाल और उत्तुंग पर्वत मिट्टीकी गोलियाँ दिखाई देंगे और बड़े बड़े प्रासाद, मन्दिरोंका दृश्य तो छोटे छोटे घरौंदे जैसा दीख पड़ेगा.

यह जीवन-यात्रा आज अनादि कालसे चली आ रही है. और असंख्य लोग यह मार्ग आक्रमण कर चले जा रहे हैं, इनमें जो महाभाग कुछ लोकोपयोगी कार्य कर जाते हैं और जो कोई अपने कुछ पग-चिन्ह भी यहाँ छोड़ जाते हैं उनकी स्मृति भी बहुत काल अथवा चिरकालतक भी रह जाती है. इतर सब का जीवन "आये और गये- इतनेमें ही सम्पूर्ण हो जाता है" यदि ऊँची सी ऊँची साहित्य-सेवा कही जाय तो वह यह है कि जिससे संसारभर सबका जीवन समृद्ध, विशाल और सर्वग्राही बन जाय" (ग्रन्थकारका "अल्प निवेदन," विच्छेद ३) इस ध्येयसे प्रेरित होनेके कारण श्री यशवन्तरावजी का लेखन सहेतुक और तत्त्व-शोधनपर हुआ है. यद्यपि इतना प्रचण्ड कार्य करनेके अनन्तरभी कार्य के प्रमाणसे उनकी प्रसिद्धि उतनी नहीं यह एक बड़ी

खेदकी बात है. उसके साथ यहभी बिलकुल सत्य है कि यदि प्रासिद्धि के पीछे
श्री यशवन्तरावजी दौड़ पड़ते तो उनके हाथों इतना प्रचण्ड कार्यभी नहीं बन
पड़ता. क्योंकि आज–कल किसी ग्रन्थ के लेखनमें लेखकको जितने श्रम
उठाने पड़ते हैं उसके दशाधिक श्रम उस ग्रन्थकी "विज्ञापना" (प्रसिद्धिकरणमें)
में उठानेकी आवश्यकता है. मानो कि यह एक उसका प्रमुख खुला गोप्य है!
कार्यको कीर्तिलाभ, मान–सन्मान आदिका साधन नहीं बनाते हुए कार्य यही
साध्य है इस ध्येयसे प्रेरित होकर जो सदा अविरत कार्य–मग्न रहता है उसकी
ओरसे केवल कार्य ही कार्य होता रहता है, तो फिर कार्यके प्रसिद्धिकी चेष्टा
क्यों और कैसी? श्री यशवन्तरावजी अपने श्रमका कौनसा फल पर्याप्त सम-
झते हैं यह उनके ही शब्दोंमें कहना ठीक होगा. वे कहते हैं कि:–

"यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से फल–विहीन वृक्ष व्यर्थ के अर्थमें "सूना"
कहलाता हो तो भी मुझे उसके–फल की तो क्या पुष्प के किसी एक भी
फकड़ो की अभिलाषा से नहीं, किन्तु उसकी केवल सहजसिद्ध शीतल छाया ही
एक प्रकार के अवचनीय चित्त–शान्ति का सुख प्रदान करती है. यदि यही वृक्ष
सम्भवतः श्री प्रभुकृपा–लीला–विनोद प्रभावपर से क्या अचरज है, कि पुष्प-
फल–भार से खूब लद जाय, वाचक चाह से पढ़ने लगें –मुमुक्षु अनुभव की
ओर मुड़ जाय, तो भी उन उभयात्मक देन के अधिकारी मेरे परम प्रेमी वाचक-
वर्ग हैं! उन्हीं को वह सब सम्पत्ति प्राप्त हो जाय और मेरा भाव–भोला सन्तोष
केवल छाया ही से परिबद्ध रह जाय–"

प्रिय वाचक! आप जो वेदान्ततत्त्वशोधनके हेतु निकसे हैं आपको मैं
यहाँ बहुत देर बातोंमें लगा रखना नहीं चाहता, किन्तु काव्यकौस्तुभ यशवन्त-
रावजी के ग्रन्थों का प्रकाशक इस नाते मेरा और आपका परिचय बहुत पुराना
है–और हम आप देखते हैं कि जब कभी कोई पूर्व–परिचित रास्तेमें मिल
जाता है तो बात–चीत में बहुतसा समय सहज ही बीत जाता है, वैसा ही

कुछ प्रकार आज यहाँ उपस्थित है, नहीं तो ज्ञानमार्तण्ड दर्शन के लिए मेरे इस छोटेसे दीपक की क्या आवश्यकता थी!

प्रस्तुत ग्रन्थ लेखनद्वारा शारदोपासनाके साथ साथ काव्यमार्तण्ड यशवन्तरावजीने परमोच्च गुरुसेवा भी साध ली है. सकलमत-सम्प्रदायके इस ग्रन्थराज का सब भाषाओं में भाषान्तर हो जाय और इस अनमोल तत्त्व-ज्ञानसे सब लोग कृतार्थ हो जायँ यह विद्यमान श्रीशङ्कर-माणिकप्रभु महाराज की इच्छा थी और अबभी है. हिन्दी तो आज कल राष्ट्र-भाषा बन रही है, किम्बहुना कहो कि बन ही गयी है। ऐसे महत्त्व-पूर्ण राष्ट्र-भाषामें भाषान्तर कर गुरु-सेवामें जो अग्रमान श्री यशवन्तरावजीने प्राप्त कर अपनी प्रकृष्ट योग्यता का परिचय दिया है उसका श्री महाराजको बहुत ही सन्तोष हुआ है-और साथही यहाँ वेदान्त के प्यासों की प्यास भी बुझाई गयी- क्या मुझे यह कहनेकी आवश्यकता है?

हिन्दी लेखन का मुझे अभ्यास न रहते हुए भी "ज्ञानमार्तण्ड" और इस "सुधांशु" पर जो मेरा गहरा प्रेम है उसके परिचय करानेके निमित्त यहाँ चार साधे-सूधे शब्द लिखने का यह धीरज जो मैंने किया है क्या वाचक! आपका उदार हृदय मेरे लेखन-दोष को क्षमा नहीं करेगा? अवश्य ही करेगा!

तो अब प्रिय वाचक! जय गुरु माणिक।

श्री संस्थान माणिक-नगर
श्री कृष्णाष्टमी शके १८६५
रविवार.

अप्पासाहेब देशपाण्डे.

श्रीगुरु अवधूत

॥ श्री सद्गुरु माणिकप्रभु प्रसन्न ॥

सुधांशु

(महाराष्ट्र-भाषाङ्कित "श्रीज्ञानमार्तण्ड" ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद)

पूर्वार्ध

॥ ॐ तत्सत् ॥

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम् ।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन् नायं तं वेद वेद स : ॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८, अध्याय १, श्लोक ९).

१ मङ्गलाचरण :-

ग्रन्थ के आरम्भ में जिस प्रकार मङ्गलरूप ईश्वर का स्तवन करने की प्रथा पुरातन काल से चलती आ रही है उसी प्रकार मध्य में और ग्रन्थ के अन्त में भी मङ्गलमय ईश-चिन्तन और स्तवन करने की मर्यादा अवश्यमेव रखनी चाहिए.

२ अनुबन्ध-चतुष्टय :-

ग्रन्थ के आरम्भ में (विशेषतः वेदान्त-ग्रन्थों में तो) अनुबन्धचतुष्टय कहना ही चाहिए. मानो कि "अनुबन्ध" यह ग्रन्थ का आधार-स्तम्भ है. अनुबन्ध में १) अधिकारी, २) सम्बन्ध, ३) विषय और ४) प्रयोजन ऐसे चार भाग रहा करते हैं.

अधिकारी :-

"अधिकारी कौन है?" इस प्रश्न का प्राचीन ग्रन्थकारों ने यह खुलासा किया है कि "इह-अमुत्र-फलभोगविराग" शम-दमादि षट्क, नित्यानित्यवस्तुविवेक और मुमुक्षुत्व यह लक्षणाएँ जिन पुरुषों में उपस्थित हैं वे ही "अधिकारी" कहलाते हैं, परन्तु हमारे विचार से इन लक्षणाओं को "इसी जन्म में प्राप्त कर लेना चाहिए" ऐसा कोई अवश्यम्भावी निर्बन्ध नहीं. कारण, जन्मान्तर के संस्कार से भी ज्ञानोत्पत्ति होती है, और जिसको ज्ञान प्राप्त हुआ है उस व्यक्ति में शम, दम, तितिक्षा इत्यादि रहना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं.

> योगिनो भोगिनो वापि त्यागिनो रागिणोऽपि च
> ज्ञानान्मोक्षो न संदेह इति वेदान्तडिण्डिमः ॥११॥

जगत में ऐसे कितने ही ज्ञानी दिखाई देते हैं जो विषयोपभोगी बालक, तरुण, वीर, तामसी इत्यादि विविध प्रवृत्ति वाले कहलाते हैं. श्रीगीता में वचन आया है कि :-

"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ३, श्लोकार्ध ३३).

उपर्युक्त प्रमाण से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानी वैराग्य-शील ही होना चाहिए ऐसा कोई निर्बन्ध नहीं. "ज्ञान" यानी आत्म-विद्या जिस किसी की इच्छा हो वह प्राप्त कर ले ऐसा हम प्रतिज्ञा पूर्वक कह देते हैं. जिसपर ईश्वर की कृपा हो गई, जो दक्ष है उसको तो यह विद्या जरूर और त्वरित सम्पादन कर लेनी चाहिए. अर्थात् "अपना उद्धार हो जाय" ऐसी जिसकी अपेक्षा हो वही अधिकारी है.

सम्बन्ध :—

प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-सम्बन्ध ग्रन्थ में नित्य है. प्राप्य-प्रापक का पाठकों से सम्बन्ध है. यहाँ गागर में सागर भरने की उक्ति यह सम्बन्ध-वर्णन हुआ.

विषय :—

जीवब्रह्मैक्यज्ञान यह वेदान्त का मुख्य विषय है. ब्रह्म की निवृत्ति बतलाने में ब्रह्म ही अन्य दृष्टि से जगद्रूप दीख पड़ता है. और जिस माया के प्रभाव से यह सब कुछ दृश्य दिखाई देता है वह अनादि है" यह कहने का कारण यही है कि माया और ब्रह्म मूलतः पृथक् नहीं हैं. अर्थात् यदि ब्रह्म अनादि है तो माया भी अनादि ही होनी चाहिए. हमारे मत से ब्रह्म

कोई माया से पृथक् नहीं है. अब "माया नाशवान्–ब्रह्म शाश्वत माया चञ्चल–ब्रह्म निश्चल, और माया मिथ्या–ब्रह्म सत्य" यह कहने का हेतु यही है कि माया नाशवान् नहीं किन्तु "माया से जो कार्य–ज्ञान, इच्छा, विकल्प, स्फुरण, आवरण, विक्षेप. अध्यास, भ्रान्ति इत्यादि उत्पन्न हों वे नाशवान् हैं" ऐसा यदि कहा जाय तो अयोग्य नहीं होगा. अस्तु, सृष्टि को ब्रह्मरूप में ढाल लेना यही वेदान्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है.

प्रयोजन :–

अन्य सब ग्रन्थों में भ्रम–निवृत्ति, आनन्द–प्राप्ति इत्यादि जो उल्लेख आ गये हैं वे सर्वथा उचित हैं. इसमें जीव को मुक्ति प्राप्त होना यही मुख्य ' प्रयोजन " है.

यहाँ तक सामान्य प्रकार से अनुबन्ध के रूप बतलाये गये. इसका विशेष खुलासा यह है कि आत्म–विद्या स्वयं–सिद्ध है. यह विद्या कथन करना यानी यथातथ्य स्वानुभव ही कहना है और अनुभव यही विद्या का सत्य लक्षण है. अब इसपर कोई ऐसा प्रश्न उठाएँगे कि "तुम अद्वैतवादी आखिर यही तो कहोगे कि "यह जगत् मूलतः उत्पन्न ही नहीं हुआ! वस्तुतः उसको कुछ भी अस्तित्व नहीं है! यदि ऐसा ही है तब अधिकारी, प्रयोजन, सम्बन्ध और विषय इनका विचार भी क्यों और किस कारण किया जाना चाहिए? यदि ब्रह्म एक ही है और उससे अन्य कुछ भी नहीं है तो यह जो अनेक रूप सारे संसार भर दिखाई देते हैं तो यह क्या और क्योंकर?" इसका

उत्तर यही है कि वेदान्त-दृष्टि से सम्पूर्ण अधिकार स्वयं ही आत्मा को प्राप्त हैं, सब क्रियाएँ उसीसे उत्पन्न होकर फिर उसीमें उन सब का लय होता जाता है. आत्मा के विना कर्ता, भोक्ता. प्रवर्तक, निवर्तक अन्य कोई भी नहीं है. जो जो वृत्ति और क्रिया-शक्ति पृथक्-पृथक् भाँति उद्भूत होती है वह वह उसमें से ही उत्पन्न होकर अन्त में अपने अपने मूल की तरफ़ यानी आत्मा की ओर ही उनकी दौड़ रहती है. सब प्रकार के वृत्तियों को चैतन्य देने वाला, स्फोरक वही एक है. कारण के द्वारा कार्य उत्पन्न होकर पुनश्च कारण में ही लीन हो जाना यह जो सृष्टि का नियम है उसके अनुसार आत्मा की स्फूर्ति से प्रकट हुई वृत्तियाँ भी उसीमें लीन हो जाती हैं. यह व्याख्या, यह विचार जिस शास्त्र में विशेष प्रकार से स्पष्ट किया गया हो उसको "वेदान्त-शास्त्र" कहना चाहिए. अस्तु; आत्मा सर्वव्यापी है. वह एक होकर अनेक रूप से भासमान होता है. इसका कारण अविद्या है. इस अविद्या से मन गदला (विकृत) होता है. आत्मा स्वयम् विकार-रहित रहते हुए भी विकृत मनोवृत्ति में विकारवाला भासमान होता है. मन का यह दोष, यह विकार नष्ट होकर आत्मा के सत्य स्वरूप का ज्ञान होने के लिए साधन-सम्पत्ति चाहिए ऐसा कहना योग्य ही है. और यह भी सत्य है कि वह इसी लिए कही गई है. तथापि बहुत ग्रन्थकार इस साधन-सम्पत्ति-रूप उपाय पर इतना ज़ोर देते हैं, मानो कि इसके अतिरिक्त कुछ बन ही नहीं पड़ता, यह न हो तो ज्ञान-सम्पादन का अधिकार ही प्राप्त नहीं होता! अर्थात् साधन-सम्पत्ति ही एकमेव उपाय है ऐसा बड़े ही आग्रह पूर्वक कहते हैं परन्तु हमारे विचार में उसकी वैसी ही आवश्यकता नहीं जान पड़ती. कारण अपना साध्य क्या है यह प्रथम निश्चित

करने के उपरान्त जिस उपाय से वह प्राप्त हो सकेगा वह उस साध्य का सरल मार्ग है. अपना साध्य क्या है? वह आत्म-विचार है! जब सत्व-गुण का उत्कर्ष हुआ करता है तब वह विचार आपसे ही आप पैदा होता रहता है, वस्तुतः आत्मज्ञान सबको प्राप्त रहता ही है परन्तु मनुष्य विषय-व्यवहार में बद्ध हो जाने के कारण अनेक प्रकार के वृत्ति-दोष उसपर अज्ञान-रूपी पलट डाल देते हैं. इसीलिए ग्रन्थों में जगह-जगह, बारंबार कहा गया है कि वृत्ति का यह दोष-रूपी परदा हट जाय, वह निर्दोष बन जाय, सब कर्म ईश्वरार्पण-बुद्धि से होते जाँये, योगाभ्यास किया जाय और शमदमादि षट्क रग-रग में भिन जाँये.

अब हम इसका विचार करें कि अपना मुख्य ध्येय क्या है वृत्ति को निर्दोष रखना यही अपना मुख्य तत्त्व है या साधनों का जोड़ मिलाने में ही अपना पर्यवसान होना है? इसपर यही उत्तर देना होगा कि वृत्ति की निर्दोषता यही हमको मुख्यतः प्राप्त कर लेनी चाहिए. फिर यह (वृत्ति की निर्दोषता) अमुक ही विशिष्ट मार्ग से साध्य करने का आग्रह भी क्योंकर? महत्त्व वृत्ति का है, साधन का नहीं. यदि मान भी लेवें तब यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि सबकी वृत्तियाँ सम-समान प्रमाणों में दूषित हुआ करती हैं, तो फिर ऐसे विषम अवस्था में साधनों की समता का आग्रह क्यों होना चाहिए? यह सत्य है कि बुलबुले, ओले, नमक और मोती पानी से ही पैदा होते हैं परन्तु यदि उन्हें मूल-रूप प्राप्त करा देना हो तो उसके उपाय भी पृथक् पृथक् हुआ करते हैं. ओले पिघल कर आप ही आप पानी का रूप प्राप्त कर लेते हैं, उसके लिए कोई यत्न करना नहीं पड़ता; परन्तु

नमक का पानी बनाना हो तो उसमें थोड़ा सा और पानी मिलाने की आवश्यकता पड़ती है. यदि मोती का पानी बनाना हो तो उसके लिए बड़ा भारी कष्ट उठाना पड़ता है. कहते हैं कि यदि हंस आकर मोती को अपनी चोंच से स्पर्श करे तब कहीं उसका पानी हो सकता है. इसी प्रकार से वृत्ति की उत्तमता, मध्यमता अथवा कनिष्ठता जैसी होगी उसी प्रमाण से उसको अल्प, अधिक और तीव्र अभ्यास, तप अथवा नियम करने पड़ेंगे. केवल "टके सेर भाजी और टके सेर खाजा" की लोकोक्ति यहाँ काम नहीं देती. हम तो साफ़ साफ़ कह देते हैं कि सब जगत् नित्यमुक्त ही है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं. इस कारण जो नित्य-मुक्ति-रूप फल सबको समान प्राप्त ही है तब उसीका विचार और प्रत्यक्ष विवेचन निरन्तर करना चाहिए. इससे अधिक अन्य उत्तम साधन क्या और कौनसा हो सकेगा? अर्थात् वेदान्तग्रन्थ में जो जो विवेचन किया गया होगा उन सबका अनुबन्ध-चतुष्टय में समावेश होता है. हमने भी इतर सब ग्रन्थों के समान जितने कुछ विषय इस ग्रन्थ में बतलाये हैं, जो तर्क, शङ्का, समाधान और आक्षेप का स्वीकार किया है अथवा जो व्याख्या की है उन सबका समावेश अनुबन्ध-चतुष्टय में ही होता है जैसा अधि-कारी, सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन इनका स्पष्टीकरण अनन्त प्रकार से हो सकता है वैसा ही प्रयोजन कहना भी कोई अन्य कथन नहीं किन्तु अध्यारोप-अपवाद-न्याय से सत्यास्थिति प्रकट करना है. कारण जीव-ब्रह्मैक्य यह क्रिया साध्य करना आत्माभ्यास का फल नहीं, उसको फल कहना केवल उपचार है. सच तो यह है कि किसीका भी आत्म-तत्त्व, आत्म-धन कहीं खोया नहीं गया अर्थात् उसको ढूंढ निकालना अथवा

नये सिर से प्राप्त करना नहीं है, वह तो सबका सहज और नित्य प्राप्त है. सारांश, जीव-ब्रह्मैक्य यह एक औपचारिक भाषा है.

उपर्युक्त हमारा यह विधान कि 'सब ही मुक्त हैं' अनेकों को पसन्द न आयगा. वे इसपर ऐसा प्रश्न उठाएँगे कि "हर कोई मुक्त ही है तो जड़ भी मुक्त कहलाएँगे? परन्तु जड़ को तो पुरुषार्थ-सिद्धि की योग्यता अथवा मुक्ति का अधिकार ही नहीं, फिर वह मुक्त कैसे हो सकेंगे?" इस शङ्का का समाधान यूँ है कि :-मुक्त वे हैं जो आत्म-रूप हो गये. मुक्त की सम्पूर्ण लक्षणाएँ आत्मा से और आत्मा की लक्षणा मुक्त से सम-समान मिलती-जुलती है. आत्मा संसार भर के पदार्थों में परिपूर्ण भरकर भी बहुत कुछ बच गया है.

"स भूमिँ विश्वतोवृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्"

(पुरुष-सूक्त)

अर्थात् यह स्पष्ट है कि वह अखिल जड़ पदार्थों को भी अपने में समावेश करके उर्वरित रहा हुआ है. इस कारण यदि किसी शब्द का भी उपयोग किया जाय तो वह आत्म-तत्त्व का ही वर्णन हो जाता है. श्रीमच्छङ्कराचार्य जी का वचन है कि :-

"यद्यत्कर्म करोमि तत्तदाखिलं शंभो तवाराधनम्"

(शिवमानसपूजा, श्लोकार्ध ४:)

इस दृष्टि से देखा जाय तो सब ही मुक्त हैं यह निस्संशय सिद्ध होता है इस कारण जड़-चेतनाभास इत्यादिकों में विरोध जान कर जड़ को मुक्त-रूप से रहने का अधिकार नहीं ऐसा कहना असत्य ठहरता है. इस प्रकार से हमने आधिकार, सम्बन्ध,

विषय और प्रयोजन का खुलासा वर्णन किया. तथापि पाठक यह ध्यान में रखें कि हमने इस ग्रन्थ में सब जगह इसी तत्त्व का विशेष प्रकार से खुलासा किया है. इस मर्म को पाठक भली भाँति ध्यान में रखते हुए ग्रन्थ का पठन और मनन करें

३ साधन–सम्पत्ति :–

इस सकलमाति सम्प्रदाय का ऐसा अंशतः भी कहना नहीं है कि इसी जन्म में ही साधन–सम्पत्ति प्राप्त कर ली जाय किन्तु साधक में ज्ञान की इच्छा, तीव्र बुद्धि और विचार–शक्ति मात्र रहनी चाहिए. तब वह अधिकारी और ज्ञान–सम्पन्न होने योग्य है. यह भी एक बड़ा ही सिद्धान्त है कि ज्ञान गुरु–सेवा से ही प्राप्त होता है. कितेक ग्रन्थों में उपदेश देना यह केवल मर्यादा बतलायी गई है; परन्तु " विना प्रज्ञावान् शिष्य के ज्ञान का लाभ नहीं होता ". ऐसा जो कहा गया है उदाहरणार्थ :–

उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्र बोधक : ।
ज्ञप्तेस्तु कारणं राम शिष्यप्रज्ञैव केवलम् । १२॥
—(योगवासिष्ठ अध्याय १).

इसका तात्पर्य इतना ही है कि शिष्य का उल्लास बढ़े और साध्य की त्वरित प्राप्ति के लिए उसमें एक प्रकार का विशेष आवेश आजाय. सिद्धान्त अगर देखा जाय तो विना गुरु (कृपा) कटाक्ष के ज्ञान होता ही नहीं ! इसमें मर्म यह है कि किसी एक व्यक्ति का धर्म, गुण अथवा स्वभाव किसी अन्य व्यक्ति में नहीं आता. गुरुगीता में गुरु का लक्षण, स्वरूप और ध्यान ऐसा बतलाया गया है कि :–

ब्रह्मानंदं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

—(श्री गुरुगीता. श्लोक ५६).

इस श्लोक में उल्लेखित ब्रह्मानन्दं परमसुखदं, एकं, विमलं, अचलं, सर्वधी साक्षिभूतं इन विशेषणों से स्पष्ट होता है कि ज्ञानघन, व्यापक आत्म-चैतन्य को ही गुरु कहना चाहिए. गुरु-मूर्ति की शक्ति अतएव आत्मशक्ति ही है यह बात सबको मान्य कर लेनी होगी.

ऊपर ऐसा जो वाक्य आया है कि 'एक का धर्म अन्य में नहीं आता" उसका भावार्थ यह है कि आनन्दरूपता, आनन्द प्राप्त कर देना अथवा सब विषयों को आनन्द-रूप भासमान करना यह धर्म जड़ पदार्थ में अंशतः भी नहीं है. अन्तःकरण में सत्व गुण की शक्ति बढ़ जाय तो ईश्वर के भजन-पूजन की इच्छा उत्पन्न होती है. यदि रजोगुण की शक्ति बढ़ जाय तब प्रपञ्च का फैलाव करने की प्रवृत्ति ज़ोर खाती है और तामस-शक्ति का प्रकोप हो जाने पर लड़ाई झगड़ा मोल लेने की ओर मन दौड़ता रहता है. इसी प्रकार यदि आत्म-शक्ति की वृद्धि हो जाय तो वेदान्त-विचार की सद्बुद्धि उत्पन्न होती है. इन शक्तियों का बढ़ाव और गुणों की शक्ति का घटाव सृष्टि-नियम के अनुसार होता रहता है. यह सिद्धान्त श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता में —

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ३, श्लोकार्ध ३३)

(समस्त जीव प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं, अतः बलात्कार किंवा जबरदस्ती से प्रकृति के रोकने में क्या फल होगा ?)

इस वचन के द्वारा स्पष्ट कर दिया है. सारांश अविद्या का नाश होकर यदि आत्मस्फुरण यानी प्राप्तज्ञान मन में विशेषतः प्रकट होनेसे सुख-प्राप्ति का समय आजाय तब साधन-सम्पत्ति उसमें ज़रा भी रुकावट पैदा नहीं कर सकती. श्रीदत्तात्रेयभगवान् ने यही सिद्धान्त अवधूतगीता में स्पष्टतया कह दिया है :—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना
महद्भयपरित्राणाद्विप्राणामुपजायते ॥१॥
—(श्री अवधूतगीता अध्याय १)

(जन्म से, महद्भय से रक्षा होनेके कारण विप्रों (मेधावी बुद्धिमानों के हृदय) में ईश्वर के अनुग्रह से ही अद्वैत-वासना उत्पन्न होती है.)

४ सहजमुक्त के लक्षण :—

इस सम्प्रदाय में (श्रीमाणिकप्रभु के सकलमती सम्प्रदाय में) जड़भरत जैसे जीवन-चरित्र का अथवा विदेह-मुक्ति का महत्त्व नहीं है किन्तु राजा जनक, श्रीराम, श्रीकृष्ण का महत्त्व

विशेष माना जाता है, कारण वे निस्सन्देह सहज-मुक्ति के अधिकारी हैं.

५ "आत्मा" शब्द की मीमांसा :—

वेदान्त ग्रन्थों में ईश्वर के अनेक विशेषणाएँ आई हैं. उनमें आत्मरूप, सर्वात्मा, विश्वात्मा इत्यादि नाम बहुत ही प्रभावशाली, मार्मिक हैं, जिससे रचयिता की आथाह बुद्धि का परिचय मिलता है. ध्यानपूर्वक इन शब्दों के अर्थ की समझ पाना ही मोक्ष-लाभ उठाना है. इन विशेषणाओं से यह स्पष्ट होता है कि संसार भर में नाम-रूपात्मक जो और जितने पदार्थ फैले हुए हैं उनका स्वत्व यानी सत्य-रूप, मूल-रूप आत्मा अर्थात् ब्रह्म ही है. किसी पदार्थ का मूल रूप इस अर्थ से व्यवहार में आत्मा शब्द का कहीं कहीं उपयोग किया जाता है. अर्थात् सकल दृश्य पदार्थोंका मूल रूप जो होगा वहीं आत्मा का रूप है. आत्मा सत्-चित्-आनन्द-रूप और आस्ति-भाति-प्रिय-रूप है, यह जचाने के लिए ही श्रुति-माता ने भी आत्म-शब्द से ही परब्रह्म का गौरव किया है, इस लिए उसे अच्छी तरह समझ लेना साधकों के लिए अति उत्तम है.

६ महावाक्यार्थ :—

श्री शङ्कराचार्य जी ने महावाक्य का जो अर्थ अध्यारोप-अपवाद रूप से लिया है वही सबको पूर्ण मान्य है. (इतना ही नहीं किन्तु) वेदान्त ग्रन्थ में यही विषय रहना मुख्य है. सभी

ग्रन्थों में यह विषय पूर्णतः उल्लेखित है इस लिए यहाँ उसका विस्तार नहीं किया गया.

७ आत्म–स्व रू प :–

आनन्द, सुख, प्रिय यह नाम आत्मा के ही हैं. कारण, सुख देना यह जड़ का धर्म ही नहीं. जड़ पदार्थ द्वारा सुख का लाभ समझना निरी भूल है, यही "माया" कहलाती है. ब्रह्म का स्वभाव है कि समस्त अवस्थाओं में स्वसामर्थ्य से अपने को ही भासमान करे, यानी "मैं आत्मा हूँ" यह स्फुरण मिटने न पाय. जड़ बेचारे अपनेको तक प्रकट नहीं कर सकते, वे अन्य को क्या भासमान करेंगे! अतः यह सिद्ध होता है कि :–बोध–रूपी आत्मा स्वयम् अपने सामर्थ्य से ही स्फुरण पाता है. यूँ तो आत्मा नित्यप्राप्त है. "मैंने अपनेको पहचान लिया" इस समझ–बूझ का ज्ञानरूपी व्यापार अन्तःकरण–निमित्तक होता है, उस समय आत्मा ही तदाकार स्फुरण पाता है. ऐसा मानना कि "मैं अल्प" अथवा "विभु हूँ" यह तो अन्तःकरण का धर्म है आत्मा का नहीं. जिस प्रकार अन्तःकरण में विकल्प उत्पन्न होते हैं उसी तरह अन्तःकरण ने धारण किये हुए विषयाकृतियों में एक आत्मा ही स्फुरण पाता है. देखिये! कि "मैं देही" इस अनुभव में दिखाई देने वाली अहंवृत्ति यानी अल्पाकृति यह अहङ्कार का धर्म है, और "मैं देही हूँ" इसमें केवल स्फुरण मात्र आत्म–धर्म है. यद्यपि "मैं" इस उच्चार में परा, पश्यंति, मध्यमा, वैखरी वाणी की सहायता लेनी पड़ती है, तथापि "मैं" इस स्फुरण का वाच्य मात्र माया और लक्ष्य ब्रह्म है. सारांश; सवि-षयक स्फूर्ति, उच्च–नीच–भाव, बन्ध–मोक्ष इत्यादि जिस जिस

भावना से अन्तःकरण युक्त हुआ हो उस उस विषय के अनुसार आत्मा स्फुरण पाता है, इस कारण अन्तःकरण का यह मल दूर हटा कर विषयों की जगह आत्मा का ज्ञान प्राप्त करा देने के लिए ही वेदान्त का उपदेश है.

८ अनिर्वचनीयख्याति :—

सकल सृष्टि-व्यवहार में जहाँ जहाँ जो भ्रम फैला रहता है वह किस प्रकार का हुआ करता है, इस विषय में अनेक मत तार्किकों के ग्रन्थों में ग्रथित हुए हैं उसको "ख्याति-वाद" कहते हैं. भ्रम-स्थल में प्रथम 'आवरण' होता है. आवरण यानी विस्मृति —अपने को भूलना, जिस पदार्थ का अथवा विषय का अज्ञान रहा करता है वह पदार्थ अन्य रूप से दिखाई देने का कारण मूल स्वरूप की भूल है. विस्मृति के उपरान्त विक्षेप-शक्ति से अनेकाकृतियाँ दीख पड़ना "भ्रम" का लक्षण है. अब 'माया" का लक्षण यानी सम्मुख डोरी देखते हुए भी मणि-मन्त्र-सामर्थ्य से उसका रूपान्तर दिखाई देना. इसमें सर्पाकृति यद्यपि प्रत्यक्ष दीख पड़ती है तथापि 'यह सर्प डोरी है' ऐसा दृढ़ निश्चय रहने के कारण भय-कम्पादि विकार होने नहीं पाते. कारण, यहाँ रूपान्तर दिखाई देने में केवल अज्ञान ही कारण नहीं, किन्तु अपनी स्वयम् अभिलाषा से रूपान्तर दिखलाया जा सकता है. इसी प्रकार जैसा ईश्वर अपने को न भूलते हुए यानी स्वतः आवृत्त न होते हुए अनेक रूपान्तर दिखलाता है, वैसे ही जीव भी निज स्वरूप को कभी नहीं भूलता है. कारण, अपनी आत्म-शक्ति इतनी बलवत्तर है कि, वह हमें कदापि अपनी भूल होने नहीं देती. इसी बात को श्री शङ्कराचार्य जी ने

अस्ति स्वयमित्यस्मिन्नर्थे कस्यास्ति संशयः पुंसः ।
अत्रापि संशयश्चेत्संशयिता यः स एव भवसि त्वम् ॥४॥
—(स्वात्मनिरूपण).

इस श्लोक में स्पष्ट किया है.

अब इसपर कोई यह प्रश्न उठाएँगे कि, 'यदि जीव को ज्ञान प्राप्त है तो फिर उपदेश देने की क्या आवश्यकता है?' इसका उत्तर यह है कि "मैं ईश्वर हूँ" इस ज्ञान को "मैं मनुष्य हूँ" ऐसी समझ बड़ी ही बाधक है, इस कारण उपदेश अत्यन्त आवश्यक है. अब धर्मी और ज्ञानवादी साधारण-ज्ञान को ही भ्रम का मुख्य कारण बतलाते हैं, विस्मृति का कारण नहीं कहते; पर विस्मृति का लक्षण यह बतलाते हैं कि, "कोऽहं" की भावना अथवा यह कहना कि "मैं अपने को नहीं जानता "विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत्" की चक्कर में घुमाता है" परन्तु हममें और उनमें मतभेद यह है कि, वे "अज्ञान" नाम का एक पदार्थ मानते हैं और हमारा कहना यह है कि, "अज्ञान नामक कोई अन्य पदार्थ नहीं, किन्तु काला और शुभ्र प्रकाश (शेड और लाईट यह दो) जैसे प्रकाश के ही भेद हैं उसी प्रकार विपरीत ज्ञान भी ज्ञान का ही एक रूपान्तर है" रहस्य यह है कि, अपना अस्तित्व अथवा "मैं किसी तरह कोई एक रूप में हूँ" इस स्मृति का और इस ज्ञान का कभी लोप नहीं होता, श्रुति-माता भी ऐसा ही कहती है और ऐसा अनुभव ही शुद्ध और सत्य कहलाता है.

ऊपर भ्रम-लक्षणा सहित ख्यातिवाद कहा ही गया है, उसमें असत्ख्याति, अख्याति, आत्मख्याति, अन्यथाख्याति

और सत्ख्याति ऐसे कई एक भेद दिखाई देते हैं, परन्तु विषय पदार्थों की प्रक्रिया कहते समय जो और जैसा भासमान होता है वह सब कुछ स्मृति-बल से, अज्ञान-बल से अथवा बुद्धिकृत दोष से भासता है. डोरी में सर्प भी इसी कारण दीख पड़ता है, यह मत पण्डित निश्चलदास जी ने अपने "विचारसागर" ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक लिखा है. इस रीति से विवेचन करके पण्डित जी ने अनिर्वचनीयख्याति को मुख्य मान लिया है. उसमें – "डोरी में सर्प का केवल भास होता नहीं किन्तु तात्कालिक प्रातिभासक सर्प की उत्पत्ति होती है" –ऐसा कथन किया है. व्यवहार में भी ऐसा ही कथन उत्तम भाता है. ईश्वर के आयुष्य के प्रमाण (आयुर्दाय) से ही क्यों न हो, यदि हमको एक क्षण तक सृष्टि की बाधा होती है तो फिर विद्या के आरम्भ की आवश्यकता ही है. इन सम्पूर्ण विचार से अनिर्वचनीयख्याति निर्दोष ठहरती है. यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि ऊपर जो हमने ईश-भ्रम के विषय में लिखा है उसका खुलासा (स्पष्टीकरण) ऐसा है कि –मूलतः एक निरुपाधिक चैतन्य रहते हुए

सत्वशुद्धविशुद्धिभ्यां मायाविद्येच ते मते ।
मायाबिम्बो वशी कृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६॥
–(पञ्चतत्त्व.)

इस प्रकार भ्रम से उसको ईश्वरत्व दिया गया. यद्यपि जीवाकृति और ईशाकृति दोनों भी भ्रमविकल्प हैं. तथापि ईश्वर सोपाधिक-भ्रम समान अज्ञान-मूलक नहीं है किन्तु केवल अज्ञान-रहित विक्षेप-शक्ति से ही भासमान होता है. अर्थात

ईश्वराकृति अज्ञान अथवा अविद्या-रचित नहीं किन्तु उपाधि जब तक रहेगी उस समय तक विराट्, हिरण्यगर्भ व्यक्ति अवश्य रहेगी. इसमें फ़रक़ इतना ही है कि अज्ञान-कृत सर्पाकृति का निरास अज्ञाननिरसन-काल में ही होता है, उसके साथ ही उससे जो भयादिक विकार उत्पन्न हुए हों उनका भी नाश हो जाता है, परन्तु केवल कौतुक से यदि कोई एक सर्प बनाया गया हो तो जिस प्रकार उससे भय होने के बदले उलटा आल्हाद ही होता है. उसी प्रकार से ईश्वर अनन्त रूप धारण कर लेता है; परन्तु उसको भ्रान्ति की हवा छू तक नहीं सकती. इस कथन का हेतु यह है कि भ्रम में भी सोपाधिक, निरुपाधिक भेद भली भाँति समझ में आ जाय. भ्रम के सम्बन्ध में ऊपर जो कहा गया है, उससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती. इसपर भी किसी को विस्तार की विशेष अपेक्षा हो तो अन्यान्य प्रमाण ग्रन्थों में प्रायः इसकी विस्तार पूर्वक व्याख्या दी गई है वे वहाँ पढ़ लें. यहाँ हमें विस्तार-भय ने रोक लिया, फिर भी प्रस्तुत प्रसङ्ग में हम विशेषतः इतना ही कह देते हैं कि "यदि पदार्थ असत्य हैं तो उसका ज्ञान भी असत्य है" ऐसे वाक्य जो कहीं कहीं दीख पड़ते हैं उस उस स्थान में "ज्ञान" यह शब्द ज्ञानसाधन इस अर्थ से लेना, और "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" ऐसे स्थान में सत्तावाचक ज्ञप्तिमात्र, अक्रिय सर्वाभासक और कूटस्थ रूप है यह ध्यान में रखना चाहिए. और जिस प्रकार स्वार्थद्योतक जो विशेषणाएँ हैं उनका बाध होता है, उसी प्रकार घटज्ञान, पट-ज्ञान, संशय-ज्ञान, भ्रान्ति-ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान इन में भी वाच्यार्थ जो किञ्चिज्ञत्व, सर्व-ज्ञत्व आदि विशेषणों का यद्यपि बाध हुआ तो भी प्रकाशक-सत्यज्ञान का बाध कभी हो ही नहीं सकता. अहंवृत्ति (आप,

मैंपन) के सम्बन्ध में भी यही न्याय समझना चाहिए.

इस अनिर्वचनीय विधान में रहस्यपूर्ण, मार्मिक सिद्धान्त यह है कि व्यावहारिक सत्ता लगातार सब के अनुभव में आती है. यह अनुभव कर अनिर्वचनीयख्याति का अर्थ ऐसा कि, व्यावहारिक सत्ता के अस्तित्व को. पारमार्थिक-सत्ता के दृष्टि से त्रैकालिक निषेध मानकर ही अनिर्वचनीय कहा है; यानी व्यावहारिक-सत्ता को ही प्रातिभासिक-सत्ता मानी गई है. इससे भी सूक्ष्म विचार यह है कि जिस प्रकार से अज्ञान ज्ञान का ही एक रूपान्तर है, उसी प्रकार निषेध भी विधि को ही विशेष रूप में बतलाता है ख्यातिवाद में सर्व पदार्थ -सर्प, रजत, पुरुष इत्यादि- जो भासमान होते हैं वह केवल अज्ञानमूलक हैं, ऐसा ही अधिकतर ग्रन्थों में लिखा गया है. विवरणवार्तिक में भी एक स्थान में ऐसा लिखा है जैसा कि :-

आत्माज्ञानमहानिद्राजृंभतेऽस्मिञ्जगन्मये ।
दीर्घस्वप्ने स्फुरंत्येते स्वर्गमोक्षादिविभ्रमा : ॥१८॥

—(अद्वैतमकरन्द.)

जिस प्रकार स्वप्न में पदार्थों का स्फुरण होता है वैसा ही स्वर्गमोक्ष को भी भोग ही समझना चाहिए. यानी जब अज्ञान से सर्प दीख पड़ता है उस समय अज्ञानमूलक भय-कम्पादिक दुःख का भोग हुआ करता है, उसी प्रकार प्रपञ्च में भी (अज्ञान के कारण) वनिता, चन्दन, पुष्प, भुवन खाद्य, पेय इत्यादि जो विषय दिखाई देते हैं वह अज्ञान-दोष से दीख पड़ते हैं, और अज्ञान जब तक बना रहता है वे बराबर भासमान होते रहते हैं.

अज्ञान नष्ट होने पर यानी सीप, डोरी, स्तम्भ जैसा स्पष्ट दीखता है, उस प्रकार एक ही चैतन्य सर्वाकृति से भासमान होता है. तात्पर्य, अज्ञानमूलक भ्रम है ऐसा सिद्धान्त किया करते हैं, परन्तु यह भ्रम का सङ्कोचार्थ समझना चाहिए. विशेषार्थ यह है कि, जीव-भ्रम और ईश-भ्रम इनकी सामग्री भिन्न भिन्न है. जान बूझ कर एक की अनन्त आकृतियाँ दीखना यानी नाटक में जैसे रूपान्तर (छद्म वेश) दीख पड़ते हैं वैसे सुवर्णालङ्कार, मिट्टी का सर्प यद्यपि मिट्टी रहते सर्प दिखाई देना, लकड़ी का हाथी, शक्कर का वृंदावन (यानी कड़ुई ककड़ी का) फल, काग़ज़ का चित्र इन सब पदार्थों में "अतस्मिंस्तद्बुद्धि :" का लक्षण है जो श्री शङ्कराचार्य जी ने कहा है, परन्तु यह पदार्थ अज्ञान-कृत नहीं हैं, किन्तु जान बूझ कर बनाये हुए हैं. तद्वत "ऐक्षत" और "रूपं रूपं" इत्यादि प्रमाणों पर से सिद्ध है कि ईश्वर उल्हास पूर्वक रूपान्तरित होकर दिखाई देता है. मुकुन्दराज मुनि कहते हैं :-

तैसा नित्यानंदभरित। ईश्वर असे वर्तत। जीवसंगें व्याकुल होत। अज्ञानवशें ॥४५॥ तळीचें पाणी असतचि असे। तदंग तरंगासी जन्ममरण दिसे। तैसा देव परी विनाशे। जीवसंगें हा ॥४६॥ तरंगाच्या जन्ममरणीं। जेविं न घेईजे पाणी। तैसी जीवधर्मांची घाणी। ईश्वरीं न लगे ॥४७॥

—(विवेकसिंधु पूर्वार्ध प्रकरण ५.)

(नित्यानन्दभरित ऐसा ईश्वर अज्ञानवश हो कर जीव के सङ्गति से व्याकुल होता है। सरोवर का पानी ज्यों का त्यों

स्थित है, परन्तु जैसे उसके अङ्गभूत तरङ्गों को जन्म मरण है वैसा ही अविनाशी ईश, परन्तु जीव के सङ्गति के कारण उसका विनाश दिखाई देता है ॥ ४६ ॥ जैसे तरङ्गों के जन्म मरण से पानीका कोई सम्बन्ध नहीं उसी प्रकार जीव-धर्म के दोष दुर्गन्ध से ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं ॥ ४७ ॥).

सप्तशती ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है कि "ज्ञानिनामपि चेतांसि" इसके अनुरोध से परिणामी वृत्ति जो सत्वगुणी है वह माया शुद्धसत्वात्मक है और अविद्या मलिनसत्वात्मक है. अब इसमें एक ही सिद्धान्त रहने के कारण जो ऐसा पक्ष स्वीकार करेंगे कि, यह सब अज्ञानमूलक ही है हम उनके प्रतिपक्षी बनना नहीं चाहते केवल हमारा उद्देश यही है कि सकल श्रुत्यर्थों का रहस्य साधकों के समझ में आ जाय. तात्पर्य अविद्या, अज्ञान और ज्ञान का परिणाम यह सब मायिक ही है यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि ऊपर जो हमने कहा है कि "अनिर्वचनीयख्याति में ज्ञान का परिणाम नहीं होता" वह पारमार्थिक बुद्धि से कहा है. यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि, ज्ञानाकाश यानी चिदाकाश रूप जो ब्रह्म विस्तीर्ण व्यापक और ज्योति मात्र है तो ऐसा मात्र नहीं समझना चाहिए कि उसका परिणाम कुछ भी नहीं होता, किन्तु "उपादानं त्रिधा भिन्नं" इस वाक्य के अनुसार चैतन्य रूप का विवर्तपरिणाम होता है, यानी चिदाकाश के सामर्थ्य से इन पञ्चमहाभूतों की उत्पति हुई है. इसको व्यावहारिक सत्ता कहना चाहिए. विवर्त का लक्षण :—सुवर्ण-अलङ्कार, मृतिका-घट, इसीके अनुसार सब जगह विवर्त ही मानना चाहिए, और अनिर्वचनीय का

रहस्य समझ लेना साधक के लिए आवश्यक है. यह सब कुछ प्रथमतः मायिक शुद्धसत्वप्रधान प्रकृति से उत्पन्न होकर इसके अनन्तर जिस समय में उसका परिणाम जड़ रूप होता है, तब उसको अविद्या कहते हैं. पहिले यह जगत् जान बूझ कर विलास-भुवन के हेतु से उत्पन्न हुआ और पश्चात् जैसे सुषुप्ति के समय बुद्धि में जड़त्व आता है उस प्रकार से अन्तःकरण में यदि जड़ांश बढ़ने लग जाय और विस्मृति होती जाय ऐसी अवस्था में जो रहता है उसको "जीव" संज्ञा आती है. देखिए! यदि जगत् को अज्ञानमूलक ही मान लें तो मुक्त पुरुष जो अनेक रूप लेकर जगत् का उद्धार करते हैं और ईश्वर अनन्त अवतार धारण करता है, यह सब अज्ञानमूलक ही कहलाए जायँगे! केवल शब्दार्थ पर ही आग्रह कर बैठें तो सहजमुक्ति और नित्यमुक्ति का नाश हो जायगा! "बाध" शब्द का अर्थ यह नहीं कि जगत् की प्रतीति न आए, किन्तु "यह सब नाटक रूप है" ऐसा समझना चाहिए. १ यदि ऐसा अर्थ न होता तो बड़े प्रयास से सयुक्तिक जो यह जगत् बतलाया गया है वह भी व्यर्थ हो जायगा। तब इसके अनुरोध से साधकों को चाहिए कि ख्याति-वाद को जीवविषयक ही समझें. अब जो ऊपर कहा गया है कि

टिप्पणी :-१ जीवभाव—जगद्भाव—बाधे स्वात्मैव शिष्यते ।
नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किंतु मिथ्यात्वनिश्चयः ॥१२, १३॥
—(पञ्चदशी चित्रदीप).

(जीवभाव जगद्भाव का बाध होने पर केवल आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। बाध वह नहीं है कि उसकी प्रतीति न आए, किन्तु "यह मिथ्या है" ऐसा निश्चय हो जाना ही "बाध" कहलाता है.)

"मोक्ष, स्वर्ग, ईश और जीव यह सब भ्रममूलक ही समझें" वही सत्य है -कारण- यदि ज्ञानमूलक कहें तो यह निश्चित हो जायगा कि "इस जगद्भ्रम का कोई नाशक ही नहीं" इस कारण सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान यह भेद मानना ही पड़ेगा विचार कीजिए! इसको यद्यपि अज्ञानमूलक मान लिया जाय तो भी "सामान्यज्ञान ही भ्रम का मूल कारण है" ऐसा मानना ही पड़ेगा. अर्थात् सामान्यज्ञानकृत दोष का विशेषज्ञान से नाश होता है यानी मिट्टी के सर्प को सर्प मानना यह विशेषज्ञान और उसको मिट्टी ही समझना यह सामान्यज्ञान है, इन उभय ज्ञान का भेद ध्यान में रखना चाहिए. इसपर भी अज्ञानमूलक भेद होता है. मूल सिद्धान्त ऐसा नहीं है कि, ज्ञान होने पर पदार्थों का नाश हो जाता है! यही ज्ञान पैठने के लिए अनिर्वचनीय का हमने खुलासा किया. उसमें बाध शब्द का भी सत्य अर्थ बतलाया है.

यद्यपि ऐसा निश्चय भी हुआ हो कि, लकड़ी, मृतिका अथवा सुवर्ण ही है फिर भी यह नहीं कहना चाहिए कि, सुवर्ण का अलङ्कार, लकड़ी अथवा मृत्तिका का चित्र दिखाई नहीं देता. अब जैसा इस अज्ञान से यानी "यह लकड़ी का है" ऐसी समझ न पाने के कारण बाल बालिकाओं को लकड़ी अथवा मृतिका के सर्प से भी भय कम्प होने लगता है. वही प्रबुद्ध और समझ वालों के लिए मानो कि वह एक खेल अथवा विनोद बन बैठता है! ऐसी ही ईश्वर की लीला है. इस खेल का दीख पड़ना यानी. ईश्वरीय सत्ता और यह चैतन्यविलास कभी नष्ट नहीं होता जगदाभास लुप्त होकर केवल चिन्मात्र रूप में एकाग्र रहने को ही सामाधि जो समझ लेते हैं, न जाने इसमें उन्हें क्या लाभ दीख पड़ता है! नहीं तो श्री कृष्णभगवान् ने बहुत सी लालीएँ

कीं, रास खेले. राम-रावण का युद्ध हुआ इत्यादि ईश्वरीय चरित्र क्या ईश्वर को बाधक होंगे? अर्थात् "जक्षन्, क्रीडन्, रतिं विंदन्" इत्यादि श्रुति और "यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्" यह श्री शङ्कराचार्य जी का वचन और -

"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः" ॥४॥
—(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ९).

[मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा से यह सब जगत (जल से बर्फ के सदृश) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत सङ्कल्प के आधार स्थित हैं (इस लिए वास्तव में) मैं उनमें स्थित नहीं हूं.] यह श्रीकृष्ण का वचन ही सत्य और सार्थ है. इस प्रतिज्ञा के अनुसार यह ("ज्ञानमार्तण्ड") "सुधांशु" ग्रन्थ लिखा गया है, और शुभेच्छा है कि यही सिद्धान्त सर्वोत्कृष्ट, विजयी हो जाय! इसके अभिमानी श्रीदत्त रूप प्रभु सबको अखण्ड और सहजमुक्ति प्रदान कर सुखी करें!

९ सविकल्प– समाधि –प्रशंसा :–

सिद्धान्तसार ग्रन्थ में श्री शङ्कराचार्य जी ने "समाधि" की अनेक लक्षणाएँ बतलाई हैं उनमें से सविकल्प-समाधि और सहजमुक्ति साधकों के लिए सुखप्रद हैं. दृष्टान्त ऐसा है कि :– अज्ञान द्वारा माने हुए रोग की निवृत्ति के लिए ऐसा कोई नियम

नहीं कि विशिष्ट प्रकार की ही दवाई ली जाय, जिस किसी साधन से रोग हट जाय वही एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है. अस्तु.

ब्रह्मरूप समाधि प्राप्त होना यानी ब्रह्मस्थिति में, उसके चिन्तन में मनोविकार और चञ्चलता कुछ भी नहीं रहना चाहिए. समाधि उसको ही कहते हैं जहाँ शरीर की पहचान, आस्था, विषय और विषयोपभोग इत्यादि प्रकारों में से कोई एक दोष भी अन्तःकरण में न रहने पाए और वृत्ति ब्रह्म-विचार में तल्लीन हो जाय.

१० पञ्चीकरण-प्रशंसा :-

सर्व वेदान्त में पञ्चीकरण मुख्य है. उसमें भी श्रीसमर्थ (रामदास) और पण्डित निश्चलदास जी ने जो क्रम बतलाया है वह अति उत्तम है.

११ मुक्ति का स्वरूप :-

मुक्ति का स्वरूप यह नहीं है कि फिर जन्म प्राप्त ही न हो, किन्तु स्वरूपस्थिति रहते भी स्वभाव मात्र बदलता है. जैसा भगवद्गीता में कहा गया है कि :-

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

—(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ९).

(मैं इन भूत-जालों में फँसा हुआ नहीं हूँ, किन्तु भूतमात्र मुझ में दिखाई देते हैं. कारण, मैं ही उनका जीवन हूँ.) तात्पर्य, यह विद्या यानी सब कुछ क्रिया करते हुए असङ्ग रहने की योग्यता प्राप्त कर लेने का ज्ञान इस वासनात्मक शरीर में उत्पन्न होने पर वह कभी बद्ध नहीं होता. इसमें गूढ़ विचार यह है कि, अन्धकार और प्रकाश एक के ही ऐसे रूपान्तर हैं जैसे -अग्नि-क्रीडा में चन्द्रज्योति, तारामण्डल इत्यादि जो रहते हैं उसमें से किसीका काला, किसीका लाल और किसीका शुभ्र ऐसा भिन्न भिन्न रङ्गों का प्रकाश पड़ता है, परन्तु प्रकाश जिसको कहते हैं वह एक ही होता है. अब अन्धकार को एक पृथक् पदार्थ कहने वाले मतवादी भी बहुत हैं, परन्तु यहाँ हमको वादप्रक्रिया किञ्चिन्मात्र भी नहीं करनी है, किन्तु अनुभव जमाना है. अज्ञान ही ज्ञान रूप से प्रकट होकर यह जगत् आत्म-रूप भासमान होता है. "मैं बद्ध हूँ" ऐसा सन्देह भी नहीं होता, किन्तु "मैं निरन्तर मुक्त हूँ" ऐसा निश्चय हो जाता है. सारांश, मुक्त अथवा बद्ध के संस्कार अन्तःकरणविषयक हैं, आत्मा को इन दोषों का सम्पर्क भी नहीं होता. "कामा येऽस्य हृदि श्रिता :" (उपदेशसहस्री गद्यप्रबन्ध ३६). सकल विषयों में का अस्तित्व और समस्त विषयों का आत्मा सत्तारूप ब्रह्म ही है, इस कारण उसपर ऐसा आरोप आता है कि सर्व अवस्थाएँ ब्रह्म की ही हुआ करती हैं.

१२ मन का अणुत्व और व्यापकत्व :—

बहुत से मतों में ऐसा कहा जाता है कि, मन यह पदार्थ सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होता है और वह अणु है, परन्तु वह इस

कारण से ग्राह्य नहीं है कि मन व्यापक है. जिस प्राणी का जितना आकार रहता है उसका मन उस आकार में पूर्णतः व्याप्त रहता है, इसको कोई "मध्यमपरिणाम" भी कहते हैं. रज तमादि गुणों के अनुसार मन की क्रिया होती रहती है. एक ही पानी से मीठा, कडुवा, क्षार, आम्ल, स्वादिष्ट इत्यादि रुचि रखने वाले वृक्षों का पोषण होता है, उसी तरह समस्त ब्रह्माण्ड में पहचान (ज्ञान) एक ही है. श्रीसमर्थ कहते हैं "दन्ताघात-कारी सर्प जानकर काटने आता है और मनुष्य भी जान कर ही भागड़ मचाता है. इसमें यद्यपि क्रियाएँ भिन्न भिन्न हैं परन्तु उभयविध पहचान एक ही है. हमारे मत में भी यही गृहीत है.

मन यह अपञ्चीकृत आकाश का कार्य रहने से "मन इतना ही है, मन का रूप यहाँ तक ही है" इत्यादि प्रकार से उसकी देशकालपरिच्छिन्नता नहीं कही जा सकती. यहाँ यद्यपि यह शङ्का उपस्थित होगी कि, यदि मन एक ही है तब एक की मन-स्थिति दूसरा क्यों नहीं पहचान सकता ? परन्तु यह शङ्का इस कारण से व्यर्थ है कि यद्यपि मन एक हो, परन्तु उपाधियाँ अनेक रहने से वैसा हो नहीं सकता. कदाचित् यह मायिक आवरण रहने से यदि अभ्यास किया जाय तो अन्य मन की स्थिति भी सुलभता से पहचानी जा सकेगी. श्रीज्ञानेश्वरमहाराज कहते हैं कि :-चिउँटीका मनोगत पहचानना, स्वर्ग की वार्ता सुनाना इत्यादि अनुभव की बातें हैं. सिद्ध पुरुषों को सप्त स्वर्ग पातलादिकों का भी सुगमता से ज्ञान हो जाता है. इस सम्बन्ध की यदि व्याख्या करनी है तो वह बहुत ही बड़ी हो जायगी. अन्य मतवादी जो मन का अणुत्व बतलाते हैं उसका खण्डन श्री शङ्कराचार्य जी ने किया ही है. तात्पर्य, मन स्वयम् अणु नहीं

है, किन्तु जिस आकृति में मन धँस जायगा अथवा वह जैसी आकृति धारण करेगा उसके अनुसार वह अणु अथवा व्यापक बन जाता है. इसका कारण यह है कि मन आकाशसदृश है.

१३ एकजीववाद :—

वेदान्त में उपाधि भेद से अनेक जीव माने गये हैं और ऐसा भी कहा गया है कि "एकजीव एक ही अविद्या का व्यापक है" जो विविध अज्ञान मानते हैं, जीव के रूप को पृथक पृथक मानते हैं वह अनेकजीववादी कहलाते हैं और जो ऐसा समझते हैं कि "एक ही अज्ञान है, वृत्ति-भेद से अनेक क्रियाएँ होती हैं वह एकजीववादी हैं. इसमें जिज्ञासु के लिए एकजीव-वाद अति उत्तम है. जीव, अमर, ईश्वर यह विशेषणाएँ एक ही चैतन्य की हैं. पञ्चदशीकार ने घटाकाश और मठाकाश का दृष्टान्त देकर इस बात को स्पष्ट किया है. उसी तरह से महापण्डित निश्चल-दास जी ने भी इसमें बहुत विचार किया है हमारे मत से एक-जीव-वाद इसमें ठीक है. अनेक-जीव-वाद भी वेदान्तविरुद्ध नहीं. इस वाद का सिद्धान्त यह है कि उपाधि से प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है. यदि पचास दर्पण रक्खे जायँ तो उतने ही प्रति-बिम्ब दीख पड़ेंगे. यह प्रतिबिम्बता उपाधि से उत्पन्न हुई. जैसा दर्पण के टूट फूट जाने से प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है उसी प्रकार जिस जीव का लिङ्गशरीरभेद हो जाता है वह मुक्त होता है. अर्थात् एक की मुक्तता अथवा बद्धता अन्य के लिए काम नहीं आती, इसीको आभासवाद कहते हैं. "एकजीववाद" यानी ब्रह्म-किरण यदि पदार्थ पर पड़ते हैं और व्यक्त होकर बिम्ब को ही देखते हैं उस समय बिम्ब ही प्रतिबिम्ब के समान दिखाई देता है

इसमें उपाधि–सामर्थ्य से प्रतिबिम्ब पृथक् उत्पन्न नहीं होता, किन्तु पृथकत्व और बिम्बत्व का भ्रम मात्र होता है. इस मत में अविद्या एक ही है, अर्थात् जीव भी एक है. उभय मतों का तात्पर्य यही है कि भ्रम से ही बिम्ब को प्रतिबिम्बता प्राप्त होती है. यह भ्रम दूर होने के लिए ज्ञान का अभ्यास चाहिए. इस विषय में वेदान्तपरिभाषा का ऐसा उल्लेख है कि "अविद्या एक ही है और उसमें जो चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है उसको "जीव" कहना चाहिए; वैसे ही अन्तःकरण में निर्माण हुए चैतन्य को "जीव" कहना चाहिए." जिस मत में अन्तःकरण अनेक माने गये हैं वहाँ जीव भी अनेक मानना पड़ता है, यही अनेकजीव-वाद है और जो अविद्याप्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव मानते हैं उनके मत के अनुसार अविद्या एक रहने के कारण उसे एकजीव-वाद कहना चाहिए. इसका भावार्थ यह है कि व्यापक चैतन्य को किसी उपाधि से क्यों न हो, प्रतिबिम्बता माने विना उसे जीव अथवा ईश्वर का विशेषण प्राप्त नहीं होता.

१४ दृष्टिसृष्टिवाद :–

वेदान्त में अज्ञान को दूर करने वाले "दृष्टिसृष्टिवाद" और 'सृष्टिदृष्टिवाद' यह दोनों बड़े उपकारक हैं. इसमें यह विचार किया गया है कि क्या प्रथम सृष्टि उत्पन्न हुई और उपरान्त ज्ञान उद्भूत हुआ, अथवा प्रथमतः ज्ञान और अनन्तर सृष्टि? इस सृष्टि को "दृश्य" यह विशेषण दिया गया है, इस कारण से कि यह सृष्टि प्रेक्षणीय अर्थात् दिखाई देने में जितनी रम्य है उतनी भोगने के लिए स्थिर नहीं है. इस विचार के अनुसार पूर्वाचार्य जो "दृष्टिसृष्टिवाद" को उत्तम मानते हैं वही योग्य है.

"दृष्टिसृष्टिवाद" और "सृष्टिदृष्टिवाद" इसका अर्थ यह है कि, सृष्टि उत्पन्न हुई है इसलिए उसमें प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता का व्यवहार भी उत्पन्न हुआ; और सृष्टि ही यदि न हो तो ज्ञेय, ज्ञाता कुछ भी नहीं. इसमें व्यावहारिक सत्ता मानी गई है यानी ज्ञान-दृष्टि से जगत् कोई वस्तु ही नहीं किन्तु सब ब्रह्म रूप ही है, परन्तु यद्यपि यह सत्य है, पर ईश्वर को भी माया का आवरण नहीं चूकता और ईश्वरीय सामर्थ्य से व्यवहारयोग्य सृष्टि उत्पन्न होती है अर्थात् सृष्टि आदि सब कुछ व्यवहार के लिए मूल कारण है और सृष्टि का अस्तित्व ज्ञानी पुरुषों को भी मानना पड़ेगा. अब "दृष्टिसृष्टिवाद" यानी जिन से हम बाधा में पड़ जाते और बन्धन से जकड़े जाते हैं ऐसे विषय अथवा पदार्थ सृष्टि में स्थित हैं इस लिए वह माने जाते हैं और वे पदार्थ ही ज्ञान का विषय बन जाते हैं. सब व्यवहार में प्रथम ज्ञानता (जानकारी) उत्पन्न होती है और अनन्तर समर्पक ज्ञान होने के लिए जो साधन चाहिए वह न होने पर भ्रमाकार पदार्थ दिखाई देता है. अन्धेरे में पड़ी हुई डोरी यदि कोई देखना चाहे तो उस स्थान में दीप और दोषरहित दृष्टि रहने पर उसका सम्यग्ज्ञान होता है; परन्तु केवल ऐसा नहीं, किन्तु यदि किञ्चित् भी कमी पड़ जाय तो मन जैसी आकृति उत्पन्न करेगा वही देखने में आती है. वस्तुतः पञ्चमहाभूत और जगत् ब्रह्म-रूप ही दिखाई देना चाहिए; परन्तु हमारी अविद्या हमें आवृत करती है इस कारण सम्यग्ज्ञान होने नहीं पाता, किन्तु सच्चिदानन्द रूप के बदले जगदाकृति दिखाई देती है. यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि, स्वप्रकाश में अन्धकार रूप अविद्या कैसी उद्भूत हो सकी? इसका उत्तर अन्य ग्रन्थों में ऐसा दिया गया है कि, माया अनिर्वचनीय है और उससे उत्पन्न हुई अविद्या भी कही नहीं जा सकती अविद्या

के इस दोष से ब्रह्म ही जगदाकृति-रूप दिखाई देता है. यह जगत् जो मन को भासता है उसका कारण यह है कि, मानसिक कल्पित पदार्थ का ज्ञान मन में जो सत्वांश है उससे होता है और जो रजांश है उससे भ्रम-पदार्थ की आकृति उत्पन्न होती है. सार-रूप से मन में जो अविद्या भरी हुई है उसका जब तक नाश न हो जायगा जगत् दृश्यमान होता ही रहेगा. तथापि यह जगत् अविद्या से कल्पित है और साक्षिभास्य जो पदार्थ हैं वे ज्ञानसमकाल में ही नष्ट होते हैं इसलिए दृष्टिसृष्टिवाद में प्रातिभासिक सत्ता ही मानी गई है. व्यावहारिक सत्ता कुछ भी नहीं मानी गई. कोई ऐसा भी कहते हैं कि, इस में प्रमाण और प्रमेय की आवश्यकता नहीं है. "दृष्टिसृष्टिवाद" मन में पैठाने के लिए उपर्युक्त विधान ठीक है, परन्तु और एक प्रकार हम बतलाते हैं जो वेदान्त का उपयोगी है.

दृष्टि यानी ज्ञान, चेतन. श्री शङ्कराचार्य जी ने चेतन शब्द को दृष्टि का विशेषण बहुत जगह दिया है. श्रुति ने भी यही कहा है कि "इस दृष्टि का लोप नहीं होता" अर्थात् चैतन्य को दृष्टि मानने से व्यवहारसत्ता में कोई बाध नहीं आता.

"यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" किम्वा

अभारूपस्य विश्वस्य भानं भासन्निधेर्विना ।
कदाचिन्नाऽवकल्पेत भा चाऽहं तेन सर्वग :॥६॥

—(अद्वैतमकरन्द).

अर्थात् – उस चैतन्य के ही तेज से यह सब जगत् भासमान होता है, इसलिए कि वह स्वतः तेजोरूप है. और भी एक ऐसा सिद्धान्त है कि :–

न हि भानादृते सत्त्वं नर्ते भानं चितोऽचित : ॥
चित्संभेदोऽपि नाऽध्यासादृते तेनाऽहमद्वय : ॥७॥
—(अद्वैतमकरन्द).

[भान के व्यतिरिक्त सत्त्व (विना प्रकाश के पदार्थ का सद्भाव) नहीं, विना चैतन्य के जड़-भान नहीं, चित्सम्बन्ध भी विना अध्यास के नहीं इसलिए मैं अद्वय हूँ.]

ऐसा निश्चय होना यहीं वेदान्त की अन्तिम सीमा है. दृष्टि विना सृष्टि नहीं है और विना अवगति के विषयों का अस्तित्व नहीं. जड़ में भासकता नहीं है, अर्थात् जड़ भावना भी चैतन्य-मूलक ही है. इसके अतिरिक्त जो वस्तु दिखाई नहीं देती उसके सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता कि "वह (वस्तु) है." अर्थात् जड़ तो दीख नहीं पड़ता! तब जो जो दिखाई देता है वह सब चैतन्य ही होना चाहिए, यह दृष्टिसृष्टिवाद में भी विशद होता है.

आत्माज्ञानमहानिद्राजृंभितेऽस्मिञ्जगन्मये ॥
दीर्घस्वप्ने स्फुरंत्येते स्वर्गमोक्षादिविभ्रमा : ॥१८॥
—(अद्वैतमकरन्द).

इस श्लोक में तो अज्ञान सब व्यवहार में समान माना गया है. फिर तो जगत् को माया-कल्पित मानने वालों को दृष्टिसृष्टिवाद में मात्र व्यवहारसत्ता अमान्य क्यों होनी चाहिए? उपदेशसहस्री के तत्त्वमसि प्रकरण में यह दीख पड़ेगा कि स्वप्न-सृष्टि में भी प्रमाण-प्रमेय की आवश्यकता है. श्री विद्यारण्यमुनि ने कहा है –

आत्मानंचेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुष : ।

(यदि पुरुष आत्मा को–अपने को "वह मैं हूँ" ऐसा पहचान ले तो (वह)

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१॥

—(पञ्चदशी तृप्तिदीप).

किस इच्छा से और किस सुख के कारण शरीर के साथ आप भी संतप्त होगा?)

इसका अर्थ सङ्कुचित दृष्टि से जीव–भ्रान्ति के उपयोगी होने योग्य लिया गया है, परन्तु इससे भी विशेष उदात्त अर्थ यानी –आत्मज्ञान जिसको हुआ है उसको इच्छा ही नहीं रहती अर्थात् वैराग्यादिक अन्य साधनों की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती.– इस प्रकार का उच्च सिद्धान्त बतलाने वाला अर्थ यदि उसी वाक्य में से निकलता हो तो क्यों न ग्रहण किया जाय? यद्यपि उन्हों (रचयिता) ने ऐसा अर्थ नहीं लिया हो तो भी यदि कोई अन्य उस अर्थ का स्वीकार करे तो उसमें विद्यारण्यस्वामी जी की कोई रुकावट नहीं. इसी न्याय से दृष्टिसृष्टिवाद में भी व्यवहार–सत्ता मानने से किसी प्रकार की हानि नहीं, किन्तु और विशेष अर्थ ही प्रकट होगा! इसलिए उसका यहाँ दिग्दर्शन किया गया है. सार–रूप से साधकों के लिए यह वाद बड़ा उपयोगी है.

१५ राजयोग :–

योग में दो प्रकार हैं :– "राजयोग" और "हठयोग." इनमें से

राजयोग मुख्य है. यह योग सर्व मतों को अनुकूल है और सब के लिए उपकारी है. इस योग में धारणा मुख्य है. धारणा से मनुष्य "नर का नारायण होय" इस वाक्यार्थ का तत्काल अनुभव करता है. यह सत्य है कि :–ईश्वर ने जो सृष्टि निर्माण की है उसमें मनुष्यमात्र को यह योग्यता सहज प्राप्त है और थोड़े यम–नियम–के द्वारा मनोधारणा पूर्ण होने पर अभ्यासी पुरुष सर्वसामर्थ्यवान् हो जाता है. राजयोग के सम्बन्ध में अभी इतना ही कहना है कि जैसे सत्ताप्रदान द्वारा सब सैन्य पर राजा का स्वामित्व बना रहता है उसी प्रकार आत्मसत्ता से सब व्यवहार –इन्द्रियव्यापार होता रहता है यानी ज्ञानविचार होता है. "अन्योन्यं यत्प्रबोधयन् " इस वचन के अनुसार परस्पर में जो ज्ञानप्रदान हुआ करता है उसे "राजयोग" कहना चाहिए. यहाँ योग शब्द सामान्य अर्थ से लिया गया है, यानी :–

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥

—(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ५ ॥ श्लोकार्ध ५)

(ज्ञानमार्ग वालों को जो मोक्षरूपी पद मिलता है कर्मयोगियों को भी वही प्राप्त होता है.)

ऐसे प्रसङ्ग में "योग" शब्द से राजयोग यानी ज्ञानयोग का ही अर्थ लेना चाहिए.

१६ सम्प्रदाय :–

जगत् में यदि देखा जाय तो आनन्द, चैतन्य, प्रकाश और स्वरूप सम्प्रदाय के बहुत से जो साधु, सन्त, सिद्ध दिखाई देते

हैं उन सब का सिद्धान्त एक ही है. थोड़े ऐसे भी हैं जो इसमें कुछ अन्तर भी मानते हैं; परन्तु सम्प्रदाय के लिए सकल पन्थ कल्याणकारी हैं. पर सम्प्रदाय के मूल तक पहुँच जाना चाहिए.

१७ सकलमताचार्य बिरुदावली :—

श्री भक्तकार्यकल्पद्रुम माणिकप्रभु जी ने सकलमताचार्य मे नाम से अपनी बिरुदावली जगाई है (यह बिरुदावली प्रथम पृष्ठ पर मङ्गलाचरण के नीचे सम्पूर्ण उद्धृत की गई है) उन शब्दों के अर्थानुसार इस सम्प्रदाय की पूर्ण स्थिति पहचानने वाले, समझने वाले जो निष्ठावान् हैं उनको "जनीं जनार्दन" (जनता में जनार्दन) की कहावत चरितार्थ होकर वह स्थिति सहज प्राप्त होती है इसलिए इस मत के सम्बन्ध में पूर्ण विचार करके वे अपना जन्म सफल कर लें.

१८ ज्ञान की आवश्यकता :—

ज्ञानविचार की सहायता सब को चाहिए. यद्यपि भक्ति-मार्ग उत्तम हैं तथापि इसका भी विचार करना आवश्यक है कि वह कैसा (उत्तम) है? इस कारण से कि, देवताओं के देवत्व में और भक्तों की भक्ति में भी चैतन्य तो व्यापक होगा ही होगा, बिना चैतन्य के कुछ हो ही नहीं सकता! काल, कर्म, स्वभाव यह सब व्यवहार के ही अनुसार रहने से सृष्टि का नियम और अस्थाइत्व सब जगह सम-समान है, इसी कारण बहुत से महन्तों ने आत्मनिवेदन-भक्ति को ही श्रेष्ठ माना है

(जो १ श्रवण, २ कीर्तन, ३ ध्यान, ४ पाद-सेवन, ५ अर्चन, ६ वन्दन, ७ दास्य, ८ सख्य और ९ आत्म-निवेदन इन नवविधा भक्ति में नौवीं भक्ति है). यहाँ यह बात विशेषता से ध्यान में रखने योग्य है कि, जो आत्मज्ञानी पुरुष है उसको योग, कर्म, भक्ति-मार्ग, मन्त्र, उपासना का समूचा ज्ञान रहता है.

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥
—(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय २).

(बाढ़, नदी या समुद्र आदि के द्वारा सर्वत्र जल भर जाने पर कूँएँ आदि छोटे जलाशयों का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्म-तत्त्व के जानने वाले पुरुष के लिए वेद के सकाम कर्मकाण्ड का उतना ही प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता.)

१९ तत्त्व विवेक :-

तत्त्व-विचार में पञ्चभूत पृथक् पृथक् नहीं हैं किन्तु इन सब तत्त्व रूपों से प्रेक्षणीय ऐसा एक ही परमेश्वर है.

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ! ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
—(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १०).

(हे अर्जुन ! सकल जीवों का जो कुछ बीज है सो मैं ही हूँ,

ऐसा कोई चराचर पदार्थ नहीं है जो मेरे विना हो सकता है.)

यह परमेश्वर का विराट् रूप है, इस विराट् का छोटा रूप यानी हमारा देह और व्यापक आत्मा एक हैं. इसमें "मैं" कहने वाला कोई नहीं यह पहचान जिस किसी पुरुष को हो जायगी अर्थात् "सब का आत्मा मैं हूँ" ऐसा जिसको निश्चय हो जायगा वही सफलमती समझना चाहिए. अतः उसी का जन्म सफल और वह धन्य है !

यह तो सबको ही मान्य है कि, पञ्चमहातत्त्व और संसार भर के समस्त रूप ईश्वर के ही हैं. "जनीं जनार्दन" (जनता में जनार्दन) "सर्व भूतीं भगवद्भाव" (समस्त सृष्ट पदार्थों में भगवद्भाव) इत्यादि वाक्य तो प्रसिद्ध ही हैं! स्वप्न में जिस तरह मारने वाला तद्वत् मारने के साधन यानी कुल्हाड़ी, भाला, तलवार इत्यादि रूप भी इसीके हैं और मार खाने वाला भी यही बनता है. तात्पर्य, रूपान्तर होने का यानी स्वतः अनेक रूप धारण करने का सामर्थ्य जड़ वस्तु में नहीं है. दृष्टान्त :—

मदारी का उत्पन्न किया हुआ आम्रवृक्ष वर्षानुवर्ष रक्षा करने पर भी फल नहीं देता. जिस मदारी ने वह वृक्ष उत्पन्न किया वही यदि चाहे तो फलसहित वृक्ष बतला सकता है. इसी प्रकार से पञ्चभूतों में स्वतः कोई अन्य पदार्थ उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है यानी ऐसा कहना कि "आकाश अपनी शक्ति से वायु उत्पन्न करता है" निरा अज्ञान समझा जायगा. सत्य तो यह है कि, जिस ईश्वर ने स्वयम् बन कर आकाश रूप

दिखलाया, वायु बन कर उसने ही अपना वायु-रूप बतलाया, उसी तरह वायु में तेज उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है, किन्तु ईश्वर ही तेजोरूप बन गया है यानी उसने आत्म-रूप बतलाया है. अर्थात् परमेश्वर, वही नटनागर पञ्चमहाभूतों के वेष से स्वांग-भरा हुआ दिखाई देता है. न कोई पदार्थ उससे पृथक् है और न ही ईश्वरीय सत्ता विना पृथक् सामर्थ्य है. श्री शङ्कराचार्य जी ने इन (पञ्चतत्त्वों) में पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत ऐसे दो भाग बतलाए हैं. समर्थ रामदास जी कहते हैं कि, सूक्ष्म हो अथवा जड़ हो सब पञ्चीकृत ही हैं, अपञ्चीकृत कुछ है ही नहीं. तात्पर्य, यह माया जिसको जैसी दिखाई देती है वह वैसा वर्णन करता रहता है. भाष्य में भी विश्वसृष्टि का वर्णन अनेक प्रकार से लिखा गया है. जहाँ पञ्चीकरण स्वतन्त्र कहा गया है वहाँ इसका स्पष्टीकरण किया गया है कि, किस भूत (तत्त्व) से कौनसा इन्द्रिय कैसा बना. सारांश सकल रूप पञ्चभूतात्मक ईश्वर के ही हैं और ईश्वर ही सब कुछ है.

२० जानकारी (पहचान) एक ही है :—

ऐसा कहा गया है कि, मन और मन की पहचान सब जगत् में एक ही है, इसमें इस प्रकार की बहुत सी शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं कि एक की मनस्थिति अन्य को नहीं जान पड़ती, एक का दुःख दूसरे को नहीं होने पाता, एक मुक्त होता है तो कोई एक बद्ध का बद्ध ही रह जाता है; एकता तो परमेश्वर का स्वभाव और अनेकता माया का स्वभाव है, वैसा ही सर्व

व्यक्तियाँ यदि स्वतन्त्र १ उत्पन्न होती हैं तो ऐसा क्यों नहीं मानना चाहिए कि उनके कर्म, धर्म, गुण, स्वभाव, ज्ञानशक्ति (पहचान) पृथक् हैं. यदि जानकारी एक ही है तो भला एक के मनोवृत्ति का ज्ञान दूसरे को क्यों नहीं होना चाहिए! इसका उत्तर यह है कि, वेदान्त-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार आत्मा स्वार्थ है; यानी वह अपने सामर्थ्य से सब विषयों को-तदाकार वृत्तियों को अपनी ओर खींच लेता है और सब व्यवहार आत्मा में ही लीन होते हैं यह अनुभवसिद्ध सत्य है. सुषुप्ति में इसका अनुभव तो सब ही करते हैं. यहाँ ऐसा कहना पड़ता है कि, आत्मा सबका एक और सर्वव्यापी रहने से सब प्रकार की पहचान और जानकारी के सकल व्यापार आत्मा की ओर से ही हुआ करते हैं और उनका यजमानत्व अथवा कर्तृत्व सब कुछ आत्मा की ओर ही निश्चित हो जाता है. इसपर यह आक्षेप आता है कि, सबका आत्मा

टिप्पणी :-१ स्वतन्त्र अर्थात् किसी गुण को अथवा जो प्रत्यय-रूप पदार्थ भासमान होता है उसको अस्ति, जायते, वर्धते इत्यादि षड्विकार जो होते हैं वे जिसके उसको ही बद्ध होते हैं यानी कामक्रोधादिक जो अनेक स्वभाव हैं उनमें से किसी एक का यदि नाश हो जाय तो सबका नाश नहीं होने पाता. किसी में क्रोध अधिक हो तो किसी में लोभ अधिक होता है, यह स्पष्ट प्रतीत भी होता है. अर्थात् सब पदार्थों के रूपान्तर अपने अपने उत्पत्ति नाशके अनुरूप जो होते हैं उस विषय में अन्य की अपेक्षा नहीं. तात्पर्य, एक का नाश होने पर अन्य का नाश न होते हुए स्वतन्त्र प्रकार से अस्तित्वादि धर्म के वे हिस्सेदार (भाग-ग्राही) होते हैं परन्तु वह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु इनकी स्वतन्त्रता प्रासङ्गिक हुआ करती है. वेदान्त में ऐसा नियम है कि, चैतन्य के अस्तित्व से ही सबका अस्तित्व है.

अथवा अन्तःकरण एक होते भी एक का ज्ञान किसी अन्य को क्यों नहीं होता? इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि :- यद्यपि कर्ता यजमान, भोक्ता एक ही रहे तो भी भोगसाधन-सम्पत्ति जैसी जैसी होगी उसके अनुसार क्रिया होती रहती है. उदाहरणार्थ :- श्रोत्र, चक्षु, घ्राण इत्यादि सकल इन्द्रियों का भोक्ता यदि एक ही रहा तो भी एक इन्द्रिय को दूसरे इन्द्रिय के विषय का ज्ञान नहीं होता. क्यों कि क्रिया रूप से जो भाग होता जाता है उस समय उस उस विषय पर उसका परिणाम होता रहता है. मन में जो आत्म-तेज रहा करता है उसको उस विषय का भोग होता है, अर्थात् अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य ही विषय का भोक्ता बन बैठता है. केवल चैतन्य तो अक्रिय है। चैतन्य जिस बुद्धि पर आरूढ हुआ हो वह बुद्धि जो आकृति धारण करेगी उस आकृति को, उस विषय को आत्मा जिस समय आत्म-ज्योति से प्रकाशित करता है उस समय उस आत्मज्योति को अवगति कहते हैं. तात्पर्य, कूटस्थ चैतन्य का प्रकाश पड़े विना विषयावगति नहीं होती, अर्थात् "मैं ने विषय को जाना" यह बोध नहीं होने पाता. अस्तु; इसमें एक बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि, प्रमाणभूत पण्डित कहते हैं कि प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता इन (तीनों) में बसा हुआ चैतन्य अर्थात् प्रमातृ, प्रमेय और प्रमाण-चैतन्य इनका अभेद हुए विना प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता. यद्यपि चैतन्य एक ही सही, तथापि वह अक्रिय है और जो भेद दीख पड़ता है उसका कारणीभूत उपाधि-भेद ही हुआ करता है. अस्तु; सर्वज्ञता अथवा अल्पज्ञता यह सब उपाधि जैसी कुछ निर्मल

अथवा मलिन होगी उसपर अवलम्बित रहती है. इसी कारण जिनके अन्तःकरण की उपाधि अत्यन्त स्वच्छ, निर्दोष और व्यापक होगी उनको त्रैलोक्य का भी ज्ञान सहज होता है. श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि "मुंगीचें मनोगत जाणणें। स्वर्गीचे बोल ऐकणें" (पिपीलिका (चिउँटी) का मनोरथ पहचानना, स्वर्ग की बातें घर बैठे सुनना इत्यादि प्रमाणों पर से चैतन्य एक ही रहता है तथापि यह प्रत्यक्ष है कि उपाधिभेद के कारण सामर्थ्यभेद हुआ करता है. इस सम्बन्ध में एक कथानक है जो इस प्रकार कि :-

एक समय श्रीदत्तमहाराज में और गोरक्षनाथ में वाद विनोद हुआ. गोरक्ष को अपने सामर्थ्य का कुछ गर्व सा हो गया था. अन्त में यह ठहराव हुआ कि दोनों में से कोई एक छिपके बैठे और अन्य उसे ढूँढ निकाले. इसी पर हार और जीत निर्णीत हुई. प्रथमतः गोरक्षनाथ ने मेंडक का रूप धारण कर समुद्र में गहरा गोता लगा छिपे बैठे, सर्वज्ञ श्रीदत्तप्रभु ने तुरन्त ही खोज पा गोरक्ष को बाहर निकाला, इसके अनन्तर जब प्रभु के छिपने की बारी आई, उस समय प्रभु ने गोरक्ष का ऐसा शक्तिपात किया और उनपर स्वसामर्थ्य का ऐसा बोझ डाला कि गोरक्ष को श्रीदत्तप्रभु का कोई भौतिक स्वरूप कहीं भी दिखाई नहीं दिया. प्रभु के खोज में उन्हों ने सारा त्रैलोक्य ढूँढ मारा, फिर भी कहीं पता न चला. अन्त में चढ़ा हुआ उनका गर्व पूरा उतर गया और वह बहुत दुःखी होकर आक्रोश करने लगे. उस समय उनके गुरु श्री मच्छेन्द्रनाथ ने प्रकट होकर दुःख का कारण पूँछा. गोरखनाथ ने अपना साद्यन्त वृत्त उन्हें सुना कर कहा कि, उस महापुरुष का मुझे पता न लगने से मैं अत्यन्त दुःखी

हो गया हूँ. यह सुन कर मच्छेन्द्रनाथ ने हास्य किया और कहा :-हे वत्स! आदिनाथ श्रीदत्तात्रय जी ने तेरा गर्व हरण करने के लिए तुझे दर्शन दिया और तुझ से वाद छेड़ा. अब गर्व छोड़ दे और दीन वाणी से प्रार्थना कर तो श्रीदत्त यहीं प्रकट होकर तुझ पर कृपा करेंगे. उसी प्रकार प्रभु की शरण में जा दीन होकर प्रार्थना करते ही तत्काल प्रभु प्रकट हुए और उन्हें दर्शन दिया, उस समय गोरक्षनाथ ने विनीत पृच्छा की कि, हे प्रभो! आप कहाँ थे? मैं ने आपके कारण त्रिखण्ड ढूंढ मारा परन्तु आपका पता न चला, यह क्यों और कैसा? प्रभु ने उत्तर दिया कि :-हे वत्स! मैं तो तेरे ही हृदय में आत्मरूप बन कर स्थित हुआ था, तूने बाह्य जगत् में सर्वत्र मेरी खोज की, परन्तु आत्म-विद्या का ज्ञान न रहने से तेरे स्वयम् हृदय में ही मेरा निवास रहते हुए भी मैं तुझे दीख न पड़ा. इसी कारण आत्मविद्या ही सबसे श्रेष्ठ है. यह सुना कर प्रभु ने उनको आत्म-विद्या का उपदेश दिया. इस उदाहरण से यह निश्चित हुआ कि, जो ईश्वरी अवतार होते हैं उनको माया के विक्षेप-शक्ति की तनिक भी बाधा नहीं हुआ करती. अतएव वह सर्वज्ञ कहलाते हैं

अब जिनकी उपाधि अविद्या दशा को प्राप्त हुई है अर्थात् मालिनसत्वप्रधान है उनको जिस प्रकार से कि तिमिर अथवा नेत्र दोष से एक वस्तु के अनेक रूप दिखाई देते हैं वैसे ही सदैव हर एक के अनेक रूप ही भासमान होते रहते हैं और वैसा उसका अभिमान भी उत्पन्न होता रहता है. उसी प्रकार दृष्टि भी अल्प बन जाती है और सर्वकाल "मैं देही, मैं देही" इसी भावना से मनोव्यापार हुआ करते हैं और उसी देह के परि-पालन में ही उनका सारा काल व्यतीत होता है.

तात्पर्य – सिद्धान्त यह है कि, व्यापकता और सङ्कोच यह दोनों वृत्ति के ही धर्म हैं. आत्मा को तो इस मल का स्पर्श तक नहीं हो सकता. अविद्या-वेष्टित जीव का ज्ञान पञ्चकोश के आवरण से मलिन होकर विक्षेप-शक्ति के सामर्थ्य से दूषित बना रहता है इसी कारण आत्मा और उसकी पहचान एक होने पर भी एक व्यक्ति का मनोज्ञान दूसरे व्यक्ति को नहीं होने पाता. ईश्वर के लिए तो सर्वज्ञता मूलतः ही रहा करती है.

उसमें भी कितने अविद्या को एक मानने वाले और कितने ही अनेक मानने वाले हैं. जो ऐसा मानते हैं कि 'अविद्या एकही है वह अपने विक्षेप-शक्ति के बल से अनेक सूक्ष्म शरीरों में रहा करती है' वे एकजीववादी हैं और जो ऐसा कहते हैं कि "अविद्या ही अनेक प्रकार की है तथा उसके प्रतिबिम्बित जीव भी अनेक हैं" वे अनेकजीववादी हैं. इस वाद का विशेष स्पष्टीकरण अनेक पुरुषों ने विस्तार पूर्वक किया है, जो जिज्ञासु हों वे "विचार-सागर" ग्रन्थ देखें.

एकजीववाद पर कोई ऐसा आक्षेप कर बैठते हैं कि –अविद्या यदि एक ही है तो "एको मुक्तः सर्वमुक्तिप्रसंगः" एक की अविद्या नाश होने पर यदि वह मुक्त हो जाय तो सभी को मुक्ति प्राप्त होनी चाहिए, परन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता. अतएव अनेक अविद्या माननी ही योग्य होगी. इस आक्षेप का एक ऐसा भी समाधान कथन किया जाता है :–जैसे कि एक ही रस्सी में अनेक पशु बान्धे जाते हैं; परन्तु जिसका फन्दा खुल जायगा वही जानवर मुक्त होता है और उर्वरित ज्यों के त्यों बन्धे रहते हैं.

यद्यपि सबका पाश एक ही प्रकार का रहा करता है तो भी अपने अपने सामर्थ्य से ही अपने गले का पाश छुड़ा लेने का सामर्थ्य प्रत्येक पशु को पृथक् पृथक् प्राप्त है. इसलिए अविद्या यदि एक मानी जाय तो कोई बाध नहीं है. अस्तु; उसी प्रकार पहचान अथवा अन्तःकरण एक ही रहा तो भी जिस प्रकार से एक ही पानी जिस जिस वृक्ष के मूल में से बहता हुआ आया हो उस उस वृक्ष का गुण, दोष उतरता हुआ उसमें समा जाने से वह जल उसीके अनुसार खट्टा, मीठा, खारा, कडुवा अथवा विषैला बन जाता है. वैसा ही अन्तःकरण भी यदि एक ही हो तथापि वह जिस जिस पापी अथवा पुण्यवान् सदृश वृक्ष पाषाणादिकों में भी रहता है, उसी प्रकार से उच्च, नीच क्रिया उससे हुआ करती है. वृक्ष-पाषाणादिकों में भी चैतन्य रहा करता है यह अब सप्रमाण सिद्ध और सर्वमान्य भी हो गया है. तात्पर्य इतना ही है कि, उपाधि-भेद से ही परस्पर का भोग परस्पर को हो नहीं सकता.

इस पर भी यह शङ्का प्राप्त होती है कि -यह आवरण, यह अज्ञान क्या ब्रह्माश्रित है किम्वा अन्तःकरण के आश्रय से रहता है? इसका उत्तर उपनिषद् में एक जगह पर ऐसा दिया गया है कि "काम-क्रोधादि सब प्रकार के विकार बुद्धि के ही आश्रय से रहते हैं, आत्मा से उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता."

इसपर भी एक बड़ी भारी शङ्का जो प्राप्त होगी वह इस प्रकार कि, ब्रह्मज्ञान हुए विना मूल अज्ञान का निरसन नहीं होता, ऐसा तो वेदान्त-सिद्धान्त का डिण्डिम है; अब यदि

ऐसा मान लें कि, यह अज्ञान ब्रह्म का आश्रय कर नहीं रहता किन्तु बुद्धि के आश्रय में रहता है तो फिर ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने की आवश्यकता भी नहीं रहगी ! इस कारण से कि जिस पदार्थ का हमें ज्ञान ही नहीं होता हो केवल उस पदार्थ की ही जानकारी हम प्राप्त कर लें तो पर्याप्त है. उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ का ज्ञान भले ही प्राप्त कर लें तो भी मूल पदार्थ का अज्ञान कैसा मिट सकेगा ? यह विषय बहुत गहन और बड़ा ही भारी है तथापि उसका कुछ थोड़ा विचार यहाँ किया जाता है. पञ्चदशीकार ने कहा है कि –

"ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षता"

—(पञ्चदशी, तृप्तिदीप. श्लोकार्ध ९२)

(ब्रह्मविषयक जो अज्ञान है उसका नाश होने के लिये बुद्धिव्याप्ति की आवश्यकता है.) ब्रह्म अनन्त रहते भी यहाँ वृत्तिव्याप्ति का विधान किया गया है; यह ध्यान में रखना चाहिए

अब थोड़े में यदि कहा जाय – सिद्धान्त पर से तो ब्रह्म स्वतःसिद्ध एक, अखण्ड, अनुभवरूप और सर्व काल प्रकाशमान है. श्री शङ्कराचार्य जी ने उपदेशसहस्री के अन्त में कथन किया है कि –

" न निरुक्तिगोचरम् "

अस्तु, इसपर भी कोई आक्षेप कर बैठेंगे कि, जब आत्मरूप स्वतःसिद्ध और सर्वानुभूत है तब इस उपदेश के आ[illegible] , व्याख्यान

और आडम्बर का कारण ही क्या ? उसका उत्तर यह है कि–उपदेश का क्रम केवल अन्तःकरण का मल दूर करने के लिए है:

" आत्मा न जजात न मरिष्यति "

आत्मा कभी उत्पन्न नहीं हुआ अतः उसको मृत्यु भी नहीं आती. वह न कहीं चला गया है और न ही कहीं से आयगा. उपदेश से तो वह नया बनाया नहीं जाता अर्थात् उपदेश का सामर्थ्य केवल अन्तःकरण का मल निवृत्त करने की मर्यादा तक ही है.

वेदान्त-पण्डित महाशय ! वेदान्त की यह रीति, सदा की परीपाटी भी है कि, प्रथम किसी वस्तु पर आरोप कर बैठना और उपरान्त उसका अपवाद कह कर उस आरोप का परिहार कर देना, यही क्रम आद्योपान्त चला आ रहा है.

" अध्यारोपापवादाभ्याम् "

इसी रीति के अनुसार आप सकल व्यवहार का आरोप ब्रह्म पर किया करते हैं और फिर उसका अपवाद कह कर निरसन भी करते रहते हैं, तो इसी दृष्टि का अवलम्ब करके अज्ञान का आरोप भी ब्रह्म पर किया जाय तो वह क्यों वेदान्तबाह्य कहला सकेगा ? अस्तु, हम तुरन्त उसका विचार यहाँ नहीं करना चाहते. "पहचान एक है" इस सम्बन्ध में हमारा इतना ही कहना है कि आत्मा –अन्तःकरण एक है. जिसके अन्तःकरण का मल नष्ट हो चुका हो और ज्ञान का उदय हो गया हो उस पुण्यभाग

के शरीर में फिर अज्ञान झाँकने नहीं पाता. "मैं नित्यमुक्त हूँ" यह उसका अनुभव सदा ज्यों का त्यों बना रहता है अर्थात् ईश्वर और जीव का अन्तःकरण एक रहने पर भी सङ्ग-दोष से "मैं जीव हूँ" ऐसा भास होता है. और जब वहीं अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तो यह अनुभव आता है कि "मैं सर्वरूप हूँ" यह विधान आत्म-विद्या के अभ्यासी जनों को बहुत उपकारी होगा. इसी लिए किसी का दूषण, भूषण, आक्षेप अथवा भय न मानते हुए उपकार-दृष्टि से और ईश्वरार्पण-बुद्धि से इस स्थान पर स्वानुभव कथन किया गया है. साधक जन इसको अवश्य ध्यान में रख कर इसका मनन करें.

अब यहाँ इतना ही लिखना है कि, अनेकता जैसी कल्पित है वैसी ही एकता भी काल्पित है अर्थात् यह वाद कोई प्रबल और दुर्घट नहीं; परन्तु सर्व पदार्थों की पूर्ण मिथ्यासिद्धि होने तक एकानेकत्व मानना ही पड़ता है; क्यों कि एकत्व और अनेकत्व परस्पर सापेक्ष हैं. इसपर से जानकारा (पहचान) एक मानना सयुक्तिक है.

२१ इस ग्रन्थ में विशेष क्या है?

कोई भी पूछेगा कि इस ग्रन्थ में विशेष क्या है? तो इधर दृष्टि दीजिए कि प्रारब्ध-प्रयत्न-वाद का वर्णन "देवीभागवत" में भी आया है, परन्तु हमारे सिद्धान्त में प्रारब्ध और प्रयत्न दोनों एकरूप हैं. अर्थात् इस वाद की यहीं समाप्ति हुई! अब

जो प्राय: सभी कहते हैं कि अन्धेरा और उजियाला दोनों भिन्न भिन्न (परस्पर-विरोधी) हैं और उसीमें हम रहते हैं, हमारा सारा व्यवहार चल रहा है; परन्तु हमारे मत से यह दोनों एक ही पदार्थ हैं. यदि यह सिद्धान्त पाठकों के हृदय में धँस जाय तो भला कितना बड़ा फ़ायदा, कैसा महल्लाभ होगा! यह मार्मिक विचार और ऐसी रहस्यपूर्ण बातें ध्यान में आ जायँ और सभों को सहज अनुभव प्राप्त हो जाय इस हेतु से इस ग्रन्थ की रचना की गई है. अस्तु.

विशेष विस्तार यानी जैसा जैसा काल व्यतीत होता रहता है, युग बदलता जाता है उस प्रकार से मनुष्यमात्र के शक्ति, सामर्थ्य, मेधा, बुद्धि, धारणा में घट बढ़ हो जाती है और उसके अनुसार विषय कहना आवश्यकीय हो बैठता है, जैसा कि वैद्यक-ग्रन्थ में बड़ी बड़ी मात्राएँ औषधियाँ लिखी हुई हैं और मानो कि मात्राएँ भी पास हैं, तो भी प्रकृति का हाल देखे समझे विना उन औषधियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता. तद्वत् भारत, भागवत, योगवासिष्ठ, रामायण, ब्रह्म-गीता, शारीरभाष्य इत्यादि ग्रन्थों का उपदेष्टा के सन्निध यथेष्ट संग्रह भी है, तथापि शिष्यों के विचार-शक्ति को देख भाल कर ही उपदेश देना चाहिए. जैसा कि अपराध सिद्ध हुए विना दण्ड की अवधि नहीं ठहराई जा सकती उसी प्रकार से किस प्रसङ्ग में किस मनुष्य को क्या उपदेश देना चाहिए यह ग्रन्थ का कार्य नहीं है किन्तु उसके लिए गुरु अथवा उपदेशक के शरण होना आवश्यक है. शिक्षकों को भी चाहिए कि शिष्य की बुद्धि,

मेधादिक के शक्त्यनुसार उपदेश देते रहें. एवम् प्रकृतिमान जैसा बदलता जाता है तद्वत् विषयासक्ति के प्रमाण पर से विचार भी बदलते रहते हैं अर्थात् ग्रन्थों का प्रकार, ढङ्ग भी बदलना आवश्यकीय है. किसी विषय को यानी ज्योतिष, वैद्यक, गायन व्यवहार, कानून, प्रायश्चित्तादिक ग्रन्थों का कालमानानुसार संस्कार कर रखना पड़ता है. इसी कारण यह हमारा प्रयत्न है. हमारे ग्रन्थ में ऐसा निर्बन्ध नहीं कि साधक इसी प्रकार का रहना चाहिए अथवा उसकी और गुरु की भी लक्षणाएँ अमुक अमुक प्रकार की ही रहनी चाहिएँ (जैसा कि अन्य ग्रन्थों में प्रायः बतलाई गई हैं). हमारा तो अभिप्राय है कि, यदि साधक कॉलेज में भी आत्मविद्या सम्पादन करके उसमें प्रवीण हो जाय तो भी उसने अपना. हित ही साध लिया इसी प्रकार से अनेकों का जो ऐसा आभिप्राय है कि – "ज्ञान और अज्ञान यह दो पदार्थ हैं" कोई कहते हैं कि "विरोधी हैं" तो उनके सन्मुख हमारा यह निवेदन है कि 'दोनों एक (पदार्थ) हैं, एक ही ज्ञान के वे रूपान्तर हैं" क्या यह विशेष और अनोखा नहीं है? जगत् में सभी अज्ञानी हैं ऐसा जिनका अभिप्राय है उनको साधारणतः यदि यह बतलाया जाय कि सभी आत्मज्ञानी हैं, आत्मा का कभी लोप नहीं होता तो क्या यह विशेषता नहीं है, अनेक जन्म अति आयास और कष्ट उठा कर, प्रयत्न पूर्वक मुख्य पुरुषार्थ यानी मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए ऐसा कहने और जताने वालों के सामने "सभी नित्यमुक्त और सहज-मुक्त हैं", यह कहना क्या निरा विशेष नहीं है? साधन-सम्पत्ति विना,

संन्यास स्वीकार किए विना कोई ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी ही नहीं होता ऐसा जो आग्रह पूर्वक कहते हैं उनसे यह दृढ़ता पूर्वक कहना कि सब लोग हीं अधिकारी हैं" क्या विशेष नहीं है? अस्तु

इसी प्रकार के अनेक रहस्य इस ग्रन्थ का वाचन, मनन करने से समझ में आ जाएँगे. हमारा यह डङ्का-निनाद है कि, हम सब अद्वैती हैं, हम अपना दूषण, भूषण, विचार अथवा पूर्व ग्रन्थों की कमी दोषदृष्टि से नहीं बतलाते हैं किन्तु इससे यही हेतु है कि अपनी विद्या की वृद्धि होती जाय, और भावी शिक्षक जो होंगे वे मुमुक्षुओं को कुछ विशेष सिखला सकें. व्यवहार में यह प्रसिद्ध उक्ति है कि 'पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' यानी पुत्र हमें जीत ले और हमारा पराजय उसके हाथों हो जाय! यह प्रार्थना वृद्ध लोग ईश्वर से किया करते हैं. देखिए! कि अद्वैत, अभेद, सकलमताचार्य ऐसे जो शिक्षक हैं उनके दृष्टि को तो द्वेष, अन्यभाव, वाद, कुतर्क इत्यादि जगत् में दीख ही नहीं पड़ते. अज्ञान कहीं नाम को भी नहीं है यह जिनका सिद्धान्त है उनका भाषण यद्यपि किसी प्रकार का भी हो तो भी प्रेम में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं आता यह निश्चित समझना चाहिए. हम अभिमान से प्रेरित हो कर ग्रन्थ की रचना नहीं कर रहे हैं किन्तु यह एक ईश्वर-सेवा ही है ऐसा दृढ़ निश्चय के साथ समझते हैं.

२२ ज्ञानी सृष्टि के परिपाटी का विरोधी नहीं है:-

श्री कृष्ण कहते हैं कि -

> सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
> प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥
>
> —(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ३)

(ज्ञानी जन भी अपनी प्रकृति के अनुरूप ही चेष्टा करते हैं, समस्त जीव प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं, अतः बलात्कार अथवा जबरदस्ती से प्रकृति के रोकने में क्या फल होगा?)

इस पर से विदित होगा कि, ज्ञानी लोगों के भी व्यवहार भिन्न भिन्न रहा करते हैं. कोई त्यागी होता है तो कोई भोगी, भिक्षुक, वैदिक, श्रोत्रिय इत्यादि अनेक प्रकार के दीख पड़ते हैं. उसी प्रकार ऐसा भी कोई भावार्थ नहीं है कि ज्ञानी फिर जन्म नहीं पाते, कारण श्रीमदाचार्य भी कहते हैं कि अधिकार-कार्य पूर्ण हुए तक देवादिकों को भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती, पर मुख्य जो सनकसनन्दन, शुक, नारद यह तो पूर्ण ज्ञानी रहते भी सदाकाल जगदुद्धार के लिए अवतार धारण करते हैं. इस पर यह कैसा कहा जा सकेगा कि ज्ञान होने पर वे जन्म नहीं लेते. श्री विद्यारण्यमुनि ने कहा है कि :–

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किंतु मिथ्यात्वनिश्चयः ।
नो चेत्सुषुप्तिमूर्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः ॥१३॥

—(पञ्चदशी चित्रदीप).

(बाध शब्द इस अर्थ से नहीं है कि, जगत् और जगद्भाव इनकी प्रतीति न आए किन्तु ऐसा निश्चय होना कि वे मिथ्या हैं "बाध" कहलाता है. कारण, यदि ऐसा न होता तो लोग निद्रा, मूर्छा इत्यादि अवस्थाओं में आप ही आप मुक्त हो जाते).

ऐसा नहीं कि ज्ञानी को जगत् दिखाई नहीं देता किन्तु अज्ञानी को जगत् सत्य जान पड़ता है तो उसके विरुद्ध ज्ञानी को

विदित रहता है कि यह जगत् मिथ्या है. ज्ञानी पुरुषों को सञ्चित की बाधा नहीं होती. कारण, उनके दृष्टि से यदि पूर्व-जन्म ही मिथ्या निश्चित हो चुके तो अर्थात् भावी (होने वाले) जन्म भी मिथ्या ही ठहरेंगे! ऐसा मान लिया जाय तो सृष्टि के परिपाटी का ज्ञानी विरोधी नहीं होता. मायिक रूप से जब कि सृष्टि का कारखाना यथावत् चला ही रहता है, सृष्टिकार्य किञ्चिन्मात्र भी नहीं रुकता तब ऐसा न समझना चाहिए कि ज्ञान का फल ही क्या है? क्यों कि जीव-दशा में जो ज्ञान की आवश्यकता रहती है वह भ्रान्तिकालिन अज्ञान का निरसन करने कारणीभूत होता है. जिसका अज्ञानांश तक जल गया और जिस अधिकारी शरीर में ज्ञान-कला का उदय होकर उज्ज्वल प्रकाश पड़ गया उसके लिए तो जन्म, मरण कल्पित हैं! श्रीकृष्ण जी कहते हैं:-

> बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।।
> तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।।५।।
>
> – (श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ४).

(हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं, मैं उन सबको जानता हूँ, तुम नहीं जानते हो). अर्थात् ज्ञानी न उत्पन्न होता, न हुआ है और न होगा. जन्म लेने वाले पञ्चमहाभूतों के साथ ज्ञानी पुरुष का कुछ भी सम्बन्ध नहीं. इस विषय में और एक विचार इस प्रकार का है कि ईश्वर जगत् को निर्माण करके सब प्रकार के व्यवहार इत्यादि सब कुछ करता ही है; परन्तु उसको कोई बद्ध नहीं कहता. उसी प्रकार देवादिक

अवतार भी लेते हैं, पर उनको जन्म-मरण का दुःख यत्किञ्चित भी होने नहीं पाता. सब की अन्तिम पूर्णता यानी ब्रह्मरूप होना है, इससे बढ़ कर कोई उच्च अवस्था नहीं है, परन्तु जिस स्थिति को साधक प्राप्त कर लेता है उसी स्थिति से सृष्टि व्यक्त होती है अर्थात् प्रपञ्च के व्याप और ताप से जो स्थिति प्राप्त कर ली जाती है वही प्रपञ्च का मूल है. इस लिए प्रपञ्च के समूल नाश की इच्छा ज्ञानवानों को होती ही नहीं. ज्ञान-दृष्टि से प्रपञ्च न कभी हुआ और न होता भी है किन्तु जो कुछ दीख पड़े वे समझते हैं कि यही शक्ति है. इस दृश्य जगत् को ब्रह्म अपने शक्ति से उत्पन्न करता है. कोई कहेंगे कि "जगत् जिससे उत्पन्न होता है वह ब्रह्म निराला है और मुक्त लोग जिसमें एकरूप हो जाते हैं वह ब्रह्म कुछ और है, परन्तु यह शङ्का अल्पज्ञों के दुर्बल-बुद्धि की उपज है. ब्रह्मस्वरूप में विभाग रहता ही नहीं! सभी आचार्य परमेश्वर को एक ही मानते हैं. अनेक ईश्वर ऐसा शब्द-प्रयोग भी नहीं बन पड़ता तो प्रपञ्च को उत्पन्न करना, उसका पालन, पोषण करना यह ईश्वर के अधिकार में ही है. अर्थात् ईश्वर ज्ञानसम्पन्न, नित्यमुक्त रहते हुए सृष्टि का व्यवहार भी बराबर चलाया करता है. यद्यपि जो जीव ज्ञानी हैं उनकी वासना नष्ट हो जाने से उनको फिर जन्म नहीं प्राप्त होता यह बात सत्य है; जिनकी वृत्ति ब्रह्म में लीन हो गई और शरीर से जिनका छुटकारा हुआ वे ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं यह भी सत्य है, परन्तु जिनको अनेक जन्म-जन्मान्तर में भी अज्ञान के अंश का तक सम्पर्क नहीं हुआ ऐसे महादक्ष, नित्य सहजमुक्त रहते भी लीलाविग्रह धारण कर संसार भर में सञ्चार करते रहते हैं. फिर तो वे योनिसम्भव क्यों

न हों अथवा अयोनिसम्भव ही, वे ज्ञानविग्रही हैं. जिन महापुरुषों में सृष्टि उत्पन्न करने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ है, जैसे –शुक्राचार्य, सनकादिक इनकी उत्पत्ति मानो कि सृष्टि का उत्पन्न होना और इनका नाश जानो कि सृष्टि का प्रलय होना है. जिनके हृदय में आत्मरूप, अचल, निर्मल, स्पष्ट स्फुरता है उनकी योग्यता विदेह–मुक्तों से भी अधिक माननी उचित है.

यहाँ यह विचार करना अत्यन्त आवश्यक है कि ज्ञानी जनों को सृष्टि का कार्य –होना, मिटना, भोग, बन्धन, षड्विकार आदिक विषयों से किञ्चिन्मात्र भी द्वेष नहीं रहता क्यों कि वे सदा सर्वकाल आत्मरूप बने रहते हैं. आत्मस्वरूप में और ज्ञान में यत्किञ्चित् भी भेद नहीं है. सर्व उपनिषदों और आनुभाविक ग्रन्थों में यही कहा गया है कि आत्म–स्वरूप से ही सृष्टि होती जाती है. सत्य, ज्ञान, सुखरूप, नित्य असङ्ग, व्यापक यह सर्व लक्षणाएँ आत्मा की ही हैं. जब हम ज्ञानी को ही आत्मरूप मानते हैं तो अर्थात् ज्ञानी अपने सहज लीला से सृष्टि उत्पन्न करेंगे! यानी वे स्वयम् जन्म लेंगे और फिर मूल रूप में विलीन भी होते रहेंगे इसमें अचरज की कोई बात नहीं. ज्ञानी पुरुषों को जन्म–मरण प्राप्त होते रहें तो भी वह आनन्दरूप ही रहते हैं क्यों कि उनका ऐसा निश्चय रहा करता है कि "हम सब आत्मरूप हैं, व्यापक हैं, आनन्दरूप हैं" आत्मा जनन–दोष से अलिप्त है, मात्र शरीर ही जन्म पाता है जैसे –दूध से दही बनता है उस प्रकार से कई जन्म क्यों न हों आत्मा का परिणाम अर्थात् रूपान्तर नहीं हुआ करता. ज्ञानी जनों को विषयों के भोग से सुखदुःख

होने नहीं पाते, क्यों कि उनका ऐसा दृढ़ निश्चय रहता है कि, जड़ विषय में तो आनन्द रहता नहीं, आनन्दरूपता जड़ की नहीं किन्तु आत्मा की है. फिर भी यह प्रश्न उपस्थित होगा कि "एक का स्वभाव दूसरे के स्वभाव से क्यों नहीं मिलता?" इसमें यह मर्म है कि:- ज्ञानी पुरुषों के शरीर में के अज्ञान का रूपान्तर हो जाने से आवरण-शक्ति, विक्षेपता अथवा अहत्त्व अंशतः भी नहीं रहता. सारांश, सत्तामात्र है इस लिए उनको ईश्वर कहते हैं, उस सत्ता से सकल सृष्टि की उत्पत्ति और पालन पोषणादि क्रियाएँ होती रहती हैं. तद्वत् जो ईश्वरावतारी हैं उनका शरीर अविद्या का परिणाम नहीं कहा जाता किन्तु ईश्वरीय अवतार के भाँति वे मायिक शक्ति से उत्पन्न होते हैं. उनमें भ्रम, विक्षेप, आवरण होने ही नहीं पाता. यह बात साधक अवश्य ध्यान में रखें. यह सत्य है कि, ईश्वर ही अज्ञान से आवृत्त हो कर जीव बनता है तथापि सृष्टि के सर्व पदार्थ जिस प्रकार से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अज्ञान भी उत्पन्न होता है, परन्तु उसकी व्याख्या यहाँ हमें नहीं करनी है, किन्तु ज्ञानी जनों को जन्म किस तरह नहीं होता यह बात विचार द्वारा निश्चित कर लेना है.

२३ सहजमुक्तिप्रशंसा :-

"ईश्वर सहजमुक्त है" इस वेदान्त-सम्प्रदाय में विशेष विचार करने योग्य यह है कि, यह आत्मविद्या वस्तुतन्त्र

(वस्तु–ब्रह्म, आत्मा) रहने के कारण इस विषय में मतभेद हो ही नहीं सकता और इसमें उपदेश–मार्ग का हेतु भी एक ही है इस कारण से कि सृष्टि के उत्पत्ति से लेकर उसका लय होने तक वेदान्त की व्याख्या और उसका फल कभी नहीं बदलता. अब यह विचार कि, ब्रह्मप्राप्ति के लिए अपने अपने रुचि के अनुसार यत्न करना ही चाहिए; परन्तु यह सिद्धान्त है कि विदेहमुक्ति, जीवन्मुक्ति इत्यादि संस्कार वृत्ति को ही होते हैं,

आत्मा को कोई संस्कार नहीं होता न किसी का आत्मा कभी बिगड़ता है न बिगड़ा था न ही बिगड़ने वाला है. यह बोध ध्यान में अच्छी तरह पैठाने के लिए श्री जगद्गुरुवर्य आचार्यजी ने "तत्त्वमसि" वाक्य – विवरण में अविद्यावेष्टित जो ज्ञानचैतन्य है उसके सम्बन्ध में एकबारगी निर्विकल्प, निर्गुण, निःशब्द, अनिर्देश्य, अप्रमेय, अनिर्वाच्य इत्यादि विशेषणाओं से यद्यपि "असिपद" का बोध किया है, तथापि वह अल्पज्ञों के हृदय में सुलभता से नहीं गड़ता; इसी कारण हमारे मत से तत्पद–ईश्वरीय रूप का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है. कारण –

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि

–(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १३, श्लोकार्ध १९).

(प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ इन दोनों को ही अनादि जानो).

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां"

–(नारायणोपनिषत् ॥१॥).

इस प्रकार के अनन्त प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं अतः माया का अभाव कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता. मायावृत्त चैतन्य अज्ञान का निरास करने को समर्थ है; क्यों कि निरास करना यह वृत्ति का धर्म है. इस सम्बन्ध में श्री समर्थ रामदास जी कहते हैं :-

"अरे ! जें झालेंचि नाहीं ॥ त्याची वार्ता पुसशीं काई ॥
(अरे ! जो हुआ ही नहीं उसकी वार्ता क्या पूछता है ?)

"तथापि सांगों जेणें कांहीं ॥ संशयो नुरे ॥१॥(दा.द.८,स.३)
(तथापि -कुछ ऐसा- कहेंगे कि संशय का लेश उर्वरित न रहे).

"कर्ता ठायींचा अरूप ॥ केलें तेंही मिथ्यारूप ॥
(कर्ता मूलतः अरूप है, जो-उसने- किया वह भी मिथ्या रूप है.)

"तथापि फेडूं आक्षेप ॥ श्रोतयांचा ॥५॥
-(दासबोध दशक ८, समास २.)
(तथापि श्रोताओं का आक्षेप (हम) निरसन करेंगे.)

योगवासिष्ठकारों का भी यही अभिप्राय है कि "माया अर्थतः जो हुई ही नहीं पर दिखाई देती है" सारांश अज्ञान का विरोधी ज्ञान है, पर चैतन्य विरोधी नहीं है. अब (प्रसङ्गवशात्) जिनकी बुद्धि अत्यन्त मन्द हो और जो यह मनते हों कि "दृश्य पृथक् है, बन्धन से अपना छुटकारा कभी होता ही नहीं" उनसे यह कहना उत्तम है कि "जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ;" परन्तु

वेदान्त के सिद्धान्त में "माया" का (ख) आकाश-पुष्प के समान अत्यन्ताभाव किसीने भी नहीं कहा है और न माना है. क्यों कि माया सत् से जैसी विलक्षण वैसी ही असत् से भी विलक्षण है. अतः इसका होते रहना नहीं चूकता, यह धारा-प्रवाह बन्द नहीं हो सकता. यादे पारमार्थिकसत्ता एक ही मान कर माया का अस्तित्व न गिना जाय तो भी ठीक होगा! तथापि व्यावहारिक-सत्ता और प्रातिभासिक-सत्ता स्पष्ट प्रकार से समझ में आए विना ज्ञान में पूर्णता नहीं प्राप्त होती. विदेहमुक्ति, जीवन्मुक्ति आदि सब संस्कार माया-वृत्ति को ही हैं. अर्थात् अविद्या का यद्यपि समूल निरास कहा जाय तो भी माया का निरास किसीसे भी नहीं कहा जा सकेगा. यद्यपि आचार का निरास कहने वाले अनेक पण्डित हैं तथापि यह भी प्रकृति का ही धर्म है और -केवल आत्मरूप है, माया मूलतः है ही नहीं -यह भी वतलाने वाली वृत्ति ही है, मात्र वह शुद्धसत्वात्मक है. ऐसी वृत्ति जिस पुरुष के हृदय में स्फुरण पाती है वही ज्ञानी और वही मुक्त है. जहाँ जहाँ मुक्ति नहीं वहाँ वहाँ ब्रह्मत्व नहीं है, इस विषय में यथानुक्रम आगे प्रमाणसिद्ध उल्लेख किया जायगा. तात्पर्य हमारे अभिप्राय में ईश्वरत्व सम्पादन करना और अनेक जन्म, देह अपनेसे ही उत्पन्न करके उससे अलिप्त रहना ही सबसे श्रेष्ठतम है. श्री कृष्ण जी कहते हैं :—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

—(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १५)

(उस (स्वयम् प्रकाशमय परमपद को) न सूर्य प्रकाशित कर सकता है न चन्द्रमा (और) न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है (तथा) जिस परमपद को प्राप्त होकर संसार में पुनः लौटना नहीं पड़ता वही मेरा परम धाम है.)

अर्थात् मेरे स्वरूप को जिसने जाना अथवा मुझे देखने के लिए जो मेरे सान्निध उपस्थित हुआ वह व्यक्ति, वह वृत्ति फिर पीछे लौटने नहीं पाती. इसमें यह मर्म है कि-श्री कृष्ण जी यह जानते हैं कि, "व्यवहार में मैं जो और जैसी कुछ क्रीडा किया करता हूँ वह मेरा सत्य स्वरूप नहीं है किन्तु मैं एक होते हुए अपने योग-शक्ति से सोलहसहस्त्र रूप धारण किए क्रीडा करता हूँ. मैं स्वच्छन्दी हूँ, भक्तों का परिपालन और दुष्टों का निर्वापण करता रहता हूँ, परन्तु मेरे सत्यस्वरूप में इन कर्मों का लवलेश भी नहीं है. आकाशवत् मेरे स्वरूप में बद्ध अथवा मुक्त होना यह दोनों धर्म अंशतः भी नहीं हैं. एक, अद्वितीय नित्य, सुखी, आनन्दरूप, अजन्मा ऐसा मैं हूँ"- यह विधान, यह अनुभव साधक अपने हृदय में गड़ लें तो सहजमुक्ति की प्राप्ति होगी. वस्तुतः सभी मुक्त हैं, बद्ध कोई भी नहीं. सब में ईश्वर ही प्रेरणा किया करता है, और यह जगत् सहजमुक्त है. इसी कारण केनोपनिषद् में वचन आया है कि:-

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ॥
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥३॥

—(केनोपनिषद्)

"जो अपने को अज्ञानी समझ लेता है वह मुक्त ही है, और जो अपने को ज्ञानी समझ बैठता है वह मुक्त नहीं" (इसमें अहङ्कार पर कटाक्ष है) सारांश यहाँ अज्ञानी यानी केवल मूर्ख, पामर यह अर्थ नहीं लेना चाहिए किन्तु यह अर्थ निश्चित किया गया है कि –ज्ञानी होते, जानते भी जो अनजान अर्थतः जिसमें ज्ञान-ऊर्मि अंशतः भी उर्वरित नहीं रही वह ज्ञानी है. अर्थात् वेदान्त-दृष्टि से यह जान लेना कि "कोई भी बद्ध नहीं है" मुख्य कर्तव्य है. सृष्टि के साथ साथ सब व्यवहार गुणस्वभाव के अनुसार होते रहने पर भी "मैं मुक्त-ब्रह्मस्वरूप हूँ" ऐसी भावना जिसकी अटल और नित्य है, उसीकी योग्यता अधिक माननी चाहिए, इसी कारण से हम अपने सम्प्रदाय में सहजमुक्ति की प्रतिष्ठा विशेष मानते हैं. महावाक्य के उपदेष्टा को यह मुख्य और आवश्यकीय है कि, वह त्वंपद का अर्थ विस्तार से कथन कर उससे भी अधिक विस्तार से तत्पद का उपदेश देना और मुमुक्षु के मन में धँसाना चाहिए. इसपर कोई यह सन्देह कर बैठेंगे कि "ईश्वर का सामर्थ्य तो जीव को कभी प्राप्त होगा ही नहीं, ईश्वर स्वेच्छा के अनुसार जो चाहे सो करेगा, जीव तो अल्पज्ञ और दुःखी रहना यही सृष्टि का नियम है, यदि यह टल नहीं सकता तो ईश्वर के रूप का ज्ञान कर लेने में रखा ही क्या है? यह व्यर्थ प्रयत्न किन्निमित्त?" ऐसा कहने वालों से हम अंशतः भी वाद मोल लेना नहीं चाहते. ऐसा आग्रह भी हमारा नहीं है कि-ईश्वरत्व, जीवदशा इत्यादि जो उपाधियाँ हैं उनका निरास न करना चाहिए किन्तु यह कहना है कि, केवल मायावृत्ति

का निरास होना असम्भव है. अर्थात् "मैं आत्मा हूँ, अलिप्त हूँ" यह बोध मन में गड़ लेना साधकों के लिए उत्तम और सुखप्रद है. तात्पर्य जो स्थिति सहज सिद्ध और सुलभ-प्राप्त है वह अवस्था प्रथम दृढ़ कर लेनी चाहिए-यही श्री शङ्कराचार्य जी के उपदेश का रहस्य है. त्वंपद का निरास तत्पद के यर्थाथ-ज्ञान से होता है और तत्पदज्ञान के अवशेष से अज्ञान-वृक्ष का समूल उच्छेद हो कर सहजमुक्ति की सुखप्राप्ति होती है. इसमें यह मर्म है कि, गृहस्थाश्रम में भी यह सहजमुक्ति प्राप्त होती है. पूर्वाचार्यों का यह अभिप्राय कि "विदेहमुक्ति गृहस्थाश्रम में प्राप्त नहीं होती" इस लिए यहाँ यह विचार करना आवश्यकीय है कि, किसी छात्र (बालक-विद्यार्थी) का जब वेद-संस्कार होता है उसी समय आत्मज्ञान का भी उपदेश दिया जाता है.

"अथातो धर्मजिज्ञासा । अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"

यह दोनों पाठ एक ही गुरु के द्वारा दिला दिये जाते हैं. अध्ययन में जो संहिता पढ़ाई जाती है उसमें भी सर्वत्र आत्मोपदेश ही है. एवम् विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि, पूर्वाचार्य सब गृहस्थाश्रमी ही थे. इसपर से यह सिद्ध होता है कि, ब्रह्मत्व-सिद्धि के लिए वेदाध्ययन और आत्मविद्या अर्थतः पूर्व और उत्तर-मीमांसा का उपदेश दिया जाता है. श्री रामचन्द्र जी, श्री कृष्ण, अनेक ऋषि, मुनि यह सब बचपन से ही सच्चे ज्ञानी रहते उनका संसार भी प्रौढ़ावस्था में बहुत कुछ बढ़ता गया. तात्पर्य, वेदान्त कभी संसार अथवा प्रपञ्च का विरोधी नहीं है. इसी लिए हरेक को इस विद्या की प्राप्ति कर लेनी चाहिए.

२४ वेदान्त-विचार:-

मनुष्य-जन्म की श्रेष्ठता जानकारी के कारण से है. ज्ञातृत्व अर्थतः जानकारी और शान्ति यह सब मनोव्यापार हैं. जानना यानी किसी विषय का विचार करना यह मानसवृत्ति का कार्य है. मन का सत्य स्वरूप हृदय में जचाने वाले ग्रन्थ बहुत ही थोड़े होंगे. अस्तु, प्रस्तुत उसका विचार कर्तव्य नहीं है. आत्मा को मनोविकार होना यह सृष्टि का नियम यथायोग्य और अबाधित है. इस मन के द्वारा भले, बुरे कर्म होते रहते हैं. अनन्त जन्म भुगतने पड़ते हैं, अनेक कष्ट और अनन्त यातनाएँ उठानी पड़ती हैं, अनेक प्रकार का दुःख सहना पड़ता है, तो भी विचार-शक्ति से अपना अपना कल्याण कर लिया जा सकता है कि नहीं? मन में जो जो तरङ्ग उछल पड़ते हैं उनमें से सुख ग्रहण किया जा सकता है इसकी समझ पाना चाहिए. तो कोई कहते हैं कि "मनोनिग्रह करना चाहिए" कोई कहते हैं कि "जन्म-मरण के जंजाल से छुटकारा पाना चाहिए; "परन्तु वेदान्त-विचार उसको कहते हैं कि -इसमें सत्य तत्त्व क्या? और वह तत्त्व सुख से कोई प्राप्त कर ले सकता है कि नहीं? जन्म-मरण का भय समूल नष्ट होकर अपना कल्याण, देशहित, उन्नति, परमार्थ साध्य होगा कि नहीं? -इसका निर्णय कथन करके वह स्पष्ट प्रकार से मन में धँसा दिया जाय.

२५ जागृति-विवेचन:-

जागृति का अनुभव बालक से लेकर वृद्धों तक सभी को है.

जो कुछ कारबार, व्यापार, चाहे वे धार्मिक हों कि राजकीय अथवा पारमार्थिक इत्यादि सकल व्यवहार जिस अवस्था में हुआ करते हैं वह "जागृति" कहलाती है. गुरुवर्य आद्य शङ्कराचार्य जी ने 'सर्व वेदान्तसार' ग्रन्थ में जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के लक्षण उत्तम प्रकार से मन में पैठाने का यत्न जो किया है वह इस प्रकार का है कि :– जागृति में स्वप्नसुषुप्ति, स्वप्न में सुषुप्तिजागृति और सुषुप्ति में जागृतिस्वप्न का विवेचन किया है. सारांश जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति यह तीनों मन के विकार हैं; वृत्ति के विना किसीको भी कोई अवस्था प्राप्त नहीं होती, सर्व अवस्थाओं का पोषण और अनुभव करने वाला भी मन ही है; यह मन सहस्त्रों नाम से सम्बोधित किया जाता है. "तुर्या" यह जागृति का ही विशेषण है, इसी कारण तुर्यावस्था का पृथक् वर्णन नहीं किया गया. वैदिक अथवा मन्त्रशास्त्र में ही यदि देखा जाय तो एक ही के अनेक नाम दिखाई देते हैं; तथापि जब तक यह न विदित हो कि, अमुक पदार्थ का ही अमुक नाम है उससे कोई लाभ उठाया नहीं जा सकता. सच देखा जाय तो इस विश्व-रचना में कोश, देह, वेष्टण, शरीर अथवा उपाधि यह सब एक ही आवरण के नाम हैं. जिस शरीर-कोश में जडांश अल्प हो और तैजसांश अधिक हो उसके सूक्ष्म अथवा लिङ्ग-देह, वासनात्मक देह, जीवपुरी इत्यादि अनेक नाम हैं; और जैसा आवरण देह को पोषणीय हुआ करता है वैसा यह अन्नकोश अर्थतः अन्न से उत्पन्न हुआ शरीर है. लिङ्गशरीर, सूक्ष्मशरीर भौतिक है.

जिस भूत (तत्त्व) का जो धर्म है और वह जिस स्थान में प्रकट होता है वह स्थान उसका इन्द्रिय कहलाता है; उदाहरणार्थ-

शब्द-नाद उत्पन्न होना यह मुख्यतः आकाश का धर्म है. यह धर्म जिस स्थान में विशेषता से प्रकट होता है उसको श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं. यह श्रोत्रेन्द्रिय आकाश-तत्त्व का बना हुआ है अर्थात् इसमें शब्दाकर्षण-शक्ति रहनी ही चाहिए. इसी प्रकार पञ्चमहाभूतात्मक ऐसे देह में जिसमें कि जड़ता अधिक न हो उस देह को लिङ्गशरीर कहते हैं. इस विषय में अवश्य ध्यान में रखने योग्य विशेष इतना ही है कि, एक ही पुरुष को अहोरात्र इन तीनों अवस्थाओं का उपभोग और ज्ञान प्राप्त होता है; अर्थात् इन अवस्थाओं में कुछ भी भेद नहीं है. जैसे कि एक ही शरीर को बाल्य, तारुण्य, वार्धक्य, अशक्तता इत्यादि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं उसी प्रकार एक ही पुरुष उन तीनों अवस्थाओं का अनुभव करता है. श्री विद्यारण्य जी ने यह सिद्ध किया है कि - "इन तीनों अवस्थाओं में ज्ञान लुप्त नहीं होता, क्यों कि यदि ज्ञान का लोप हो जाय तो किसी से कोई कुछ कह नहीं सकेगा. यदि आत्म-प्रकाश लुप्त हो जाय तो वृत्ति, अवस्था, भूत, तत्त्व, जगत् इत्यादि कुछ भी दिखाई नहीं देंगे." यह अनुभव कथन करके सिद्ध कर दिखलाया है कि "ज्ञानरूपी आत्मा अर्थात् हम स्वयम् सर्वकाल स्थित हैं". अस्तु.

यहाँ इसका विचार करना है कि -जागृति किसको कहते हैं? आत्मविचार करने पर सहज ही ध्यान में आ जायगा कि नाम रूप यह कल्पित हैं; हम को जिस नाम से आल्हाद होता हो, अथवा जो रोचक और हितकारक जान पड़ता हो वह उसका नाम हम नियत कर देते हैं. तद्वत् एक ही वस्तु को चिदाकाश, तेजाकाश, व्यापक, ज्योति ब्रह्म, महत्तत्त्व, सत्ता-समुद्र, स्फुरण का अधिष्ठान, शक्ति, पोषक, आत्मरूप और जीव, शिव ऐसे

अनन्त नामों से वेदान्ती ब्रह्मस्वरूप का गायन करते रहते हैं और यह यथार्थ भी है; क्यों कि नाम में सर्वार्थद्योतकशक्ति अंशमात्र भी नहीं है. जिस प्रकार एक ही आम्र-फल को पीत, मधुर, बड़ा, रसवाला इत्यादि अनेक विशेषणाओं से समझाना पड़ता है, तद्वत् अपने स्वरूप का परिचय अथवा सकल जगत का पूर्वरूप क्या है? इसका ज्ञान करा देने और पैठाने के लिए अनेक नाम ले ले कर समझाना पड़ता है. अनुभव और वेद-प्रमाण पर से निश्चित है कि, हमारे श्वासोच्छवास उसीसे उत्पन्न होते हैं, मन वहीं बारंबार मुड़ मुड़ कर ठहरता है, मन के सब विकल्प हमको ज्ञात होते हैं; अर्थात् मन अपने से ही उत्पन्न होकर अपने में ही बसता है. अब "हम कौन हैं?" इस विचार में अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होंगे; परन्तु श्रेष्ठ व्यक्तियों के अनुभव के अनुसार और प्रमाणों से सर्वव्यापक, सर्व दृश्यभूत जिसके सत्ता से शक्तिमान् दिखाई देते हैं, वह ईश्वरीय तेज अखण्ड और नाशरहित मानना पड़ता ही है. इस कारण से कि, अहंवृत्ति का स्फुरण किसी कारण अथवा किसी तत्त्व के सहायता विना जो सबको अखण्ड हुआ करता है उसीको आत्म-शक्ति कहनी चाहिए. अब इस विषय पर जो लोग अनन्त प्रकार से सन्देह, आक्षेप करते हैं उसपर हमारा यह एक ही उत्तर है कि -नास्तिकता का वाद स्वयम् नास्तिक रहने के कारण से वह कभी अस्तित्व में ही नहीं आयगा; कारण, विधि विना निषेध का और प्रकाश विना अन्धकार का कुछ भी महत्त्व नहीं है. अस्तु; इस प्रकार के तेज से जिन लहरों का स्फुरण होता है उनको वेदान्त में यह दृष्टान्त दिया जाता है कि :-जिस प्रकार से अग्नि में से

विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) उत्पन्न होती हैं, आकाश से वायु, समुद्र में से लहरें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार से यह सृष्टि की रचना होती है. यह आदिशक्ति, आदिमाया अखण्ड रहेगी; इसका निरास कभी कोई देख नहीं सकता. इसके आधार से वेद घोषित होते हैं, उपदेश देते हैं, साधु सन्त अनुभव लेते हैं. इस की 'ईश-शक्ति' यह संज्ञा है. इसके विशेषण से ब्रह्म को ईशत्व प्राप्त हुआ है. इसके निरन्तर प्रवाह में ज्ञानोत्पात्ति है और यह व्यापकत्व है. इसमें पहला तत्त्व आकाश है. इसीसे हम अपनेको देख सकते हैं, अपना आप विचार कर सकते हैं, अपनी अस्तित्ता का निश्चय कर लेते हैं. यदि इस शक्ति का अस्तित्व ही न माना जाय तो आत्मरूप अक्रिय, अनिर्वाच्य, अप्रतर्क्य ऐसा एक ही रूप रहता है. अस्तु, इससे ही आकाश में पञ्चमहाभूत निर्माण हुए, उनसे अन्न और जल उत्पन्न होकर अन्न से अण्डज, जारज, स्वेदज उत्पन्न हुए. ऐसा ही उत्पत्ति-प्रकार सब ग्रन्थों में कथन किया गया है; इसलिए यहाँ व्यावहारिक-सत्ता का अर्थ ग्रहण करना चाहिए. अब व्यवहार में "जागृति" किसको कहना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण करना है :- अनेक ग्रन्थों में यह लिखा गया है कि अपञ्चीकृत जो आकाश है उसको अन्तःकरणपञ्चक कहते हैं, यही सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होकर व्यवहार करता है. जहाँ जहाँ यह लिखा गया है कि मन ही सब कुछ व्यापार किया करता है, वहाँ वहाँ अंशतः भी कोई ऐसा न समझ बैठे कि, तत्त्वों में विना चैतन्य-प्रकाश के अपना अपना व्यापार करने की शक्ति है किन्तु ऐसा समझना चाहिए कि, उनके कारण व्यापार इत्यादि समस्त घटनाएँ चैतन्य में हुआ करती हैं. जो

अपञ्चीकृत भूत कहा गया है वह भी तो एक प्रकार सूक्ष्म रीति से पञ्चीकृत ही है; उसके द्वारा जो शरीर बनता है उसको लिङ्ग-देह कहते हैं. यह शरीर केवल हमारे लिए ही नहीं किन्तु ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि समस्त देवताओं के साथ भी लिपटा हुआ ही है. अर्थात् ब्रह्म में जैसा अन्तःकरणपञ्चक है, तद्वत हमारे तैजस-शरीर में भी है. ब्रह्माण्ड में का अन्तःकरणपञ्चक सबमें समान व्याप्त है, परन्तु हमारे तैजस-शरीर में जो पञ्चक कहलाता है और उसमें जैसा उसका प्रकाश पड़ता जायगा उसी प्रमाण की क्रिया, घटना होती, घटती रहती है. तात्पर्य, परा-वाचा सकल जीवमात्रों की एक ही है, और सबका स्फुरण भी समान ही है; परन्तु सिद्ध लोगों में जो जो स्फुरण होता है उसके अनुसार तुरन्त ही उसका फल प्रतीत होता है, पर हमारे सम्बन्ध में वैसा अनुभव नहीं आता और वैसी ज्ञान-शक्ति भी हममें नहीं रहती. इसका कारण हमारा तैजस-शरीर मलिन रहने के कारण वैसा भासता है; परन्तु हमारे चैतन्यस्वरूप में और ब्रह्मादि देवताओं के शरीर में जो चैतन्य है उसमें अणुमात्र भेद नहीं, वह एक ही प्रकार का है; वह कभी मलिन होने नहीं पाता किन्तु उपाधिभूत शरीर ही मलिन होता है. वह स्फुरण सब प्रकार का व्यापार, व्यवसाय करता रहता है. वह शरीर जो हमको भूमि पर अन्न-रस से प्राप्त होता है स्थूल है और उसका चालक तैजस शरीर है. तैजस-शरीर में जब जड़ांश अधिक हो जाता है तब उसका आकर्षण जड़-गोल पर होता है, और आगे चल कर अन्न-रस के द्वारा मातृगर्भ में जड़ शरीर उत्पन्न होता है. जब तक स्थूल शरीर व्यवहारयोग्य नहीं बनेगा और

तैजस-शरीर भी मलिन रहेगा तब तक वैसे व्यक्ति का व्यवहार भी साधारण प्रकार का ही होता रहेगा. कदाचित् जिसका तैजस-शरीर अत्यन्त निर्मल, सवीर्य है और यदि उसको जड़ देह प्राप्त हो जाय तो वह लोकोत्तर अद्भुत चमत्कार और प्रबल पराक्रम कर बतला सकेगा. जैसा कि श्रीकृष्ण बालक रहते भी युवा हो जाते थे. अस्तु; मनुष्य प्रथमतः अपने मन के सङ्कल्प को जानता है, तत्पश्चात् यदि वह सङ्कल्प तीव्र रहे तो इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेने के लिए इन्द्रियों की सहायता से जो शरीरव्यापार होता है उसको व्यवहार में जागृति कहते हैं. सारांश, व्यावहारिक-सत्ता की दृष्टि से जड़ शरीर को चालना देने वाली जो इन्द्रियें हैं, उनका यथासम्भव व्यापार जिस अवस्था में होता है उसको जागृति कहनी चाहिए. व्यावहारिक-सत्ता-भेद से यदि देखा जाय तो उसके अनन्त रूप होंगे; परन्तु उसके फैलाव के कारण पाठकों के हृदय में विकल्प-जाल फैल कर वे उससे विदित होने नहीं पायँगे. तब तो इतना ही ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि, मनुष्यप्राणी अपने इन्द्रियों का व्यापार उत्तम प्रकार से होने के लिए जिस अवस्था में प्रयत्न करता है वह जागृत अवस्था कहलाती है. इस जागृत अवस्था को नेत्रस्थान, रजोगुण-वासना को उत्पन्न करने वाली इत्यादि सब विधान पञ्चीकरण-ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक लिखा गया है.

२६ स्वप्न विचार :—

स्वप्न झूठा जानते उसकी उपेक्षा कर उसकी ओर कोई तानिक भी चित्त नहीं लगाता; परन्तु यदि विचार किया जाय तो

स्वप्न में भी अपनी व्यापकता, ज्ञान और मानसिक अद्भुत शक्ति इत्यादि रहती ही है. इस स्वप्न–सृष्टि में कर्ता, और भोक्ता आप ही होते हुए वह सब कैसे रूप में रहते हैं, और अपनी आत्मशक्ति से आत्मसत्ता तैजस–शरीर में कैसी निर्माण होती है, मनका व्यापार कैसा हुआ करता है और अनन्त रूप धारण करके अनन्त भावनाएँ कैसी प्रगट होती हैं; यानी जिस जिस समय में मन अनन्त रूपों के वेश लिये रहता है उस उस समय में अपना द्वेषी और अपना प्रेमी आप ही कैसा बनता है यह स्वप्न में स्पष्ट होता है.

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

—(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ६)

(अपने द्वारा आपका (संसारसमुद्र से) उद्धार करे (और) अपने आत्मा को अधोगति में न पहुंचावे क्यों कि (यह) जीवात्मा आप ही (तो) अपना मित्र है (और) आप ही अपना शत्रु है. अर्थात् और कोई दूसरा शत्रु या मित्र नहीं है.) ।

इसका प्रत्यय स्वप्न में आता है. योगी कहते हैं कि अपने मस्तक में से अमृत टपकता रहता है, वह यदि अपने जिव्हा को लम्बी करके प्राशन किया जाय तो मनुष्य अमर होता है. अर्थात् हमारे इस स्थूल शरीर में क्या क्या अमूल्य वस्तुएँ भरी पड़ी हैं उन्हीं की हमें खबर (पहचान) नहीं है, तो उससे सूक्ष्म

मानसिक-तत्त्व में क्या क्या गुण, सामर्थ्य हैं वह स्थूल-बुद्धि पुरुषों को कैसे विदित होंगे? इसपर से कि स्वप्न में भी कभी कभी भविष्य ऐसा विदित हो जाता है मानो कि वह प्रत्यक्ष सन्मुख खड़ा है, स्वच्छ दीख पड़ता है! इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है. यदि जागृति में स्वप्न झूटा जान पड़ता है तो स्वप्न में जागृति भी झूटी हो ही जायगी! यह जागृति के पदार्थ अज्ञानी पुरुष को जैसे सत्य भासते हैं वैसे ज्ञानवानों को भोसमान नहीं होते, किन्तु उनको समस्त आकृतियों में ईश्वर ही दिखाई देता है. इसी अवस्था को "तुर्या" कहते हैं. स्थूल की आवश्यकता न रखते हुए केवल तैजसरूप जो हमारा शरीर है उसमें जो मन का विलास प्रतीत होता है उसको 'स्वप्न' कहते हैं. इस स्वप्न की अवस्था में जड़-शरीर के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता किन्तु तैजस-शरीर से रहा करता है. यदि कहा जाता है कि स्वप्न में तैजस देही अर्थतः देव, पितर, पिशाच इत्यादिकों के दर्शन होते हैं यह सर्वथा सत्य भी है -और ऐसे स्वप्न का अनुभव भी किया जाता है- तब यह मानना ही पड़ता है कि, अपना रूप तेजोमय आकाश के समान व्यापक, ज्ञानघन, तीनों अवस्थाओं में रहने वाला है. इसके विरुद्ध "अपना स्वरूप साढ़ेतीन हाथ का है और इसी स्थूल शरीर से मैं स्वप्नानुभव करता हूँ" ऐसा कहना तो निरा अज्ञान कहलाया जायगा. ऐसे भी स्वप्न प्रतीत होते हैं कि -हम भाग रहे हैं, देशान्तर को निकले हैं परन्तु वस्तुतः हम न भागते ही हैं और न अपना स्थान छोड़ हमारा

अन्य देश में प्रवेश होने पाता, किन्तु जिस जिस अवस्था में जो जो व्यापार होते रहते हैं वे सब मैं ही किया करता हूँ ऐसा जान पड़ता है, इसपर से तो सभी व्यापारों में अपनी व्यापकता निश्चय पूर्वक स्पष्ट है, और वैसा ही यह भी सिद्ध होता है कि, सब प्रकार के इन्द्रिय-व्यापारों का -चाहे वे शारीरिक हों चाहे मानसिक- जानने वाला और अनुभव करने वाला एक ही है. यही जो मन के गुण-धर्म को जानती है, मन को बोध करती है, यदि मन क्रुद्ध हो जाय तो उसे शान्त करती है- इसको "मनोवृत्ति" कहते हैं; यह वृत्तियाँ बदलती नहीं. अस्तु; मन का स्वामी बनने को यह (पुरुष) समर्थ है. यदि इसका मन किसी सजाए हुए हाथी पर ललचाय और वह उसके प्राप्ति की बलवत्तर इच्छा कर जाय तो वह हाथी का मालिक अथवा महावत के रूप से जन्म लेकर अपनी इच्छापूर्ति कर ही लेगा! सारांश, स्थूल का सम्बन्ध स्थित रहते हुए केवल तैजस-शरीर में जिस मनोव्यापार का अनुभव आता है उस अवस्था को "स्वप्न" कहते हैं.

२७ सुषुप्ति-विचार :-

इस अवस्था में इन्द्रिय-शक्ति कुछ शिथिल सी हो जाती है. मन पर जो आकर्षण रहता है वह ज्यों का त्यों बना रहने के कारण मन और बुद्धि आज्य (घी) के समान जम जाते हैं और केवल स्फुरण मात्र रह जाता है यानी स्थूल शरीर में जो इन्द्रिय-गोलक अर्थतः स्थान हैं वे और जिस जिस नाड़ी द्वारा मन

प्रवेश करता है वह नाड़ियाँ मनोवेग सहन नहीं कर सकतीं, कारण मन तो ऐसा नितान्त चञ्चल-प्रसिद्ध ही है- कि, स्वभाव-प्राप्त जो जो वासनायँ उद्भूत होती रहती हैं उनके पूर्णता की कोई चिन्ता न करते हुए अपनी ही दौड़ धूप लगा रखने में मगन रहता हैं सभी तत्त्व कालनियत हैं यानी जितने समय तक उनकी शक्ति रहती है उस प्राप्तकाल तक वह सशक्त रहते हैं, पश्चात् हीन-बल हो जाते हैं और फिर जब कभी उनको अनुकूल काल प्राप्त होता है तो वे फिर शक्तिमान् हो जाते हैं. सृष्टि के इस नियमानुसार मनसेन्द्रिय सशक्त होने तक वे निश्चिन्त्य आत्मरूप में रममाण होते हैं, उस समय आत्मा भी निर्व्यापार सृष्टि के सुख का आप ही आप अनुभव करता हैं. यद्यपि सृष्टि में नाम मात्र भीं सुख नहीं है तो भी श्री शङ्कराचार्योक्ति के अनुसार :-

> आत्ममये महति पटे विविधजगच्चित्रमात्मना लिखितम् ।
> स्वयमेव केवलमसौ पश्यन्प्रमुदं प्रयाति परमात्मा ॥१५॥
>
> —(स्वात्मनिरूपण.)

आप ही अपने सुखप्राप्ति का साधन उत्पन्न करके उससे सुख उठाता है. सुख वह स्थान कहलाता है कि जहाँ आत्म-सुख के व्यतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहने पाता. ऐसा श्रुति-वचन भी है कि "यत्र नान्यत्पश्यति" इस प्रकार का जो सुख हमें प्राप्त होता है वैसी सुखावस्था को "सुषप्ति" कहनी चाहिए. वह

अवस्था अज्ञानी और ज्ञानियों में समसमान ही रहा करती है. इस अवस्था में प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता की त्रिपुटी नहीं रहती. यहाँ पर तो वृत्ति-ज्ञान का अभाव रहता है, इस कारण इस अवस्था में अज्ञान रहता है. यह अवस्था सकल संसार की बीज है. सुषुप्ति अवस्था के अनन्तर उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ मनो-विकार, विकल्प इन सबका भोग स्वप्न और जागृत्काल में एक ही प्रकार का होता है. इनमें भेद केवल इतना ही समझना चाहिए की स्वप्न में सूक्ष्म भोग होता है और जागृदवस्था में स्थूल भोग हुआ करता है; परन्तु इन दोनों अवस्थाओं का बीज सुषुप्ति ही है. सुषुप्ति में पुरुष को ईश्वर-नाम प्राप्त होता है. विद्यारण्यमुनि ने इस विषय में पञ्चदशी ग्रन्थ के पञ्चकोश-विवेक प्रकरण में उत्तम और विस्तार से विवेचन किया है. युक्त प्रसङ्ग पर हम भी आगे कथन करेंगे.

२८ मृत्यु-विचार :-

किसी शब्द के वाच्यार्थ से पदार्थ का बोध होता है तो उसी (शब्द) में से इष्टार्थ भी लाक्षणिक-अर्थ द्वारा निकाल कर बतलाया जा सकता है; यही कारण है कि शब्द एक रहने पर भी उसका अपने अपने सिद्धान्त के अनुसार अनुकूल अर्थ कर बतलाने की परिपाटी सर्वत्र दिखाई देती है. यदि "मृत्यु" शब्द का वाच्यार्थ देखा जाय तो "देह-त्याग" ऐसा हुआ करता है. श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही अर्थ स्वीकार किया है.

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा–
न्यनानि संयाति नवानि देही ॥२२॥
–(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २)

(जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों का ग्रहण करता है वैसे (ही) जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग कर दूसरे नये शरीर को प्राप्त होता है.)

"मृत्यु" शब्द का यह वाचार्थ हुआ. अब लाक्षणिक अर्थ पर विचार करेंगे. किसी एक पदार्थ का ज्ञान प्रथमतः होता हैं और पश्चात् उससे प्राप्त गुण, धर्म के अनुसार सुख, दुःख का अनुभव होता है. उदाहरणार्थ– यदि हमें कहीं चोट आई हो और उसकी ओर हमारा ध्यान न गया हो तो उस चोट का दुःख भी जान नहीं पड़ता; परन्तु वही यदि अन्य कोई पूछ बैठे कि :– हे महाशय! यह कितना बड़ा जखम हुआ है!! इतनी चोट आपको कहाँ और कैसे आई? यह सुननेके साथ ही (जब) दुःख का ज्ञान होकर वेदना भी प्रतीत होने लगती है, तब कहीं हम चिल्हा उठते हैं! अर्थात् दुःख का ज्ञान जब तक होने नहीं पाता उस समय तक स्पष्ट है कि दुःख का ही अस्तित्व नहीं रहता. इसपर से यह निश्चित हुआ कि यदि ज्ञान है तो ही सृष्टि है और ज्ञान जब नहीं, तो सृष्टि भी नहीं है. अर्थात् जिस पदार्थ को

हम जानते हैं उसीका अस्तित्व रहा करता है. यही "दृष्टिसृष्टिवाद" कहलाता सै. इस सिद्धान्त में विस्मृति (भूल जाना) को ही "मृत्यु" कहते हैं. इसी कारण आत्मा का अर्थतः अपना ज्ञान अपनेको होना यानी ही सजीव रहना है और आत्म-ज्ञान की अप्राप्ति, आपको ही अपनी विस्मृति हो जाना, यही मृत्यु के घाट उतरना है.

उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते ।
मोहो मृत्युः संमतो यः कवीनाम् ॥
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि ।
सदा प्रमादममृतत्त्वं ब्रवीमि ॥४॥
–(सनत्सुजातीय, अध्याय १)

इसका यह भावार्थ है कि "अज्ञान और विस्मृति यह मृत्यु से भी अधिक हानिकारक है, विस्मृति (भूल जाना) यानी मृत्यु (मर जाना) और ज्ञातृत्व (ज्ञान पाना) यानी अमर होना –अखण्ड जीते रहना समझना चाहिए.

जिसको ऐसी अपेक्षा हो कि "मैं निरन्तर अपना सा बना रहूँ, और मेरा नाश कभी न बने" उसको चाहिए कि ज्ञान सम्पादन करे. कितना भी समझाया जाय तो भी अज्ञानी पुरुष के लिए मृत्यु का भय कभी टल नहीं सकता. अर्थात् यह सिद्ध

होता है कि -मृत्यु यानी विस्मृति- मृत्यु ही जन्म का आदि कारण है. (तो) जैसा कि पीतल, ताम्बा स्वयम् नष्ट होकर सुवर्ण बनता है वैसे साधक के लिए मर कर सदा जीते रहना ही पुरुषार्थ है और वे यही सच्चा पुरुषार्थ समझें.

२९ ब्रह्मज्ञान :—

ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, परन्तु सृष्टिविषयक ज्ञान से ब्रह्म-प्राप्ति होती है. श्री शङ्कराचार्य जी के उक्तयनुसार ब्रह्मविद्या, ब्रह्मज्ञान, ब्रह्माभ्यास, ब्रह्मधारणा यह सब आरोप है. यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो ब्रह्मरूप यह विद्या का विषय नहीं, न वह ध्यान का, न अभ्यास का न ही धारणा का विषय हो सकता है; परन्तु यह सब क्रिया सृष्टि के अनुकूल होती है, यानी सृष्टि का जो विचार वही ब्रह्मविचार है, सृष्टि का ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है, क्यों कि सृष्टि का ज्ञान ब्रह्मज्ञान से पृथक् नहीं; किन्तु ब्रह्म ही सृष्टि-रूप से भासमान होता है.

> दंतिनि दारुविकारे दारु तिरोभवति सोऽपि तत्रैव ।
> जगति तथा परमात्मा परमात्मन्यपि जगत्तिरोधत्ते ॥९४॥
>
> —(स्वात्मनिरूपण.)

तो फिर सृष्टि का समर्पक और निश्चय पूर्वक ज्ञान सम्पादन करना चाहिए. कई द्वैत-मतवादी अपने पक्षानुसार कहते हैं कि

द्वैत का निरास करने में द्वैत का अस्तित्व तो मानना पड़ेगा! परन्तु यह बात सिद्धान्त के विरुद्ध है. सिद्धान्त में जो जो भ्रम भासमान होते हैं, जैसे आकाश की नीलिमा, रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत, क्षितिज, स्थाणुपुरुष इन पदार्थों में जो अंश सत्य होते हुए भ्रम-रूप दीख पड़ते हैं, यानी रज्जु में सर्प, शुक्ति में श्वेतता यह सब सत्य पदार्थ के ही अंश हैं. इस ग्रन्थ में क्लिष्ट कल्पनाएँ और उनका निरास करने का हेतु नहीं है किन्तु हमारा सिद्धान्त सब आबालवृद्धों के समझ में गड़ देना ही मुख्य हेतु है. इसका तथ्यांश यह है कि, जिन्हें आत्मविद्या में आस्था है वे अहोरात्र आलस्य त्याग कर सृष्टि के नियम और सृष्टि-ज्ञान सम्पादन करके सहज-मुक्ति प्राप्त कर लें. ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले वाक्य, वचन, प्रमाण अनेक हैं. कई विधि-मुख से ब्रह्म को बतलाते हैं तो कितेक निषेध-मुख से उसी ब्रह्म को सूचित करते हैं और ऐसे वाक्य लक्षणरूप से बतलाते हैं. यदि उन वाक्यों के द्वारा ही ब्रह्म-कथन अभिप्रेत हो तो जिस से कि सृष्टि उत्पन्न होती है वही ब्रह्म की लक्षणा और पहचान बतलाई जाती है.

"जन्माद्यस्य यतः"

-(ब्रह्मसूत्र शारीरभाष्य अध्याय १, पृ. १).

अर्थात् सृष्टि के लक्षणाओं से ही विधि-वाक्यों का प्रतिपादन किया जाता है. प्रथमतः निषेध-मुख से वस्तु-प्रतिपादन करने का जो प्रकार है वह हम कह देते हैं :- सीता-स्वयंवर के प्रसङ्ग में सखियों का मनोगत था कि, स्वयंवर-मण्डप में उपस्थित नरेशों में से कौन व्यक्ति पसन्द है यह स्वयम् सीता जी के मुख से ही

कहलवाएँ –अतः वे प्रत्येक पुरुष का निर्देश कर पूछती थीं कि "क्या यही तुम्हारा पति है?" उसके उत्तर में सीता जी केवल "नहीं! नहीं! नहीं!" के साथ निषेध करती रहीं, पर जब श्री रामचन्द्र जी का निर्देश किया गया, तब उन्होंने मौन धारण किया– अर्थात् सीतामाता के उस मौन से सखियों को जिस प्रकार रामचन्द्र जी का निश्चित ज्ञान हुआ उसी प्रकार से आत्मा का रूप कहते समय श्रुतिमाता कहती हैं कि "आत्मा वाचा द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता, वह शब्द का विषय हो ही नहीं सकता किन्तु जिसके सामर्थ्य से यह वाचा बोलती है वह आत्मरूप है." यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि, वेदों को आत्मा का अस्तित्व समझाने की विशेष आवश्यकता नहीं, परन्तु "ब्रह्म नहीं है, वह ब्रह्म मैं नहीं हूँ" इस प्रकार की जो नास्तिकता है उसका निरसन होने पर ना कहने से भी स्वभावतः सर्वकाल स्वतः सिद्ध वह स्फुरता ही रहता है– यह सिद्धान्त ज्ञानी पुरुषों को बड़ा ही आल्हादकारी और महदानन्ददायक है. अस्तु.

अब विधि–मुख से सिद्धान्त कहने का पर्याय इस प्रकार कि:– सर्व व्यवहार में कर्ता, भोक्ता, जीव, शिव, पञ्चमहाभूत इन सब में आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष स्फुरन्मान् होता ही रहता है; आत्म–प्रकाश विना किसी पदार्थ में भी प्रकाश मूलतः ही नहीं है. कोई पदार्थ जब दिखाई देता है तब प्रथमतः ब्रह्म–प्रकाश दृश्यमान होकर पश्चात् पदार्थ दीख पड़ता है, और यह कहना कि:– "पदार्थ दिखाई देता है" भ्रान्तिमूलक है और यही भ्रम की व्याख्या है.

भ्रम में भी प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता है; यानी प्रथम सामान्य-ज्ञान अथवा प्रमाण की प्रवृत्ति यही विधि-मुख की प्रवृत्ति है. तात्पर्य मूल में ही जो पदार्थ नहीं उसका भ्रम में अधिष्ठान नहीं होता और अधिष्ठान माने विना भ्रम ही सम्भवता नहीं; इसी कारण अधिष्ठान के अस्तित्व को मानना ही विधि-मुख का अस्तित्व कहा जाता है.

श्री शङ्कराचार्य जी ने सकल जनता पर उपकार करने के हेतु से स्वरूप, आनन्द, प्रकाश, चैतन्य इन चार साम्प्रदायिक-मार्ग से आत्मरूप, ब्रह्मरूप, ब्रह्म, का ज्ञान प्राप्त कर लेने का उपदेश दिया है अर्थात् एक ही ब्रह्म-रूप को चार विशेषणों से बतलाया है. इसमें मर्म यह है कि, प्रथम प्रकाश क्या है? यानी आनन्द-सुख क्या है? इसका ज्ञान सम्पादन कर लेना और अनन्तर चैतन्य क्या है? इसका विचार करके "यह सब अपना ही स्वरूप है" यह पूर्ण रूप से निश्चित कर लेना चाहिए. ऊपर जो भ्रम जिस ढङ्ग से बतलाया गया है वह साधकों के लिए अत्यन्त उपकारी है.

३० आबालवृद्धों को आत्मविद्या की आवश्यकता:-

अनेक आचार्यों ने कहा है कि :-विना साधन-सम्पत्ति के योगमार्ग का अवलम्बन नहीं करना चाहिए, यदि मोक्ष-मार्ग में वैराग्य आवश्यक ही हो तो घर बैठे किम्वा लेटे-लेटे वेदान्त की रटन्ती अथवा वदन्ती चलाते रहना मानो कि -

"फाल्गुने बालका इव" की भाँति है.

यानी होली में बालक जैसे बे समझे-बूझे, विना अनुभव किए व्यर्थ बकवाद करते रहते हैं! अस्तु, यह सब कहना और उसका अनुवाद करना उपयोगी ही है। तथापि इसमें अहंता और द्वैत-भाषा किञ्चिन्मात्र भी न रहनी चाहिए. यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो आत्मविषयक प्रेम, आत्मानुभव सबको रहता ही है तब तो "मैं किस शक्ति के सहारे पर बोलता हूँ" चलता हूँ? मेरा व्यवहार किस के बल पर निर्भर है?" इसकी अच्छी से अच्छी समझ पानी चाहिए. मुख्य गायत्री का अर्थ भी यही है; पूर्व-मीमांसा और उत्तरमीमांसा का अवलोकन सब को आवश्यक है. यहाँ वयोवृद्धत्व, संन्यास-आश्रम, वैराग्यादिक की आवश्यकता यत्किञ्चित भी नहीं है. क्यों कि जिस पुरुष को ज्ञान नहीं है उसका वयोवृद्धत्व, उसका वैराग्य, संन्यासाश्रम यह सब "उदारनिमित्तं बहुकृत वेषाः" इस श्री शङ्कराचार्य की उक्ति के अनुसार निन्दा के पात्र हो जाते हैं.

श्री रामचन्द्र जी ने और श्री कृष्ण जी ने बाल्यावस्था में ज्ञान-सम्पादन किया था. सनत्कुमार भी बाल्यावस्था में ज्ञानी थे. शुकाचार्य जी ने तो गर्भ में ही ज्ञान सम्पादन किया था इसपर से यह कहना कि, वैराग्यशीलता से ज्ञान में विशेष शोभा प्राप्त होती है भूल है; क्यों कि श्रीकृष्ण भोगी और जनकराजा राज्य-कर्ता होनेपर भी पूर्ण ज्ञानी थे. इससे बढ़ कर अन्य दृष्टान्तों की आवश्यकता ही क्या? सारांश अज्ञान, भ्रम यह सर्व प्रकार से अनर्थकारक है. महावाक्य से तो यह स्पष्ट होता है कि आत्मा

आब्रह्मस्तंब-पर्यन्त व्यापक है. जिनको अभिमान प्रेरित हो कर वाद करना है तो वे भले ही जी भर के करते रहें; परन्तु जिनको आत्म-हित साध्य करना है वे आत्मविद्या ही सम्पादन करें. वैसे ही परोक्ष-विद्या और परोक्ष-ज्ञान भी उन्हें परमावश्यक है; उसके विना -ईश्वर है- यह निश्चय पूर्वक ज्ञान नहीं होगा. यदि "मैं ईश्वर हूँ, ब्रह्म हूँ" यह न जान लिया जाय तो भी चिन्ता नहीं, परन्तु "अपना ईश्वरता का स्वरूप कुछ और ही है, उसी शक्ति से हम व्यवहार कर सकते हैं, हमको मृत्यु का भय नहीं किन्तु हम जन्म-मरण को उत्पन्न करते हैं! जन्म लेने अथवा आकाश में अनन्त गोल जो हैं वहाँ तैजस-शरीर से उपस्थित होकर वहाँ के सुख का अनुभव करने, अथवा कैलास वैकुण्ठादि ब्रह्म-लोक में अखण्ड रहने की शक्ति अपने में है" यदि इतना भी जिसके समझ में न आए तो समझ लीजिए कि इस श्रेष्ठ आर्य-भूमि में उसका जन्म ही व्यर्थ है! ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड की रचना बहुत ही कुशलाई और बड़े ही सामर्थ्य की द्योतक है इसमें भी जो शुद्ध भूमि में उत्पन्न होते हैं उन्ही को ज्ञान का लाभ होता है. जिस पवित्र भूमि में देवता और शास्त्रों का अस्तित्व है, जहाँ योगाभ्यास और सबसे श्रेष्ठतर आत्म-विद्या है; ऐसी इस शुद्ध और पवित्र भूमि पर परमेश्वर हमें जन्म जन्म उत्पन्न करे!! और आत्मविद्या सबको फलदायक होवे! यह हमारा कहना दृढ़ अनुभव पूर्वक है इस लिए यह विद्या सम्पादन करके फल प्राप्त कर लेना चाहिए; कुतर्क करने का कोई कारण नहीं. सारांश, जो आत्मा सर्वव्यापक, कर्ता

सर्वरूप धारण किया हुआ, समस्त दृश्य-वेशों से सजा हुआ है, जिसके सामर्थ्य से श्वासोच्छवास उत्पन्न होते हैं, जो चेतन-सत्तामात्र है उस स्वरूप का ज्ञान –चाहे वह परोक्ष हो अथवा अपरोक्ष– सम्पादन करके सभी सुखी हो जाँये. यहाँ जाति, धर्म वय, अधिकार इनका किञ्चित् भी निर्बन्ध नहीं है. जैसा कि श्री शङ्कराचार्य जी की उक्ति है :–

> योगरतो वा भोगरतो वा संगरतो वा संगविहीनः ।
> यस्य ब्रह्मणि रमते चित्तं नंदति नंदति नंदत्येव ॥१९॥
>
> –(मोहमुद्गरः).

यही सत्य सिद्धान्त है. इसके सम्बन्ध में कितना भी लिखा जाय तो भी अन्तिम बात यही है कि सबको सामर्थ्य देने वाला सर्वचालक आत्मा है, इस कारण सभी लोग आलस्य को छोड़-छाड़ आत्म-विचार सम्पादन करके अखण्ड सुखी हो जाँये.

जो ऐसा कहते और समझते हैं कि "आत्म- विद्या की योग्यता का अवलम्ब विशेष व्यक्तियों पर अथवा विशेष जाति पर है" उनको विचार करना चाहिए कि, ऐसी एक सर्वप्रसिद्ध कहावत है कि :– गर्भ में सब जाति के प्राणी "सोऽहं सोऽहं" का उच्चार करते हैं और गर्भ से बाहर निकलते ही उनको "कोऽहं कोऽहं ?" की सूझती है. अर्थात् आत्मज्ञान की स्फूर्ति सब व्यक्तियों में है, यह हमारा कहना, बोलना सबके लिए कल्याणकारक है इसलिए धार्मिक लोग प्रेम दृष्टि से देख कर इसका ग्रहण कर मधुर लाभ उठाएँ.

३१ सत्स्वरूप–वर्णन :–

सत् शब्द का "है ही है" यह अर्थ व्यावहारिक भाषा में होता है. किसी एक पदार्थ को यदि "है" कहा जाय, वह कहना सद्विशिष्ट हो गया, इसपर से सिद्ध होता है कि " यह विशेषण दिए विना बात ही नहीं बोली जा सकेगी! यानी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं ठहराया जा सकेगा. "व्यवहार कब तक चला करता है?" इसके उत्तर में श्री शङ्कराचार्य जी कहते हैं कि "सत्यानृते मिथुनीकृत्य" मायिक पदार्थों की मायिकता और ब्रह्म की सत्यता यह दोनों घुल-मिल रहने से व्यवहार होता है. इस कहने का अर्थ यह हैं कि, विना ब्रह्म के माया दिखाई ही नहीं देगी. जैसा कि भ्रम-पदार्थ भी अधिष्ठान विना दिखाई नहीं देता. यहाँ और भी एक बात ऐसी है कि, सब पदार्थों का नाश कहा जा सकता है; परन्तु कहने वाला कोई एक उर्वरित रहेगा ही रहेगा! उसी प्रकार से पञ्चमहाभूतों का यदि नाश हो जाय तो भी सबको आधारभूत जो ब्रह्म है उसका नाश कभी नहीं होता. कारण, नाश का स्वरूप यदि बतलाना हो तो प्रथम पदार्थ का अस्तित्व बतलाना पड़ता है और यदि पदार्थ ही नहीं तो नाश किसका बतलाया जायगा? जिस पदार्थ का नाश बतलाना है उसका अस्तित्व प्रथम मान्य करना ही पड़ेगा, नहीं तो शशशृङ्ग, अहिकुण्डल अथवा सर्प के कान का नाश कहने के समान झूट ठहरेगा! कारण, शश (यानी खरगोश) को सींग रहते ही नहीं! फिर तो उसका नाश क्यों कर कहा जा सकेगा? इस लिए व्यावहारिक, प्रातिभासिक और पारमार्थिक के किसी एक दृष्टि से क्यों न हो अस्तित्व मान लिए विना नाश नहीं माना जा सकता.

अब यह मानना चाहे भ्रम समझा जाय अथवा सत्य; परन्तु जिस पदार्थ का नाश होता है उसको सिद्ध करके बतलाने वाला कोई एक होना ही चाहिए.

सद्रूप कोई और (अन्य) नहीं है किन्तु सब पदार्थों में जो स्वत्व अथवा अस्तित्व है वही सद्रूप है, नाम-रूप से युक्त जो जो पदार्थ हैं उन सबके साथ यानी-उदाहरणार्थ :- "मनुष्य है, घोड़ा है, गाड़ी है" इसमें जो आस्तित्व रहता है वह जैसे का वैसा ही स्थित रहता है. पदार्थ का नाश हो जाय तो भी सद्रूप का नाश नहीं होता, और यदि "नहीं" ऐसा भी कहा जाय तो उसमें भी नाम-रूप का अभाव ही व्यक्त होता है. संस्कृत में "नहीं" को "नास्ति" कहा जाता है, "नहीं" यह शब्द कहते समय में भी "अस्ति" शब्द का उपयोग करना ही पड़ता है. तात्पर्य, किसी पदार्थ का नाश सर्वांश से नहीं होता है किन्तु केवल नाम-रूप का ही नाश होता है; यानी मूल जो अस्तित्व रहता है उसीके विवर्त से अनेक आकृतियाँ दिखाई देती हैं उस समय ब्रह्मरूप आकाश के समान भासमान होता है और प्रलय-काल में उस नाम-रूप का नाश होकर अखण्ड एकरूप चिदाकाश रहता है. इस सिद्धवचन का थोड़े में तात्पर्य यह है कि, अपने में सत्ता-रूप का अस्तित्व रहे बिना "मैं हूँ" ऐसी स्फूर्ति भी नहीं होगी. अब "मैं देही, मैं बुद्धिमान् हूँ" इस कहने में भी अन्तःकरण-सहित है? अथवा उपाधि-रहित है ऐसा बोध (पहचान) उत्पन्न होगा अथवा मिट जायगा; परन्तु ज्ञानरूप जो अस्तित्व है वह तो कभी नष्ट होगा ही नहीं.

इस विषय में बड़ा ही विस्तार पूर्वक लिखना पड़ेगा, परन्तु प्रस्तुत केवल विषय ही बतलाना है. यहाँ इतना ही ध्यान में रखना चाहिए कि, जगत् में जो जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, दिखाई देती हैं. रहती हैं उन सबको छः विकार -जिनके नाम यह हैं कि :- अस्ति, जायते, वर्धते, परिणमते, क्षीयते, विनश्यति यानी हैं, उत्पन्न होते हैं, वर्धित होते हैं (बढ़ते हैं), पूर्णता को पहुंचते हैं, क्षीण होते हैं और नष्ट हो जाते हैं -हुए विना नहीं रहते. यह छः सबके लिए लागू हैं, कभी टल नहीं सकते. यहाँ ऐसी एक शङ्का उत्पन्न होगी कि "अस्ति" यह लक्षण ब्रह्म का होते हुए मायिक पदार्थों को कैसा प्राप्त हुआ? इसका यह उत्तर है कि ऊपर प्रातिभासिक, व्यावहारिक ऐसा जो भेद बतलाया गया है उसका अर्थ पारमार्थिक-अस्तित्व और प्रातिभासिक-अस्तित्व भिन्न हैं, इस कारण यहाँ प्रातिभासिक-अस्तित्व ही लेना पड़ेगा-यानी "व्यवहार में जगत् का आस्तित्व और क्षणिक सत्यता माननी ही पड़ेगी. ऐसा यदि न मानें तो व्यवहार ही नहीं चलेगा" ऐसा कितेक पण्डितों का कहना है. हमारे मत से इतना प्रयास न भी किया जाय तो भी यह बात सिद्ध होती है कि, भ्रम-काल में भी जिस जिस स्थान में अस्तित्वधर्म हमें भासमान होता है वह धर्म पदार्थ का नहीं है किन्तु ब्रह्म का है, यही सिद्धान्त सत्य है. यानी ख्यातिवाद में "जो पदार्थ झूँठा (असत्य) ठहरता है उसका ज्ञान भी झूँठा निश्चित होता है" ऐसा कितने ही कहते हैं, परन्तु वह ठीक नहीं है. इस लिए कि भ्रमकाल में, आभास-काल में, स्वप्न और जागृति-काल के ज्ञान में तो किसी प्रकार का भी विकार नहीं होता -यानी ज्ञान कभी असत्य

होता ही नहीं. इसमें तात्पर्य यह है कि, वृत्ति का व्यापार यदि झूँठा होगा तो भी उसका सामर्थ्य झूँठा नहीं. भासक का अस्तित्व त्रिकालाबाधित है. इसमें आशङ्का का होना निरी भूल है.

अस्तित्वयमित्यस्मिन्नर्थे कस्यास्ति संशयः पुंसः ।
अत्रापि संशयश्चेत्संशयिता यः स एव भवसि त्वम् ॥४॥
–(स्वात्मनिरूपण).

इस उक्ति का सिद्धान्त यह है कि –अस्तित्व सबको मान्य करना ही पड़ता है और सब जड़ पदार्थ भी अस्तित्व के आधार से ही भासते हैं. उसमें विवेक यह है कि, पदार्थ के केवल नाम–रूप ही बदलते हैं, परन्तु अस्तित्व कभी उसमें से बदलने नहीं पाता इस लिए सद्रूपता ब्रह्म के ही लिए है. "ब्रह्म सद्रूप है" यूँ कहने में ऐसा भी अर्थ प्रतीत होता है कि आत्मरूप– ब्रह्मरूप यह सत्तामात्र है, सन्मात्र है यानी चमत्कार, सामर्थ्य, वेग, गति यह सब जिससे उत्पन्न होते हैं उस सामर्थ्य की खनि (खान) प्रकाश का आदि रूप ज्योतिमात्र, एक, सदाकाश, सर्वकाल "अस्ति" शब्द से जिसका व्यवहार होता है और एक प्रत्यक्ष जो जगत् में तत्त्वरूप ब्रह्म है, वही सर्वत्र "अस्ति" यानी "है" इस शब्द से कहा गया है. अर्थात् जगत् में अस्तित्व का जो रूप है वह ब्रह्म का रूप और नाश यह विकार का रूप है.

३२ चित्स्वरूपवर्णन :–

चित् शब्द का अर्थ ऐसा होता है कि, जो दिखाई देता है,

भासमान होता है वह सब ब्रह्मरूप, प्रकाशमय है. ब्रह्म कहना यह भी एक विशेषण ही है. सब पदार्थों से अधिक श्रेष्ठत्व जिसको है उसे ब्रह्म कहते है. अर्थात् भास दिखाने वाले को भी ब्रह्म ही कहना चाहिए. यानी मन को जो जान पड़ता है, ज्ञात होता है वह भी एक प्रकाश ही है; जानना, पहचानना, यह भी एक सूक्ष्मरूपी प्रकाश का ही कार्य है. जब तक किसी एक विषय का अथवा विषय में के रहस्य का मन में प्रकाश नहीं पड़ता उस समय तक ऐसा नहीं कहा जा सकता कि- "वह विषय ज्ञात हुआ." अब ज्ञान और ज्ञान की वृत्ति बढ़ती है- यानी विषय यदि दूर रहे तो जैसा कि वेदान्तपरिभाषा में कहा गया हैं कि- हौज में का पानी नालियों के मार्ग से दूर तक जाकर वृक्ष के आसपास घेर बनाता है, फैल जाता है जिससे वृक्ष में शीतलता आकर उसका पोषण होता है उसी प्रकार से प्रकाशमय वृत्ति इन्द्रिय द्वारा पदार्थ तक जाकर पदार्थमय होती है, उस समय में उस पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसको प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं. अब मानसिक ज्ञान यानी मानसिक वृत्ति स्वयम् तेजोमय रहने से वृत्ति में आकृति उत्पन्न होती है वह सहज पहचानी जाती है. जैसे सूर्यकिरण दौड़ते समय ऐसा ज्ञात होता है कि, प्रकाश ही दौड़ रहा है और किरण लम्बा होता है तो जान पड़ता है कि प्रकाश में भी लम्बाई आ गई, परन्तु प्रकाश व्यापक रहने से उसमें व्यापार होता ही नहीं. उसी प्रकार से मन सब व्यापार किया करता है यानी मन की आकृति इच्छानुसार होती है; परन्तु मन का भासक जो प्रकाश है वह सम्पूर्ण एक साँ विकार-राहित, अखण्ड, एकरूप रहता है इस लिए कि प्रकाश को व्यापार कुछ भी नहीं रहता किन्तु

केवल व्यंजक पदार्थों में व्यापार हुआ करता है. मन यदि एक समय ऐसा स्फुरित होता है कि "मैं विषय को जानता हूँ" तो कभी इसके विरुद्ध यानी "मैं जानता नहीं" ऐसा भी स्फुरित होता है, परन्तु मन के विषयाकार स्फुरण को प्रकाशक जो ज्ञान है वही ज्ञान जिस समय "मुझे विषय का स्मरण नहीं होता" ऐसा मन कहता है उस समय उस अनास्तित्व (नहींपने) का भी प्रकाशक है. अर्थात् "मैं जानता हूँ" यह व्यापार शान्त आत्मा में है ही नहीं! किन्तु विकल्प उठते समय जो पहचान प्रतीत होती रहती है वह भी मन के कारण से ही होती है. इसपर कोई कहेंगे कि "तो फिर मन की उन्मनावस्था भी आत्मा ही पहचानता होगा" परन्तु वैसा नहीं. जानना यह वृत्ति का धर्म है. तो फिर वृत्ति-रहित आत्मा मन को कैसा जानेगा? हाँ! मन को ही यदि वृत्ति कहें तो वैसा भी नहीं कहा जा सकता. कारण अपना रूप शान्त, एक, अखण्ड, अज्ञानरहित, केवल ज्ञानरूप है. उसमें जिस सत्ता की स्फुरणरूप ज्वालाएँ अथवा लहरें उठती हैं उसको वृत्ति कहते हैं. यह वृत्ति जो कार्य करने के लिए समर्थ होगी वही नाम उस वृत्ति को आता है यानी अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, कल्पना, धारणा, मेधा, धृति, कृति, प्रमाण इस प्रकार के नाम उसे प्राप्त होते हैं. इसमें जैसी जड़ता स्पष्ट होगी और उससे जैसे पदार्थ उत्पन्न होते जायँगे उसको पञ्चभूत अर्थात् "जायते" यह नाम प्राप्त होता है. पहिला आकाश है,

उससे जो वेग स्पष्ट होता है वह वायु है. यह दोनों तत्त्व बहुत ही तेजोमय हैं. अब अपञ्चीकृत आकाश का भेद यानी अन्तःकरण-पञ्चक, यह तेजोमय है इस लिए वे जड़ पदार्थों को जानते हैं अर्थात् यह भूतें तेजोमय हैं. इसमें विशेष जड़ता आने पर यानी दिखाई देने की योग्यता प्राप्त होने पर उसको तेज यानी अग्नि कहते हैं और जहाँ जड़ता की सीमा हो गई, प्रकाश का रूप बदल कर पूर्ण प्रकार से अन्धकार का अनुभव आने लगा तो पृथ्वीतत्त्व समझना चाहिए.. अस्तु; इसी वेग से अनन्त गोल उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं; परन्तु इसमें भासक जो प्रकाश है उसका कभी नाश नहीं होता; अर्थात् प्रकाशमात्र जो वस्तु है वह ब्रह्मरूप है. चैतन्य यानी जड़ को चलाने वाला, चालक ऐसा भी उसका अर्थ होता है; परन्तु जो कुछ यह सब चल रहा है, जो व्यापार हो रहा है उसका निमित्त ब्रह्म-तेज है और वह अपने सत्ता से विवर्त-रूप दृश्य उत्पन्न करता है, इस लिए उसको उपादान कहना चाहिए, और अपने सामर्थ्य से चलता है इस लिए निमित्त-साक्षी कहना चाहिए. इसकी कितनी ही विस्तृत व्याख्या की जाय तो भी वह सम्पूर्ण नहीं होगी. सारांश, सर्व व्यापार चैतन्य से ही हुआ करते हैं, वेद भी बार बार और स्पष्ट कहते हैं कि "जगत् का उत्पादक, पोषक, दर्शक चैतन्य ही है. हम जितनी कुछ व्याख्या करें वह भी चैतन्यसामर्थ्य ही है; ऐसी अवस्था में जो थोड़ी सी विचार की दिशा बतलाई है वह पाठक ध्यान में रखें.

३३ आनन्दस्वरूप —वर्णन :—

पाठकवर्ग! आत्मरूप यह भक्तकार्यकल्पद्रुम है और सर्व रूप इसीसे उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं और इसीमें लीन होते हैं. यह कभी न भूलना चाहिए कि —कैसे ही विषय में से जो जो सुख प्रकट होता है वह परमेश्वर का ही रूप है. ईश्वर आनन्दरूप है इसी कारण विषय में आनन्द प्रतीत होता है, जगत की रटनी चालू है. यदि यह आनन्दरूपता ईश्वर में न रहती तो कभी कोई व्यापार ही न होने पाता. सुख के कारण ही सब व्यापार हैं. यह सुख-सृष्टि उत्पन्न करके दिखाने का सामर्थ्य भी ईश्वर में ही है. सुख के ही कारण इन्द्रिय—व्यापार हुआ करते हैं और सुख ही उनका जीवन है. यदि ईश्वर में सुखरूपता न होती, यदि ईश्वर आनन्द-रूप न होता तो जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं होता. उल्हास, व्यापार, स्फुरण, वृत्ति यह सब आनन्द—मूलक ही हैं. यह आनन्द स्थिर, व्यापाररहित और ब्रह्मरूप है; इसके सामर्थ्य से जो वृत्ति-लहरी उत्पन्न होती है उसका भी पोषक—द्रव्य यह आनन्द ही है. वस्तुतः जगत् में दुःख, नाश, अन्धेरा कहीं नहीं है किन्तु यह सब मायाकल्पित है यानी सुख को ही हम दुःख मानते हैं, प्रकाश को ही अन्धेरा समझते हैं. कारण यदि दुःख में सुख न होता तो कोई दुःख ही न किया करता. तामस—वृत्ति जिस समय उत्पन्न होती है उस समय रोने में अथवा शून्य वृत्ति दिखलाने में ही सुख जान पड़ता है. अस्तु; सर्व विषय—व्यापार में जो सुख, जो

प्रियता, प्रेम है वह ब्रह्मरूप -आत्मरूप है, इसी प्रकार की जो उपासना करेंगे और जो सब विषयों में सुख को और आनन्द को देखेंगे, पायेंगे उनको दुःख कभी न होगा. यह ब्रह्मानन्द समस्त मनुष्य, देव, गन्धर्व, पितर, सिद्ध इत्यादि जितने आनन्द हैं उनसे भी अधिक यानी सब विषयों में, पदार्थों में एक ही आनन्द है इस समझ के साथ जो आनन्द उत्पन्न होता है वह सबसे श्रेष्ठ है. यह राज-मार्ग है! इस लिए इसको साधन-सम्पत्ति अथवा किसी प्रकार के भी अभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं है. सृष्टि-नियम में जैसे कि हम हैं उसी स्थिति में, कुछ भी अभ्यास न करते हुए और किसी प्रकार का फेर बदल भी न करते केवल आनन्दरूप का चिन्तन, ज्ञान, अनुभव यही सहज-मुक्ति देने वाले सुलभ और सुलभतर साधन हैं. इसमें "अनुभव" यानी कोई अन्य पदार्थ है ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु संशयरहित पहचान का ही - अ नु भ व - यह पर्याय-वाचक शब्द है. अस्तु; सबको ही आत्म-सुख प्राप्त हो जाय! और सभी सर्वकाल आनन्दसौख्य में अखण्ड हिलोरें लेते रहें! यह प्रार्थना करके इस विषय को सम्पूर्ण करता हूँ.

३४ मध्य-मङ्गल-दर्शक ग्रन्थार्पण :-

आत्मा सबमें सम-समान व्यापक है. अन्य रूप से क्यों न हो, परन्तु आत्मज्ञान सबको समान ही है. कोई भी "मैं हूँ" यह कहे विना नहीं रहता. आत्मा को कोई दूर नहीं कर सकता.

वैसे ही आत्मशक्ति को यानी पञ्चप्राण अथवा श्वास जो चलता रहता है उसको कोई रोक नहीं सकता. योगीगण प्राण-निरोध करते हैं ऐसा जान पड़ता है, परन्तु प्राण को शक्ति देने वाला मन ही है, वैसे ही जान पड़ता है कि, यह प्राण भी मन के ही प्रत्यन्तररूप हैं. जहाँ मनन-क्रिया हुआ करती है उसीको "मन" कहना चाहिए. श्री अवधूतगीता मे स्पष्ट उल्लेख आया है कि "यदि मन को स्थिरता प्राप्त हो जाय वही आत्मा बनता है." जो कुछ और जैसा भी कुछ क्यों न हो, जो माया के आधीन होकर "जीव" कहलाए अथवा माया को स्वाधीन रख कर "शिव" कहलाए; परन्त, आत्मा की व्यापकता ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त सभी को समान है. इस कारण सभी महापुरुषों ने कहा है कि जिस आत्म-शक्ति से सबका, सर्व प्रकार का व्यापार सर्वकाल चलता रहता है उसको पहचान लेना सबके लिए आवश्यक है. इसमें जाति, गोत्र, आधिकार, पण्डित, मूर्ख, व्यसनी, विषयी, मूढ, बालक, तरुण, वृद्ध, वैरागी, योगी, ज्ञानी इत्यादि का कुछ भी भेद नहीं है; जिस प्रकार से, जिस हेतु से, जिस स्थिति में आत्म-चिन्तन होगा वही उत्तम और मोक्षदायक है. विना आत्म-चिन्तन के योग, ज्ञान, वैराग्य, शान्ति, भक्ति, धर्म यह सब व्यर्थ समझना चाहिए; कारण सबका प्रेरक चालक आत्मा ही है. तो फिर जिस पुरुष में समझ और विचार-शक्ति उत्पन्न हुई है उसको तो अवश्यमेव आत्म-चिन्तन ही करना चाहिए. इसमें जिनको देश-हित, आत्म-हित साध्य करना हो उनको तो सबसे अधिक प्रेम और आस्था-पूर्वक आत्मविद्या की सम्प्राप्ति कर लेनी ही परमावश्यक है; कारण अज्ञानी, भ्रान्त,

मृत्यु का भय रखने वाला अथवा जिसको यह नहीं समझ पड़ता कि "हम अनेक जन्म ले सकते हैं" इस प्रकार के अशक्त, दुर्बल पुरुषों का कोई भी उद्योग, आयोजन अथवा साहस हास्यास्पद होता है और उनको उसकी सफलता नहीं मिलती. यह सबके हित का, कल्याणकारक, प्रपञ्च परमार्थ दोनों सुलभता से सम्पादन कर देने वाला मार्ग स्वजनों के ध्यान में आय और यद्यपि वह स्वतः आत्मरूप ही हैं तथापि जो अपना सच्चा सौभाग्य नहीं भोगते हैं, वे जी भर के भोगते रहें; इस भरतखण्ड का झण्डा उँचे से उँचा फड़क जाय! सबको विजय प्राप्त हो जाय!! अमङ्गल, दुःख-बाधा कभी न होने पाय!!! यह काया-वाचा-मनःपूर्वक ईश्वर से अखण्ड प्रार्थना करता हूँ. सकल शब्द ब्रह्म में लीन होते हैं, अर्थात् ज्ञानी पुरुषों के दृष्टि में सुनने वाला, कहने वाला लिखने वाला कोई भी निराला नहीं है, इस प्रकार का मन में निश्चय करके जचाकर हम सकल जनतासह देश-काल-रहित अखण्ड परमानन्द में सदैव सुखी रहें इति अलम्.
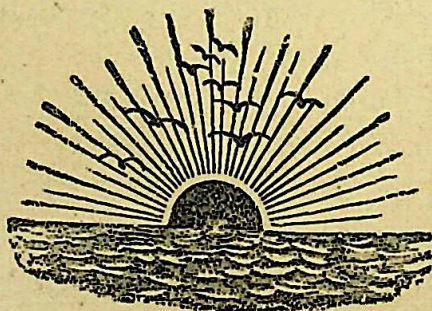
सुधांशु

उत्तरार्ध

(महाराष्ट्र-भाषाङ्कित "श्रीज्ञानमार्तण्ड" ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद)

॥ श्री सद्गुरु माणिकप्रभु प्रसन्न ॥

सुधांशु

उत्तरार्ध

ॐ तत्सत

यत्सत्तया जगत्सत्यं यच्चैतन्येन चेतनम् ।
तमात्मानं प्रपद्येऽहं ब्रह्मरूपं सुखात्मकम् ॥

पहला प्रकरण

श्री दत्तात्रेय– स्वरूप कथन

श्री जी अनेक रूप धारण करके सर्वकाल जीवों का कल्याण करते रहते हैं, किम्बहुना यह जगत उन्ही का रूप है,

ब्रह्मदेव जी ने ऐसा प्रतिज्ञा पूर्वक कहा है :-

शिव एवास्ति नैवान्यदिति यो निश्चयः स्थिरः ।
सदा स एव सिद्धान्तः पूर्वपक्षास्तथाऽपरे ॥ १२७ ॥
अयमेव हि वेदार्थो नापरः परमास्तिकः ।
गृण्हामि[1] परशुं तप्तं सत्यमेव न संशयः ॥ १२८ ॥
अयमेव हि सत्यार्थो नापरः परमास्तिकः ।
विश्वासार्थं शिवं स्पृष्ट्वा त्रिवः शपथयाम्यहम् ॥ १२९ ॥
अयमेव हि वेदार्थो नापरः परमास्तिकः ।
अन्यथा चेत्सुराः सत्यं मूर्धा मेऽत्र पतिष्यति ॥ १३० ॥
अयमेव हि सत्यार्थो नापरः परमास्तिकः !
अत्रैव सन्निधिं देवो विश्वासार्थं करिष्यति ॥ १३१ ॥

-(ब्रह्मगीता,-अध्याय ५)

छांदोग्योपनिषद् में भी कहा गया है कि :-

" एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो "

-(छांदोग्योपनिषद्-अ. ६, खण्ड १२, मन्त्र ३)

"हे श्वेतकेतो! यह सर्व आत्ममय है और तू भी वही है" वैसा ही

टिप्पणी— १ पूर्व काल में यदि किसीके कथन में ऐसा सन्देह उत्पन्न हुआ हो कि यह जो कहता है वह सत्य है किम्वा झुँठ? वैसे प्रसङ्ग में उसके द्वारा दिव्य कराते थे. तप्त-परशु-ग्रहण यह भी एक प्रकार का दिव्य है. यदि भाषण सत्य रहे तो तप्त-परशु उठाने पर भी हात जलता नहीं था. छांदोग्योपनिषद् में प्रसङ्गानुसार यह विषय कहा गया है. प्रस्तुत वाक्य में अपने सिद्धान्त का सत्यत्व दृढ़ करने के लिए "गृण्हामि परशुं तप्तम्" ऐसा कहा गया है.

श्री प्रभु के स्वरूप-लक्षण[1] बतलाने वाले-सत्य, परब्रह्म, चित्, आनन्द, आत्मा इत्यादि और तटस्थ लक्षण[2] बतलाने वाले -चालक, प्रेरक, ईश्वर इत्यादि नाम हैं; इनसे भी सिद्ध होता है कि, श्री प्रभु ही सर्वात्मस्वरूप हैं. इस श्री प्रभु के स्वरूप में माया-मल अथवा अविद्या-मल का नाम तक नहीं और उस स्वरूप को विकार, दुःख, अपघात इत्यादिकों का स्पर्श भी होना शक्य नहीं है.

२— इसपर कोई आक्षेप उठाएँगे कि "यदि जगत् और परब्रह्म एक ही है, तो फिर गुरु-शिष्य-सम्बन्ध की[3] आवश्यकता ही नहीं रहती? अर्थात् इस ग्रन्थ का भी प्रयोजन क्या?" इसका उत्तर यह है कि -ऐसा विचार करना चाहिए कि यह जगत् मायिक है. वह माया भी आनादि है. वैसा ही उसके आवरण

टिप्पणी—१ जो किसी वस्तु का अन्य वस्तुओं से भेद बतलाने वाला हो वह "लक्षण" कहलाता है. यदि वह स्वरूप में अन्तर्गत रहा हो तो उसको 'स्वरूप-लक्षण" कहते हैं. यथा 'विष्णु की गौ कौनसी?' तो "वह जो लाल रङ्ग की और लम्बे सींगों की है!"

टिप्पणी—२ जो लक्षण स्वरूपान्तर्गत नहीं रहता किन्तु प्राप्त समय के पर्याप्त लक्ष्य वस्तु का बोध कर देने तक ही लाभकारी होता है वह "तटस्थ-लक्षण" कहलाता है. जैसे :—'विष्णु की गाय कौन-सी?' तो "जिसके गले में चाँदी की साँकल लटकी हुई है वह!"

टिप्पणी—३ अपने सह समस्त जगत् ब्रह्मरूप रहने के कारण गुरु और शिष्य, उपदेश देना और पाना, कहना और सुनना इत्यादि भेद ही नहीं रहने पाता. तथापि "सब कुछ ब्रह्ममय है" ऐसा अनुभव प्राप्त हुए तक गुरु-उपदेश की आवश्यकता है. जो अज्ञानी हैं उन्ही के लिए शास्त्रोपदेश है, ऐसा श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने भाष्य में अनेक वार कहा है. अनुभव करने के उपरान्त कहना, सुनना यह भेद ही शेष नहीं रहता.

और विक्षेप-शक्ति का सामर्थ्य भी बड़ा ही भारी है. इसके अतिरिक्त माया जो जगच्चक्र निरन्तर घुमा रही है वह भी ईश्वर के ही आज्ञा के अनुसार है. उसके कारण जो अज्ञान जीवों में जड़ पकड़े बैठा है इसका निराकरण होना अत्यन्त आवश्यक है. और यदि अज्ञान का निरसन करना हो तहाँ गुरु शिष्य सम्बन्ध सहज ही प्राप्त हो जाता है. यद्यपि जगत ईश्वर और ब्रह्म परमार्थ दृष्टि से पृथक् नहीं हैं तथापि यह तो सत्य है. कि मन को यह जगत् प्रत्यय-रूप से भासता है और पञ्चमहाभूत नयनों को प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं, तो यह भेद-दृष्टि नष्ट होने के हेतु विचार करना प्राप्त है.

३ — बहुत दिनों से हमारा विचार, यह मनोरथ था कि सब में श्रेष्ठ सकल-सुख-दायिनी आत्म-विद्या सब लोगों के समझ में पैठाया जाय जिसके द्वारा जगत् के सन्मुख स्वानुभव के सिद्धान्त का निर्देश हो जाय. यह कुछ किसी और हेतु से नहीं किन्तु वेदान्तविषयक अभिलाषा आत्मविषयक प्रेम और आत्म-सुख-लाभ ही केवल मुख्य है. यह कार्य हमसे कैसा क्या बन पड़ा? हमारा कृतसङ्कल्प किस प्रकार पार पाता है और उसपर विद्वज्जनों का कैसा अभिप्राय होगा, यह आजमाने के लिए संक्षेपरूप से इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध प्रसिद्ध किया गया था. उसपर बहुत से विद्वानों ने बड़े ही प्रेम और आदर से अपनी अपनी सम्मतियें प्रकट कीं और ऐसी एकमत सूचनाएँ प्राप्त हुईं कि, "इस ग्रन्थ का उत्तरार्ध भी अवश्यमेव प्रसिद्ध किया जाय." "पांचा मुखीं परमेश्वर" (जनता की वाणी द्वारा परमेश्वर बोलता है) इस लोकोक्ति के नाईं से इसको ईश्वरीय आज्ञा ही समझ कर प्रथमतः मङ्गलाचरण पूर्वक उपास्य-देवता का

ध्यान करके सृष्टि-नियम के अनुसार हम अपने प्रेमी लोगों को अपना अपना सत्य विद्या-धन प्राप्त हो जाय इस हेतु निबन्ध-रूप से लिख रहे हैं.

४ — इस सम्प्रदाय के मुख्य दैवत श्रीदत्तात्रेय हैं. यह श्रीदत्तात्रेय परब्रह्मस्वरूपी हैं. वे अवस्थात्रयी को पहचानने वाले, तीनों अवस्थाओं में वास करने वाले और तीनों अवस्थाओं का नियमन करने वाले हैं. यह बात, यह तत्त्व "दत्तात्रेय" शब्द के व्युत्पत्ति पर से ही सिद्ध होती है वह व्युत्पत्ति इस प्रकार कि :-

दत्त एव आत्रेयः =दत्तात्रेयः। अत्रिः =अस्ति नाम सन्ति त्रीणि कर्मोपासनज्ञानानि, त्रयो देहाः, तिस्रो अवस्था वा यस्मिन् सः अत्रिः अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्। वर्णलोपस्तु अर्कवत्।

अर्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम्।

—(बृहदारण्यकोपनिषद्-अध्याय १, ब्राह्मण २, मन्त्र १)

इसी प्रकार महाभारत के विराट्-पर्व में उत्तरगोग्रहण के प्रसङ्ग में अर्जुन के बाण का वर्णन करते समय –

"अत्रमध्ये यथार्कस्य"

इस श्लोक में का "अत्र" यह शब्द "अमत्र" यानी बरतन के अर्थ से लिया गया और "अमत्र" शब्द में के "म" वर्ण का लोप किया गया है. इसी न्याय के अनुसार यहाँ "अत्रि" शब्द का विग्रह किया है. तात्पर्य, अत्रि उसको कहना चाहिए जिसमें अवस्थात्रय, सत्तात्रय अथवा देहत्रय वास्तव्य करते हैं. इस विधान से यह स्पष्ट होता है कि, जहाँ पारमार्थिक, व्यावहारिक

और प्रतिभासिक इन तीनों सत्ताओं का सम्मिलन हुआ है ऐसा जो व्यष्टिरूप शरीर-यन्त्र वह "अत्रि" कहलाता है. इस यन्त्र को तथा अत्रि-मुनि को जिस भगवान् ने "स्वयं दत्तोऽहम्" कहते हुए अपने को अर्पण कर लिया है वही "दत्तात्रेय" है. सारांश यह कि, सर्व-चालक श्रीदत्तात्रेय-रूपी प्रभु इन तीनों अवस्थाओं को व्यापन करके स्थित हैं जिनके अतिरिक्त किसी प्रकार का कोई व्यापार हो ही नहीं सकता.

५ इसपर कोई ऐसा आक्षेप कर बैठेंगे कि 'सच कहा जाय तो वेदान्त-विषय में दत्तात्रेय का विवेचन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं. कारण कि, साधक को तो केवल पारमार्थिक सत्ता-रूप तथा अखण्ड, एक, अद्वितीय, चिन्मात्र-रूप बने रहना अथवा साधन-चतुष्टय सम्पादन करके निर्वात दीपवत् अखण्ड समाधि-सुख का लाभ उठाना है. तब इसके बन पड़ने में व्यावहारिक सत्ता की शरण लेने की आवश्यकता ही क्या है? परन्तु आप ने तो साथ यह भी कह डाला कि "व्यवहार भी आत्म-तत्त्व का द्वार ही है." यद्यपि यह मान लिया जाय कि, व्यावहारिक सत्ता भी आत्म-तत्त्व का ही एक स्वरूप है तो फिर जगत् में मिथ्या नामक पदार्थ का पता ही न रहेगा! इसके अतिरिक्त आपके मत से अवस्था-त्रय भी निरन्तर रहने वाले हैं. इन सब की सङ्गति क्यों कर और कैसी बन पड़े?

६ उपर्युक्त शङ्का का समाधान यूँ है कि, यद्यपि अवस्थाएँ क्षणिक हैं, सृष्टि की आकृतियाँ मिटती जाती हैं तथापि सृष्टि का होता रहना और मिटता जाना नहीं रुकता. इसी कारण भाष्यकारों ने भी कहा है कि, यद्यपि स्वरूपतः सृष्टि की स्थिति नहीं

रहा करती तो भी प्रवाह-रूप से अखण्ड कहलाती है यानी, आविर्भाव, तिरोभाव अथवा बीजाङ्कुरन्याय से माया का कार्य यद्यपि नष्ट हो जाय तो भी माया कभी नाशित नहीं होने पाती। इस लिए कि वह ब्रह्म की शक्ति है.

७ इसपर यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि अवस्थायें भी निरन्तर रहेंगी और आत्मा भी नित्य रहेगा ही रहेगा तो क्या ऐसा भी कहा जा सकेगा कि, आत्मा अतएव हम भी प्रपञ्च के रगड़े झगड़े से और भूत = सङ्घ के सङ्घटन से अलिप्त हैं? वह आत्मा है जो चेतन अमर, शुद्ध, नित्य, व्यापक और अखण्ड कहलाता है. श्रीदत्तात्रेय ही[1] आत्म-रूप हैं और व्यापक भी, व्यवहार-दृष्टि से भी यदि देखा जाय जाग्रत अवस्था में काम, क्रोध, लोभ, मोहादि व्यापार आत्मा ही चलाता रहता है. ऐसी अवस्था में आत्मा की अलिप्तता कैसी स्थिर रह सकेगी? "मैं असङ्ग हूँ" इस वाक्य को विना ज्ञानी-व्यक्ति के कोई एक भी विश्वास के योग्य नहीं समझता किन्तु जागृति और स्वप्न में सब को सुख-दुःख वराबर प्रतीत होते रहते हैं. पर आप जो कहते हैं कि आत्मा तीनों अवस्थाओं से पूर्णतया अलिप्त है. वह तो निरी अनुभव-विरुद्ध बात है.

८ इसका समाधान यूँ है कि ऐसा जो जान पड़ता है वही भ्रम है, इसीको अज्ञान कहते हैं. पर कोई चिन्ता नहीं

टिप्पणी—१ पाठकगण! इस ग्रन्थ में "दत्तात्रेय" नाम का उल्लेख जहाँ जहाँ आया है वहाँ वहाँ यह शब्द तीनों अवस्थाओं को जानने वाला, तीनों अवस्थाओं में रहने वाला इस अर्थ से ग्रहण करें.

थोड़ा विचार करने पर यह अज्ञान नष्ट हो जायगा. उसके लिए प्रथमतः यह अच्छी तरह से ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति परस्पर पृथक्क पृथक् हों, पर इन तीनों अवस्थाओं में हम तो वही एक ज्यों के त्यों बने रहते हैं यह बात ऐसी तो नहीं है कि कोई दूसरा हमें सुनाये और समझा दे। तिसपर भी यदि कोई ऐसा कहेंगे कि, नींद में हमको राग-द्वेष इत्यादि भाव नहीं थे वे सब जागृति में तो प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। अतः उस समय के हम इस वर्तमान स्थिति में उपस्थित नहीं जान पड़ते, तब उनसे यह प्रश्न किया जायगा कि :—

"सुखमहमस्वाप्सम्" (मैं सुख से सोया था) 'न किञ्चिदवेदिषम्' (मुझे कुछ नहीं जान पड़ा) ऐसा जो तुम कहते हो वह किसके सम्बन्ध में? "जब मैं सोया हुआ था" और "अब मैं जाग्रत हूँ" इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि, भूतकाल के निद्रा की और वर्तमान में जाग्रत रहने की क्रिया करने वाला आत्मा तो एक ही है. तात्पर्य कोई व्यक्ति भी यह बात नहीं मानता कि, निद्रावस्था में मैं नहीं था किन्तु कोई और ही था.

९ तथापि ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि, निद्रा-काल में अपने शरीर का सुख-दुःख किस प्रकार का था? क्या वह ढाँका हुआ था अथवा खुला पड़ा था? इसका कारण यह है कि, सुख-दुःखादि भाव जिन इन्द्रियों द्वारा प्रतीत होते हैं वे ही उस समय विलीन दशा में थीं.

१० इसपर से यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि, जहाँ इन्द्रियों सहित मन का व्यापार चला रहता है उस स्थान में ही

"मैं देही" यह अभिमान रहता और विषय-भोग भी हुआ करता है, और जिस अवस्था में इन्द्रियें लीन हो जाती हैं उस समय में यद्यपि हम (आत्मा) तो रहते ही हैं, पर (हमारे दृष्टि में) जगत् नहीं रहता. कारण कि उस अवस्था में हमारा अस्तित्व निर्व्यापार, अचल और ज्ञान-रूप रहा करता है.

११ इसपर भी कोई आक्षेप करेंगे कि जागृति में भी हमें इन्द्रिय-भोग की प्रतीति क्यों आनी चाहिए? क्या उस समय में भी सचमुच भोग नहीं हुआ करते अथवा क्या भोग-प्राप्ति का केवल भ्रम ही हुआ करता है?

१२ इसका रहस्यपूर्ण मर्म यह है कि, ज्ञान-रूप, प्रकाश-रूप अथवा अनुभव-रूप हम ही हम स्वयम् है. पञ्च-भूतों में तो प्रकाशन-शक्ति किञ्चिन्मात्र भी नहीं है. इसपर कोई पूछ बैठेंगे कि यह सामर्थ्य मन को तो प्राप्त है या नहीं? इसका साफ़ उत्तर यह है कि "नहीं" मन को भी यह सामर्थ्य प्राप्त नहीं हो सकता.[1] कारण मन भी तो आकाश-तत्त्व होने के कारण जड़ ही कहलाता है, और जड़ को तो ज्ञान-सामर्थ्य प्राप्त ही नहीं है! यदि

टिप्पणी-१ रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक्तु मानसम् ॥
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव तु न दृश्यते ॥
-(श्री शङ्कराचार्यकृत वाक्यसुधा).

सारांश, रूप को नेत्र देखते हैं, नेत्रों को मन जानता है और मनोवृत्ति, काम, संशय, सङ्कल्प, भय इत्यादिकों को आत्मा जानती है, परन्तु उसको जानने वाला कोई नहीं है. ऐनक लगाने पर बारीक अक्षर स्पष्ट दीख पड़ते हैं, परन्तु दर्शन-शक्ति नेत्रों में ही रहा करती है, ऐनक केवल नेत्रों की सहायक हैं;

इसपर भी प्रश्न आए कि "तो फिर ऐसा कहना पड़ेगा कि विषयों के भोग आत्मा को ही हुआ करते हैं!" इसका भी उत्तर नकार में ही मिलेगा, क्यों कि वास्तव में हम (अर्थात् आत्मा-चेतन निर्व्यापार) हैं इस लिए कि अपने अर्थात् आत्म-रूप में कोई भी क्रिया सम्भवनीय नहीं. इसी कारण ज्ञान-क्रिया हो ही नहीं सकती.

१३ तो फिर ज्ञान जो होता है वह किस प्रकार और किसको? ऐसी जिज्ञासा यहाँपर सहज ही उद्भूत होगी. तो अब हम उनका ही विचार करें.

प्रथमतः जब कि विषय-भोग हुआ करता है उस समय किस किस की ओर क्या क्या कार्य रहा करते हैं यह देखें.

इसी प्रकार नेत्रादिक इन्द्रियें ऐनक के भाँति मानो कि, मन को बाह्य विषयों की ओर ले जाने वाले केवल मार्ग हैं, उनमें ज्ञान-शक्ति किञ्चित् भी नहीं रहती.

प्रश्न- इन्द्रियों द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान होते हुए उनमें ज्ञान-सामर्थ्य नहीं यह आप कैसे कह रहे हैं?

उत्तर-इन्द्रियों को ऊपर जो द्वार के नाम से याद किया है वह इसी कारण! जिस प्रकार घर में प्रकाशित होने वाले दीये का प्रकाश गवाक्ष (झरोका) द्वारा बाहर दौड़ता रहता है उसी प्रकार मन भी इन्द्रिय के मार्ग से निकल कर बाह्य विषयों को व्याप लेता है, यद्यपि वह जड़ ही है तो भी स्वच्छ रहने के कारण कन्दील के काँच की भाँति आत्म-चैतन्य की उपाधि बन कर विषय-प्रकाशन करता है.

प्रश्न-फिर तो मन को ही आत्मा क्यों नहीं कहते?

उत्तर-मन जड़ है, पदार्थ है, पर आत्म-रूप तो एक, अखण्ड अचल, सन्मात्र और स्वार्थ है!

मन का कार्य तो यह है कि केवल विषयाकृति बने रहे और विषय को प्रकाशन करना यह आत्मा का कार्य है. देखिए! यह बात समझ में नहीं जचती कि "मैं" "अहं" शब्द की उच्चारणा जो आत्मा की ओर से ही होती है तो वह किसके प्रकाश, स्फूर्ति और प्रेरणा से? अथवा क्या इस कारण से कि, वह स्वयम् प्रकाश-रूप है? उसी प्रकार यह न जानते हुए कि, हम ही सत्ता-रूप और सुखस्वरूप रहते हुए सर्वत्र व्यापक हैं, समझ बैठते हैं कि, विषय से ही हमको सुख का भोग प्राप्त हो रहा है. इस समझ अथवा अज्ञान के आवरण से स्वामि-सेवक-भाव की कल्पना जड़ पकड़ती है वही स्वामि-भाव के अभिमान से "मैं ही देहवान्" मान लेती है; परन्तु अज्ञान का आवरण उसपर से हट जाने पर ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है कि, जड़ विषयों के साथ अथवा कर्ता, कार्य और कर्मादिकों के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मैं सर्वकाल एक-रूप, प्रकाशक और चेतन हूँ. जड़ पर ही जड़ का आघात हुआ करता है. मन जड़ है इस लिए कि वह अन्न से बना हुआ है. उपनिषद् में कहा गया है कि :-

अन्नमशितं [1] त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं
भवति यो मध्यमस्तन्माँ्सं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥१॥

—(छान्दोग्योपनिषद्-अ. ६, खण्ड ५)

मन की तरह सुख-दुःखादिकों के आकार भी जड़ रहने के कारण मानसिक व्यापार का और मेरा सम्बन्ध कैसा? अर्थात्

टिप्पणी-१ भक्षण किये हुए अन्न के तीन भाग होते हैं. उनमें से जो स्थूल भाग रहता है उसका मल बनता है, सूक्ष्म भाग का मांस और अत्यन्त जो सूक्ष्म भाग अर्थात् पदार्थ के सूक्ष्म-तत्त्व से मन बन जाता है. जिस प्रकार

उस व्यापार का मुझपर कोई परिणाम नहीं हो सकता. मैं केवल प्रकाशक हूँ. विषयों की अनुकूलता से सुख और वे प्रतिकूल होने से दुःख प्रतीत होता है. वह भी मन को ही हुआ करता है. सत्य तो यह है कि, केवल अपने ही बल पर भोग प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य उसमें नहीं है. आत्मसत्ता से ही भोग की घटना उससे बन पड़ती है. अस्तु; अब हम जो ऐसा समझते हैं और कहते भी हैं कि, मन से किये गये हुए कर्म भी हमने ही किये इस सम्बन्ध में यदि शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो वह दो प्रकार में बँट जाते हैं. एक तो समझ-बूझ कर कहना और दूसरा नासमझी से- अज्ञान से कुछ का कुछ कह देना. सूर्य स्वयम् कुछ नहीं करता, परन्तु केवल उसके आस्तित्व से ही सारे संसार में पृथक् पृथक् अनेक प्रकार का क्रिया-चक्र बड़ी शीघ्रता के साथ दिन भर घूमता रहता है. यह सब कुछ एक उस सूर्य की सत्ता कहलाती है (सत्ता अर्थात् क्रियारहित सामर्थ्य.) इसी प्रकार जिस पुरुष का यह दृढ़ निश्चय हो चुका हो कि, मैं केवल सत्तामात्र हूँ, मेरे अतिरिक्त किसी अन्य में सत्ता-प्रदान-सामर्थ्य नहीं है वह समझता है कि, विना मेरे सत्ता की सहायता के मन, बुद्धि और इन्द्रियों का कोई भी व्यापार नहीं चल सकता. अर्थात् मैं ही सर्व-कर्ता, सर्व-भोक्ता हूँ, तब कहीं ऐसी उच्चारणा समझ सहित

दही का सूक्ष्म तत्त्व घृत (घी) हैं उसी प्रकार कोई भी पदार्थ हो उसका जो सूक्ष्म सार उससे ही मन वनता है, अर्थात् सूक्ष्मांश ही मन का जीवन और पुष्टिदायक हुआ करता है. आहार के भी सात्विक, राजस और तामस ऐसे तीन भेद जो वतलाये गये हैं उनमें मन को पुष्टि देने वाला अंश जिस आहार में अधिक रहता हो उसको सात्विक कहते हैं. उदाहरणार्थ -क्षीर (दूध), घृत (घी) इत्यादि.

तथा ज्ञान पूर्वक कहलाती है.

१४ यह समझते हुए भी कि, अज्ञान से आवृत्त आत्मा स्वयम् अलिप्त, असङ्ग है भी तो निमित्तमात्र रहकर अपने ही सामर्थ्य से सब कुछ करता-कराता है, देह द्वारा मन ने किया हुआ पाप-पुण्याचरण हमने ही किया ऐसा जो माना जाता है वही अध्यास अथवा भ्रम कहलाता है. ख्यातिवाद में इसका विस्तार पूर्वक वर्णन आया है, उसमें भी अनेक मत पाए जाते हैं; परन्तु सबमें अनिर्वचनीयख्याति यही एक मुख्य है. अस्तु; यह विषय बहुत ही गहन रहने के कारण प्राकृत भाषा में प्रायः दीख नहीं पड़ता इस लिए इसका विचार आगे किसी स्वतन्त्र प्रकरण में करेंगे.

१५ आओ! अब हम बतलाएँ और इसकी प्रक्रिया भी कह दें कि, आत्मा अपनी शक्ति और सामर्थ्य से सब कुछ करते हुए भी उन क्रियाओं से अलिप्त क्यों कर और किस प्रकार रहता है? जब आत्मा के अतिरिक्त कोई पदार्थ है ही नहीं, तब उसका स्वरूप क्या है? इस आने वाले प्रश्न पर "जैसा कि अमुक पदार्थ" इस प्रकार का कोई समर्पक दृष्टान्त दिया नहीं जा सकता; तथापि आकाश के दृष्टान्त में अधिकतर समानता समझी जा सकती है, इस कारण आत्मा के अलिप्तता की पहचान होने के लिए पहले इसका विचार करें कि, आकाश में भूत-तत्त्वों के उत्पत्ति और विनाश का लगातार तान्ता बन्धा रहने पर भी वह उनसे अलिप्त कैसा रहा करता है? यह तो प्रसिद्ध ही है कि आकाश से ही अखिल भूतों की उत्पत्ति होती है, उनकी स्थिति (जीवनी) भी वहीं हुआ करती है और वे नष्ट अथवा विलीन होते हैं भी तो उसी आकाश में!

आकाशाद्वायुः ॥ वायोरग्निः ॥ अग्नेरापः ॥ अद्भ्यः पृथिवी ॥
पृथिव्या ओषधयः ॥ ओषधीभ्योऽन्नम् ॥ अन्नात्पुरुषः ॥
—(तैत्तिरीयोपनिषद्-ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथमोऽनुवाकः)

उनके उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार कि :— आकश से प्रथमतः गति–रूप वायु उत्पन्न होता है. जिस प्रकार मानस–वृत्तियों में काम–क्रोधादि विकार तिरोभाव–रूप से रहा करते हैं, भूमि में अनन्त प्रकार के ओषधियाँ वीज--रूप से रहते हैं. बीज में वृक्ष अण्डे में महान् सर्प रहता है अथवा प्राण–वायु में षोडश कलात्मक शरीर रहा करता है उस प्रकार आकाशोद्भूत वायु में भी अग्नि, जल, पृथ्वी यह तत्वें रहती हैं और आगे चल कर क्रमशः एक से दूसरे की उत्पत्ति होती रहती है उसी क्रम से फिर वे सब आकाश में विलीन हो जाते हैं. इसकी कुछ चिन्ता अथवा इसमें कोई सन्देह करने का कारण नहीं कि वृक्ष पाषाण, पर्वत, बिजली इत्यादि विशाल, महान् भीषण और शक्ति--सम्पन्न पदार्थ लीन होते समय आकाश कहीं टूटने फूटने न पाय, दब न जाय अथवा जल न जाय. कारण यह है कि, जड़ रूपता के विकारवश जो पदार्थ हैं वे फिर उसी रूप से आकाश में सम्मिलित नहीं हो सकते किन्तु जिस प्रकार पानी का पहले भाप बनता है और उसके अनन्तर वह आकाश में लीन हो जाता है उस प्रकार रूपान्तर होते होते काम–क्रोधादिक समस्त विषय-परस्परा आत्म–स्वरूप में विलीन होती जाती है. यद्यपि एक आकाश से ही अनेक भूतों की उत्पत्ति हुई हो उनमें भी पूर्ण व्यापक आकाश तो रहा ही करता है! अर्थात् भूतों की विशेषाकृति बन गई भी तो आकाश का अस्तित्व कभी नष्ट नहीं होता.

इसी लिए किसी भूत से आकाश का कोई विरोध नहीं रहा करता.

१६ यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि, स्वार्थ-शक्ति यानी भोगने का सामर्थ्य चेतन में ही है, जड़ में ज़रा तो क्या, मूलतः है ही नहीं. देखिए! कि सूज्ञ, मूर्ख, पामर-जनों के व्यवहार में भी "मैं प्रत्येक काल में हूँ" और "मैं ही भोग भोगता हूँ" इस प्रकार चेतना के अस्तित्व का अनुभव स्फुरण पाता है. पञ्चदशीकार श्री विद्यारण्य, श्री मच्छङ्कराचार्य इत्यादिकों ने स्पष्टतया बतलाया है कि "अपनी प्रीति सर्व-काल अपने पर ही बने रहती है.

उपनिषद् में भी लिखा गया है :-

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ॥ ....
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥ ६ ॥
-(बृहदारण्यकोपनिषद् । चतुर्थोऽध्यायः । पञ्चम ब्राह्मणम् ॥)

इसपर से यह स्पष्ट है कि अपनी (आत्मा की) विशेषणाएँ (विशेषधर्म) अलिप्तता, निस्सङ्गता, अद्वितीयत्व, स्वयंप्रकाशत्व इनका कभी लोप नहीं होता. उसी तरह यह भी स्पष्ट है कि, विषयावगति यानी विषय-प्रकाशन करने की और उनको जानने की शक्ति कूटस्थ को ही प्राप्त है. यद्यपि कूटस्थ एकमेव, अखण्ड और अचल-रूप होने के कारण उसमें किसी प्रकार के व्यापार का सम्भव ही नहीं है. तथापि जो ज्ञान-व्यापार बुद्धि की ओर से हुआ करता है वहाँ "अहं जानामि" (मैं जानता हूँ) ऐसी जो

स्फूर्ति हुआ करती है उसमें ही बुद्धि की क्रिया और चेतन की स्वतन्त्रता स्पष्ट होती है. जड़ को तो स्फूर्ति छू भी नहीं सकती। विषय-स्फूर्ति और आत्म-स्फूर्ति में तथा प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता इन क्रियारूप व्यापार में भी चेतन एक ही एक है. कारण -

अहमस्मि सदा भामि कदाचिन्नाऽहमप्रियः ।

-(अद्वैतमकरन्द श्लोकार्ध ॥ २ ॥)

"मैं हूँ. सर्वकाल प्रकाशमान रहता हूँ और मैं स्वयम् कभी अप्रिय हो ही नहीं सकता" ऐसा ही सार्वत्रिक अनुभव भी है. अब यद्यपि अज्ञानवृति से आवृत आत्मा "अज्ञोऽहम्। जीवोऽहम्।" इत्यादि कहे तो भी चेतन की स्वतन्त्रता, उसका आस्तित्व और भातित्व का कदापि लोप नहीं होता.

१७ आत्मा में वस्तुतः क्रिया का नाम तक नहीं रहता फिर भी औपचारिक रीति से उसकी क्रिया-शक्ति दीख पड़ती है

" तत्सृष्ट्वा ॥ तदेवानुप्राविशत् ॥

-(तैत्तिरीयोपनिषद् । द्वितीया ब्रह्मानन्दवल्ली ।)

इस उपनिषद्वाक्य पर से "नोदातिष्ठत्तदा विराट्" इस श्रीमद्भागवत के प्रमाण पर से और पञ्चदशी ग्रन्थ के कोश-विवरण में आये हुए - आत्मा का पञ्चकोश में प्रविष्ट होकर रहना- इस वाक्य से आत्मा की क्रिया भी बतलाई गई है. इसपर ऐसा सन्देह होता है कि :- ग्रन्थों में जगह-जगह आत्मा का असङ्गत्व और अक्रियत्व कहा गया है, इसके विरुद्ध भी उपर्युक्त प्रकार से उसको क्रियावान् भी कहा है! तो फिर आत्मा अक्रिय रहते हुए उसकी सक्रियता कैसी सम्भवनीय हो सकती है! एक ही स्थान में परस्पर विरुद्ध गुण क्योंकर दिखाई दे सकेंगे!

१८ इसपर श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने बिम्ब-प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दे कर बतलाया है कि सूर्य का बिम्ब यद्यपि स्थिर रहता है तो भी पानी के हिलोरों के साथ अनेक पात्रों में पड़े हुए प्रतिबिम्ब भी चञ्चल दीख पड़ते हैं तो प्रतिबिम्ब के दृश्य पर से सूर्य चञ्चल हैं; परन्तु बिम्ब-रूप से तो वह जैसे का वैसा निश्चल, निष्क्रिय ही रहता है. उसी प्रकार आत्मा भी स्वयम् निष्क्रिय रहते हुए उपाधि के कारण उसपर आरोपमात्र क्रियात्मकत्व आन पड़ती है. हमारा तो यह कहना है कि, इस सम्बन्ध में बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद,[1] अवच्छेदवाद[1] अथवा किसी अन्य

टिप्पणी-१ ऐसा जो एक मत है जिसमें कहा गया है कि, माया में पड़ा हुआ परब्रह्म का प्रतिबिम्ब ईश्वर कहलाता है और यदि वह अविद्या में प्रतिबिम्वित हो जाय तो जीव कहलाता है, उसे "बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद" कहते हैं. इसी मत का स्वीकार पञ्चदशी इत्यादि ग्रन्थों में किया गया है. घट में स्थित आकाश "घटाकाश" और गृह में रहा हुआ आकाश गृहाकाश अथवा मठाकाश कहलाता है. इसीको घटावच्छिन्न अथवा घटोपाधिक भी कहा करते हैं. अपना धर्म अन्य स्थल में भासमान कराना "उपाधिप्रतिभास" कहलाता है. उदाहरणार्थ -स्फटिक के सन्निध कोई रक्त-पुष्प पड़ा हुआ हो तो स्फटिक ही स्वयम् लाल दिखाई देता है, यहाँ फूल उपाधि कहलाता है. दूसरा एक मत जो कहता है कि मायोपाधिक परब्रह्म ईश्वर और अविद्योपाधिक परब्रह्म जीव कहलाता है, इसको "अवच्छेदवाद" कहते हैं. "बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद" बालबोध के लिए कहा गया है और "अवच्छेदवाद" यही वेदान्त का एक मुख्य सिद्धान्त है. श्रीशङ्कराचार्य जीने :-

"अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्"

-(ब्रह्मसूत्र, तृतीयाध्याय, द्वितीय पाद, सूत्र १८(१९,२०)

इस सूत्र के भाष्य में यह विषय स्पष्ट किया है. पहले पूर्वपक्ष किया गया है कि,

पक्ष में भी, पञ्चकोश में भी, तीनों अवस्थाओं में संवित्-रूप से आत्मा एक, अखण्ड और निश्चल है, इस सम्बन्ध में मात्र किसी प्रकार का वाद उपस्थित होने का कोई कारण ही नहीं।

१९ उपर्युक्त प्रतिपादन पर से यह सिद्ध होता है कि, समस्त विषयों की धारणा और उपलब्धि आत्मा ही कर देती है; अन्तःकरण के आश्रय में अज्ञान पलता है. आत्मा को आवरण ढाँक नहीं सकता; तथापि वह अचल और अक्रिय रहते हुए भी "ध्यायतीव लीला यतीव" इस श्रुति के अनुसार उसका चञ्चल और सक्रिय दीख पड़ना ही माया है.

२० इसका स्पष्टार्थ यह है कि, बिम्ब की प्रतिबिम्बता दिखलाने वाले आरसी अथवा माया इत्यादि उपाधियों में जिस प्रकार का दोष हो उसके अनुसार प्रतिबिम्ब टेढ़ा, विद्रूप अथवा चञ्चल भासमान होता है. जब तक कि यह विचार उत्पन्न न हो जाय कि, दोष आरसी (उपाधि) का है, उस समय तक

जिस तरह सूर्यादिक मूर्तिमान पदार्थ हैं उसी प्रकार यद्यपि पानी भी उससे बहुत दूर क्यों न हो -वह भी तो मूर्तिमान ही है! इस कारण सूर्यादिकों के प्रतिबिम्ब पानी में दीख पड़ते हैं; परन्तु परब्रह्म तो अमूर्त और वह सर्वव्यापक है, अतः उससे निकट और दूर कुछ हो ही नहीं सकता, तब उसका प्रतिबिम्ब भी सम्भवनीय नहीं है. तो फिर श्रुति ने जो प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दे रखा है उसकी व्यवस्था कैसी? इसपर आचार्य जी ने उत्तर कहा है कि, दृष्टान्त समस्त अंशों में समान नहीं रहा करता, अतः जितना ग्राह्यांश हो उतना ही उससे लिया जाना चाहिए. जलादिक उपाधियों के चाञ्चल्य, इत्यादिक धर्म जिस तरह सूर्य में दिखाइं देते हैं उसी प्रकार अविद्या का धर्म परब्रह्म में भासमानहोता है इतना ही इस दृष्टान्त का तात्पर्य है.

उपाधि-धर्म के प्रभाव से कुछ रहते हुए कुछ का कुछ और ही दिखाई देना, यानी "मेरी सूरत ही बिगड़ गई है या क्या?" ऐसा सन्देह होता रहना स्वाभाविक है. ऐसे समय-स्वयम् गतिमान् वाहन में बैठे रहने पर 'स्थिर वृक्षादिक भाग रहे हैं और हम स्थिर हैं' ऐसा जो जान पड़ता है उस सम्बन्ध में रेल जैसे दौड़ते हुए वेगवान् वाहन का दृष्टान्त हम को और निकट लाकर छोड़ता है. उसी प्रकार यह जान पड़ना कि 'आत्मा मन में प्रवेश करने पर ही सब व्यापार हुआ करते हैं' भूल भरी समझ के अनुसार अज्ञान कहलाता है. विचार के प्रभाव से जब यह अज्ञान नष्ट हो जाता है तब ही निश्चय पूर्वक यह ज्ञान होता है कि समस्त लक्षणों से युक्त असङ्ग, एक, स्वतन्त्र, चिन्मात्र आत्मा की स्फुरणा शुद्ध बुद्धि में प्रकट हो कर यह भी अच्छी प्रकार जान पड़ता है कि आवरण-दोष और अज्ञान, भोग विकार यह भी तो साभास बुद्धि को ही हुआ करते हैं!

२१ तात्पर्य, आत्मा सर्व-काल असङ्ग है. जागृति में विषयों का भास कराना, स्वप्न में मानस-सृष्टि का दृश्य दिखाना और सुषुप्ति-अवस्था में मन, बुद्धि और इन्द्रियों का जो उपसंहार अतः लय होता रहता है उसको प्रकाशित करते हुए भी वह अखण्ड और विकार-रहित ही है.

२२ यदि मनुष्य को भ्रान्ति के जाल में फँसाने वाले सिद्धान्त पर दृष्टि दें तो आत्मा अक्रिय रहते हुए भी समस्त सृष्टि की उत्पादक है, वही प्रज्ञानघन और चालक है; उसी प्रकार वही निर्विकार और असङ्ग भी है. उलटा ऐसा भी जान पड़ता है, किन्तु अनुभव भी इसकी साक्षि देता है कि, जड़ को तो स्वयं-स्फूर्ति नहीं है! अर्थात् देह, इन्द्रियों और मन के द्वारा

जीव को जो भोग प्रतीत होते हैं वह सब आत्म-सामर्थ्य से ही हुआ करते हैं. इन पर एक ऐसी भारी और बड़ी ही बाधक शङ्का आती है कि, इन सिद्धान्तों पर से हम असङ्ग और अक्रिय कैसे ठहर सकते हैं? परन्तु विचार करने पर यह संशय-रूपी भ्रम दूर किया जा सकता है. यद्यपि हम इस प्रकार मान लेते हैं कि सुख, दुःख, दाह, ताप, हनन इत्यादि हम को ही हुआ करते हैं तो भी इसका वास्तविक अनुभव निम्न लिखित प्रकार का है:-

२३ समस्त प्रकार के व्यवहार में विषयों के जो जो भोग हुआ करते हैं सब नियुक्त क्रम से ही होते रहते हैं. उनका क्रम यूँ है कि :- प्रथमतः पूर्व भोग-कृति का स्फुरण होता है और अनन्तर उसकी जो आकृति बनती है[1] वह आकार चिदाभास के द्वारा भासमान होता है और फिर उस साभास विषय का ज्ञान कूटस्थ चैतन्य द्वारा भासता है. इस प्रकार के विषय-ज्ञान में भी यद्यपि यह ज्ञान-क्रिया बुद्धि के द्वारा हुआ करती है और विषय-भोग भी बुद्धि को ही होता है; तथापि माया के आवरण-प्रभाव से जीव को विपरीत दृष्टि उत्पन्न होकर वह

टिप्पणी-१ भोग्य विषय की ओर अन्तःकरण दौड़ता है तब वह सुनार की मूषा के भाँति (साँचा जिस आकार का हो उसी आकृति में गलायी हुई चाँदी जिस प्रकार ढ़ल जाती है) विषय का आकार धारण करती है.

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत्।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥ ३० ॥
भूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥ २८ ॥
-(पञ्चदशी, द्वैतविवेक.)

मान लेता है कि, भोग मुझ को ही हुआ. इसमें अनुभव की पहचान यह है कि, उस प्रकार जान पड़ना आत्मा का धर्म नहीं, किन्तु अन्तःकरण का ही धर्म है; पर वह भी तो आत्म-सामर्थ्य से ही स्फुरण पाता है! इस लिए सत्ताप्रदान-सामर्थ्य आत्मा में ही रहने के कारण अन्तःकरण के विकार भी आत्मा को अर्थात् आप को ही भासमान होते रहते हैं, परन्तु यह क्रिया और विकार अन्तःकरण के रहते हुए आत्म-विषयक मान लेना ही अध्यास कहलाता है.

२४ "अध्यास" वह है जो स्थूल का धर्म -कृशता, तारुण्य, वार्द्धक्य इत्यादि विकार अपने समझना वैसा ही मानसिक सुख-दुःख, पदार्थों को जानना इत्यादि जो मनोधर्म हैं उनको अपने पर लाद लेना, और यह समझ बैठना कि "मैं ही कामी हूँ, क्रोधवान् हूँ, ज्ञानी, अज्ञानी, सुखी, दुःखी सब कुछ मैं ही हूँ." अध्यास भी यही है और इसी को भ्रम भी कहते हैं. यद्यपि ज्ञान-क्रिया उत्पन्न करना बुद्धि का काम है तो भी मनुष्य बुद्धि के उस धर्म का आरोप अपने पर लाद लेते हुए कहता जाता है कि "वह काम मैं ने ही किया, वह मैं ने ही जाना" इसी लिए शास्त्रज्ञ इस प्रकार के कल्पना को भ्रम अथवा 'अध्यास' कहते हैं. इस सम्बन्ध में और भी एक विचार आवश्यक है. आत्मा का यूँ कहना कि "स्थूल शरीर मैं ही हूँ. मन के धर्म मेरे ही हैं" एक प्रकार से ठीक ही है. कारण जब कि स्वयम् जड़ में भोग-शक्ति है ही नहीं, तब स्थूल शरीर का और मन का भोग मैं ही भोगता हूँ ऐसा कहने में बाधा ही क्या है? इसका कारण यह है कि. आत्मा चैतन्य-रूप है. उसी

प्रकार सच देखा जाय तो सर्वाकर्षण-शक्ति और भोक्तृत्व का लाग भी आत्मा से ही योग्य है.

२५ इसपर ऐसा भी कोई पूछ बैठेंगे कि 'आपका कहना हमें मान्य है, परन्तु विचार करने पर जान पड़ता है कि "बुद्धि जो आकृति धारण करेगी वैसा ही मैं हूँ" ऐसा कहने में बुराई ही क्या है? इसका उत्तर इतना ही है कि, एक दृष्टि से आपका कहना यद्यपि सत्य हो, तथापि शास्त्रज्ञ और ज्ञान-सम्पन्न इसको सदोष मानते हैं. वह दोष किस प्रकार का? यही अब आगे चल कर ज़रा विस्तार पूर्वक देखें.

२६ स्वभावतः बुद्धि दोष-युक्त रहा करती है इसी कारण अलौकिकत्व, शुद्धत्व, असङ्गत्व, अजरामरत्व और व्यापकत्व इत्यादि जो आत्मा के धर्म हैं वे दोष-मिश्रित बुद्धि में प्रकट नहीं हो सकते. आत्मा पर बुद्धि-धर्म का केवल आरोप हुआ करता है. उसमें भी जन्म-मरण-बाधा दूर करने वाली सत्, चित, आनन्द यह जो आत्मा की लक्षणाएँ हैं वह सदोष-बुद्धि में क़दापि प्रकट नहीं हो सकतीं; पर जो बुद्धि के दोषों का आरोप मात्र आत्मा पर हुआ करता है उसीको माया-बन्धन कहना चाहिए. यहाँ और भी एक ऐसा विचार कीजिए कि काम, क्रोध, वन्ध, लोभ, मोह आदि जीव-धर्म अविद्या के गुण कहलाते हैं वैसे ही व्यापकत्व, सर्वचालकत्व, जगन्नियन्तृत्व इत्यादि धर्म भी मायिक[1] हैं; परन्तु उनमें जो उच्च धर्म अर्थात् "मैं

टिप्पणी-१ मायोपाधि के कारण परब्रह्म को इश्वरत्व प्राप्त होता है. माया शुद्ध और सत्वात्मक रहने के कारण ईश्वर में सर्वेश्वरत्व, सर्वज्ञत्व इत्यादि गुण स्थित रहा करते हैं-

सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः॥१६॥
-(पञ्चदशी, तत्त्वविवेक)

ईश्वर हूँ, सृष्टि-नियन्ता अनन्त-ब्रह्माण्ड-व्यापक हूँ, चिद्रूप हूँ" इत्यादि धर्म-अविद्या में न खुलने के कारण "मैं अल्प हूँ, अज्ञ हूँ" इस प्रकार उलटा स्फुरण होता रहता है इसी लिए उस पर जीव का आरोप हुआ करता है. यहाँ इसका विस्तार फैलाने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि आत्मा एक, असङ्ग, विशाल, आकाश के समान व्यापक, पूर्ण, स्वतन्त्र, सर्व-काल भासमान होने वाला है, तो भी जिस प्रकार मलिन आरसी में अपने स्वरूप का यथातथ्य प्रतिबिम्ब प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार सदोष बुद्धि में आत्मा के भी उच्च धर्म प्रकट नहीं होने पाते, इसलिए उसपर जीव अथवा ईश्वर नामों का अपवाद आता है.

२७ इसमें भी विशेष विचार यह है कि, यद्यपि बुद्धि के कैसे ही अच्छे बुरे व्यापार से उसपर जड़े हुए दोष आत्मा पर किसी प्रकार लद नहीं सकते, तथापि बुद्धि ने यदि "मैं बद्ध हूँ" की कल्पना की तो उस कल्पनासमवेत आत्मा भी वैसा ही स्फुरता है. उलटा यदि बुद्धि को विशाल करके अनन्त और व्यापक आत्मा के विचार करने की इच्छा धार कर आत्मा का सत्य स्वरूप समझने और उसका प्रत्यय प्राप्त कर लेने का जिस समय प्रत्यक्ष प्रयत्न किया जायगा उस समय में सच्चिदानन्दरूप आत्म-विचार से बुद्धि भी स्वच्छतर, निर्मल और व्यापक होती रहने के कारण सत्य आत्मरूप उसमें प्रकट होने लगता है. उदाहरणार्थ - हम कभी कोई छोटी सी गागरी अथवा मटकी देख पाते हैं उस समय अपनी बुद्धि उतने ही प्रदेश को घेर लेती है. यदि हम आकाश देखने लग जायँ उसी प्रमाण से बुद्धि का विकास होता है. बड़ी सी बड़ी वस्तु जिस आकार की हो जब तक बुद्धि उससे कुछ अधिक ही आकार धारण न करे उस वस्तु

अथवा विषय का उसे ज्ञान ही नहीं हो सकता! इस रीति से हम विचार करते जाएँ तो ध्यान में आ जायगा कि, बुद्धि और आत्म-चैतन्य इन दोनों का ठीक ज्ञान न रहने के कारण हम को ऐसा अनुभव नहीं आता कि आत्मा अक्रिय, निश्चल और एकरूप है और तिसपर हम अज्ञानवश बुद्धि-व्यापार का आत्मा पर आरोप करके यह समझ लेते हैं कि "मैं जीव हूँ." तात्पर्य-पूर्ण विचार करने पर ज्ञात होगा कि आत्म-रूप असङ्ग, एक, अक्रिय, असंहत और चिदाकाश-रूप है इस आत्म-स्वरूप को ही हम "श्रीदत्त" कहते हैं.

यहाँ यह अर्थ भी ध्यान में रखने योग्य है कि, जब बुद्धि संकुचित कल्पना कर बैठती है तो आपा (आत्मभाव) का भी संकोच-रूप और यदि बुद्धि ने "मैं ब्रह्माण्ड-रूप हूँ, असङ्ग अक्रिय हूँ" इस प्रकार से विशाल कल्पना की तो उसी प्रमाण का स्फुरण होता है. इस प्रकार में केवल विशेषणाएँ ही बदलती हैं. आत्मभाव (आपा) तो एक साँ व्यापक-रूप से प्रतीत होता है यह बात अच्छी तरह से जँच जाने पर ध्यान में आता है कि, "मैं अज्ञ हूँ" इत्यादि संकोच-स्फूर्ति बुद्धि-दोष के कारण हुआ करती है, इसी लिए वद्ध-मुक्त की व्याख्या अन्तःकरणसहित-चैतन्य की ही व्याख्या कहलाती है. तब तो बुद्धि-दोष निर्विकार, व्यापक आत्म-स्वरूप को छू तक नहीं सकता.

२८ अस्तु, "यह श्रीदत्तरूप आत्मा असङ्ग और अक्रिय है" हमारे इस वाक्य पर कोई आक्षेप कर देंगे कि "आप जिसे अक्रिय कहते हैं वह तो सृष्टि उत्पन्न किया करता है! इस सम्बन्ध में सैकड़ों प्रमाण दिखलाए जा सकते हैं." इसका उत्तर

यह है कि, किसी पदार्थ पर कोई क्रिया की जाती है और उस कारण उसके मूल-रूप में जो कुछ विकार होता है उसको शास्त्र में परिणाम कहते हैं -जैसे कि दूध से दही बनता है, उस प्रकार किसी क्रिया से भी आत्मा का कोई रूपान्तर होता ही नहीं.

२९ यहाँ यह बात अच्छी तरह से ध्यान में रखनी चाहिए कि. आत्म-कार्य और माया-कार्य इन दोनों में बड़ा ही अन्तर है. माया कार्य करते समय तद्रूप बन जाती है अतः वह कार्य -रूप में परिणत होती है. मूल रूप में विकृति हुए विना माया की कोई क्रिया हो नहीं सकती; परन्तु आत्मा का ऐसा प्रकार नहीं है वह कभी विकारी उपादान न बनते हुए भी केवल उसके सत्ता-सामर्थ्य से समस्त क्रियाओं की घटनाएँ सर्व-काल होती रहती हैं. वह समस्त अवस्थाओं में अखण्ड स्फूर्ति-रूप और एक ही एक है.

३० इसका रहस्य यह है कि, सब प्रकार के भोग मानसिक क्रियाओं से ही हुआ करते हैं. विना मन के किसी विषय का ज्ञान नहीं होने पाता. यदि मन किसी ओर मग्न रहे और कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष अपने सामने से निकल जाय तब भी उसका ज्ञान नहीं होता. कारण कि उस समय मन में वह आकृति मुद्रित नहीं रहती. कल्पना कीजिए! कि कोई एक नरम गद्दी पर सोया हुआ है और वह एक स्वप्न देख रहा है. उसका स्थूल शरीर तो बड़े ही सुख में है, पर उसी समय स्वप्न में जिस प्रकार की आकृति उसने धारण की हो अतः जिस सङ्कट अथवा कठिनाइयों की अवस्था में उसके काल्पनिक शरीर पर जो कुछ बीत रही हो और जैसे कुछ आघात हो रहे हों समझ

लेता है कि, वे सब अपने पर ही प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहे हैं. अर्थात् सुख में स्थिर स्थूल शरीर का सौख्य प्रतीत नहीं होता. इसका कारण यह है कि, मानसिक आकृति में ही चैतन्य सुफल होता रहता है. इसी उद्देश से योगवासिष्ठ में वचन आया है :-

"मनःकृतं कृतं राम न शरीरकृतं कृतम्"
-(योगवासिष्ठ, अध्याय ४, श्लोकार्ध ॥८॥)

अस्तु, इस चैतन्य को ही ज्ञान कहना चाहिए. तात्पर्य, जिस आकृति में चैतन्य का प्रकाश विशेषता से प्रकट होगा वही आकृति ज्ञात होगी. सारांश, विना मानासिक आकृति के विशेष चैतन्य प्रकट नहीं होता और विशेष चैतन्य के अवगति का स्फुरण हुए विना "ज्ञातोऽयं पटः" इस प्रकार का स्पष्ट ज्ञान होने नहीं पाता.

३१ उपर्युक्त विवेचन पर से सिद्ध होता है कि, आत्मा से मन का सम्बन्ध हुए विना स्थूल भोग नहीं होता. दृष्टान्ततः- स्थूल शरीर पर जिस प्रकार कितने ही आघात क्यों न हों, जब तक कि तद्विषयक मनोव्यापर यथा योग्य नहीं हुआ करते, उन आघात के दुःख का ज्ञान मन को नहीं होता. उसी प्रकार हम भी उस दुःख के विभागी नहीं होते अतएव इसपर से यही सिद्धान्त स्पष्ट हुआ कि, जड़ विषय का अस्तित्व अथवा नाश अपने सुख-दुःखों का कारण न होते हुए सुखाकार अथवा दुःखाकार मन की जैसी कुछ आकृति बनी हुई हो वैसी ही सुखरूपी अथवा दुःखरूपी अनुभव आता रहता है.

३२ इससे भी आगे विशेष विचार यह है कि, आत्मा से मानसिक क्रिया का क्रियारूप सम्बन्ध नहीं है. इसी लिए ऐसा समझ लेना कि मानसिक सुख-दुःखों से हम सुखी अथवा दुःखी होते हैं बुद्धिमानी की बात नहीं. कारण कि सुख, दुःख यह आत्मा के धर्म हैं ही नहीं. इस रीति से अपना एक धर्म रहते हुए अन्य धर्म का भास हो "अन्योन्याध्यास" कहलाता है. अज्ञ जनों का व्यापार इसी प्रकार होता रहता है.

३३ वैसा ही बुद्धि भी मूलतः शान्त रहते हुए भी काम-क्रोधादिकों का उसपर आघात होने पर वह भड़क जाती है; परन्तु आत्मा वैसा नहीं है, किन्तु प्रकाशित दीपज्योति के भाँति भले बुरे व्यवहार में वह सम-समान प्रकाशमान रहता है. इस आत्म-ज्योति के ही संवित्, अवगति इत्यादि अनेक नाम हैं. वह स्वयम् सब विषयों का भास करा देती है; पर उसको विषय का मल ज़रा भी छू नहीं सकता. वह सर्वदा एकरूप-प्रकाशरूप रह कर समस्त विषयों को भासमान कराती हुई साक्षीरूप बने रहती है. अतः यह स्पष्ट हुआ कि, किसी क्रिया का कोई आघात आत्म-ज्योति पर हो नहीं सकता.

३४ सारे पदार्थों में आत्मा ही अस्ति, भाति और प्रिय-रूप से घूमती रहने के कारण यद्यपि उसके नाम बदलते जायँ पर उसका अस्ति-भाति-प्रिय-रूप तो नहीं बदला करता. आत्मा समस्त पदार्थों को अपने सत्ता-रूप से घेर कर उन सब को दिखाते हुए भी वह स्वयम् केवल असङ्ग और एक ही है. नाम-रूप-सम्बन्ध के कारण उसके अनेकत्व का जो भास होता है

उसको अविद्या का कार्य समझना चाहिए. उदाहरणार्थः-एक ही पुरुष भेष बदलते हुए जब अनेक रूप धारण करता रहता है उस समय उसको अपना मूल स्वरूप अपनी स्वयम् अभिलाषा से छिपाना ही पड़ता है! यहाँ आत्मा की वही स्थिति है. माया की उपाधि के कारण आत्मा की एकरूपता अनेक-रूपी दिखाई देती है ऐसे समय में उसको अविद्या अथवा मायावेष्टित चैतन्य कहते हैं. उपर्युक्त विवेचन पर से यह निश्चित हो गया कि, संसार भर के सारे पदार्थों में आवरण-रहित चैतन्य सम-समान रहता है.

३५ जिस तरह कि विना अधिष्ठान के भ्रम का प्रादुर्भाव शक्य नहीं, उसी प्रकार सर्वाधिष्ठान-रूप ब्रह्म-तेज के विना सृष्टि कभी तनिक भी दिखाई नहीं देगी. यह हुई ब्रह्म-चैतन्य की व्याख्या! इसी को उस चैतन्य की पारमार्थिक-सत्ता कहते हैं.

३६ समस्त पदार्थ-भासक जो सोपाधिक ब्रह्म = चैतन्य है, उसको ही जीव, ईश्वर इत्यादि नाम प्राप्त हुए हैं माया ने जो मायिक-व्यवहार प्रकट किया उसमें भी चैतन्य व्यापक रह कर वह उन व्यवहार का प्रकाशक बनता है, इस कारण माया चैतन्य की व्यावहारिक सत्ता कहलाती है.

३७ अविद्या के कारण जो अनेक प्रकार के पदार्थ दिखाई देते हैं उसको "चैतन्य की प्रातिभासिक-सत्ता" कहते हैं. उदाहरणार्थ- आँख में उंगली दबाय रखने पर एक ही चन्द्र दो दीख पड़ते हैं, यह अविद्या-दोष का लक्षण है और इसी को "प्रातिभासिक-सत्ता" कहते हैं.

३८ तात्पर्य, इस प्रकार व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक स्थिति में जो जो विषय दीख पड़ते हैं, भासमान होते हैं अथवा प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं, उन सबको चैतन्य का सामर्थ्य ही कारणीभूत है. इसका कारण यह है कि, विना चैतन्य-प्रकाश के अविद्या अथवा अविद्या के कारण दिखाई देने वाले पदार्थ कभी भासमान नहीं हो सकते. तथापि जब एक और अखण्ड ऐसे चैतन्य-रूप में भी भेदरूप सृष्टि अतः कर्ता, कार्य, कारण, प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता यह भेद रहते हैं उस समय में कर्ता ही माया के आवरण-दशा में आवृत होकर रहता है और विषय भी अज्ञान के आवरण से ढके हुए रहा करते हैं, इस लिए उस समय विषयों को ज्ञात कर लेने में प्रमाण, प्रमेय इत्यादि व्यवहार की आवश्यकता पड़ती है.

३९ संसार भर के समस्त विषयों को "दृश्य-पदार्थ" कहते हैं. अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से इसका यही अर्थ होता है कि, यह सृष्टि केवल दृश्य है, भोग्य नहीं. दृश्य कहने का कारण यह है कि जो जैसा देखता है उसी प्रकार वे पदार्थ दीख पड़ते हैं. पदार्थ-सामर्थ्य से भोग नहीं हुआ करता, तो भोक्ता की कल्पना जैसी होगी उसी प्रकार का भोग हुआ करता है. उदाहरणार्थ-नीम का पत्ता जब मनुष्य चबाता हो तो वह कड़वा लगता है और दुःख देता है, परन्तु वानर तो उसे बड़े ही चाव से चट कर जाते हैं. कोई एक स्त्री किसी पुरुष को बड़ी सुन्दर भाती हो तो वही किसी अन्य को कुरूपा जान पड़ती है. अतः पदार्थ का दीख पड़ना देखने वाले का दोष है. ऐसी अवस्था में दृश्य कहना

ही विशेष श्रेयस्कर है. तात्पर्य– जिस तरह रङ्गा हुआ काष्ठ का आम्र–फल देखने के ही काम आता है, वह खाया नहीं जा सकता। उसी प्रकार पदार्थ भी जगत् में जिस रूप से भासते हैं उसी रूप से उनका सर्व–काल उपभोग नहीं हो सकता.[1] स्त्रियों की आकृति यद्यपि पुरुषाकृति से पृथक् रहती है तो भी उसमें स्थित आत्मा स्त्रीलिङ्गी अथवा पुलिङ्गी नहीं बनती, उसका एक ही रूप सदा बना रहता है यद्यपि बाह्यतः स्त्री–रूप दिखाई दिया तो भी ज्ञानी पुरुष उसे आत्म–रूप से ही देखते, पहचानते हैं. अतः एकात्मता से देखा जाय तो अविद्या से ही अनेक रूप भासमान होते रहते हैं. कर्तृत्व–शक्ति तो माया अथवा अविद्यावच्छिन्न चैतन्य में ही रहती है. शुद्ध चैतन्य को कर्तृत्व की हवा तक छू नहीं सकती यही पूर्वोक्त विवेचन का तात्पर्य है.

४० प्रसङ्गवशात् इसी विषय सम्बन्ध में जो कुछ और थोड़ा सा कहना है वह यह है कि, कर्ता और कर्म में भेद–भासक क्रिया कैसी हुआ करती है? वैसा ही यह जगत् दृश्य क्यों कहलाता है? उसका संक्षेपतः तात्पर्य ऐसा है कि –दृश्य यह द्रष्टा के

टिप्पणी–१ इसका खुलासा यह है कि "प्रातिभासिक अथवा व्यावहारिक जो जो भोग हुआ करतें हैं उनमें जिस पदार्थ का भोग प्राप्त हुआ सा जान पड़ता है वह पदार्थ दृश्य है, भोग्य नहीं." ऐसा जो हमने कहा उस सम्बन्ध में सिद्धान्त यह है कि, प्रातिभासिक पदार्थ का उपयोग व्यवहारतः नहीं किया जा सकता और व्यावहारिक पदार्थों का भोग प्रातिभासिक में बन नहीं पड़ता. अर्थात् पदार्थ जैसा कि केवल दृश्य हैं उसी प्रकार भोग भी आभास–रूप होता सा जान पड़ता है वस्तुतः वही भोग्य पदार्थ कहलायगा जिसका अस्तित्व निरन्तर ज्यों का त्यों निश्चल बना रहे.

दृष्टि का दोष है और वही दोष दृश्य-रूप से दिखाई देता है, इसी कारण जगत् को दृश्य कहते हैं. इस सम्बन्ध में बहुत से वाद हैं. उन सब का सारांश यह है कि, देखने वाले के दृष्टि-दोष से ही एकरूप जगत् अनेक रूप दिखाई देता है. कितने ही लोगों के दृष्टि में ऐसा एक दृष्टि-दोष रहता है कि उन्हें निरन्तर एक के दो पदार्थ दीख पड़ते हैं. मद्य सेवन किया हुआ स्वयम् स्थिर रहता हुआ समझ लेता है कि "मैं बार बार गिर रहा हूँ" और अपने चहुँ ओर की भूमि घूम रही है, अथवा उसको एक ही स्थल पर हजारों दीप जलाए से दिखाई देते हैं. किसी एक छोटे पदार्थ को बड़े आकार में अथवा बड़ी वस्तु को छोटी आकृति में वह देखता है. जिस रङ्ग की ऐनक हो उसी रङ्ग के समस्त पदार्थ दिखाई देना इत्यादि बीसों उदाहरण बतलाए जा सकते हैं. अस्तु, यह दृश्य की व्याख्या यहाँ संक्षेपतः की गई है.

४१ इस दृश्य को ही दृश्य, विषय अथवा कर्म भी कहा करते हैं. इनमें से विषय की व्याख्या इस प्रकार की है कि, जो पदार्थ इच्छा-वृत्ति में आच्छादित होते हुए क्रिया से प्रकट होता है वह विषय कहलाता है. इसपर से स्पष्ट होता है कि समस्त विषय सर्वदा नहीं रहते किन्तु राजस-तामस गुण के अनुसार जो इच्छा उत्पन्न होती है और उस इच्छा को जो दृश्य अर्थात् प्रकट रूप प्राप्त होता है उस को "विषय" कहते हैं. यह विषय जो प्रकट करता है उसको "प्रमाता" कहते हैं और विषय प्रकट होने का जो साधन वह "प्रमाण" कहलाता है.

४२ अब इसपर ऐसे भी प्रश्न फूट पड़ते हैं कि "यदि यह जगत् कर्म-रूप है तो यह कर्म किसका? इसका कर्ता कौन?

और उस कर्म की व्याख्या क्या होगी? तो हम यहाँ इसका ही विचार करें. पाणिनि महर्षि ने अपने व्याकरण-सूत्र में

"कर्तुरीप्सिततमं[1] कर्म"

इस प्रकार कर्म की व्याख्या दी है. उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि :- अक्रिय-रूप जो शुद्ध-चैतन्य, उसको माया के आवरण-शक्ति से पुरुष ईश्वर, कर्ता यह नाम पहले प्राप्त होते हैं और उपरान्त उस कर्ता को जब उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है उस समय वह कर्ता उत्कटता के कारण तदाकृति धारण कर वह क्रिया करता है. ऐसे समय कर्ता की उत्कट इच्छा कर्म यानी विषय-रूप से प्रकट होती है. उदाहरणार्थ-किसी एक पुरुष को पहले स्त्रीविषयक इच्छा उत्पन्न होती है और अनन्तर वह दिन-रात उसके चिन्तन में लगा रहाता है उस समय में उसका मन तद्रूप अर्थात् स्त्री-रूप बन जाता है. वह उसकी मानसिक स्त्री-रूप आकृति ही उसको बाधक होती है. विना उत्कट इच्छा के तदाकारता बन नहीं पड़ती और निदिध्यास के कारण जो आकृति बनती है वह इच्छा विना उत्पन्न नहीं होती. इच्छा यानी हेतु उस उत्पत्ति का क्रम यूँ है, कि, पहले कर्ता, कर्ता की इच्छा, अनन्तर अनुष्ठान और उसके पश्चात् कहीं तदाकारता!

टिप्पणी-१ कर्तुः = कर्ता को, ईप्सिततमम् = क्रिया से प्राप्त होने वाला (जो) अत्यन्त इष्ट वह "कर्म" है. यानी कोई भी क्रिया करते समय वह जिसपर होती रहे ऐसी कर्ता की इच्छा रहा करती है उसको "कर्म" कहते हैं. जैसे कि- अन्नं भक्षयाति = अन्न खाता है; शत्रुं हन्ति = शत्रु को मारता है. इसमें भक्षण करने की और मारने की क्रिया अन्न और शत्रु इनपर होनी चाहिए ऐसी कर्ता की इच्छा रहती है इस लिए अन्न और शत्रु यह दोनों "कर्म" कहलाते हैं.

यह सब क्रियाएँ होकर उनसे इच्छाकृति दृश्य-रूप में प्रकट होती है. साररूप से ठीक ठीक विचार करने के अन्त में यह स्पष्ट होता है कि, कर्ता ने यानी हमने उत्कट इच्छा से जो आकृति निर्माण की है वह अपनी ही आकृति है और उसका जिस प्रकार से हम उपयोग कर लेंगे वैसी ही वह बाधक अथवा सहायक हो सकती है. उस आकृति से ही कर्ता का क्रिया-रूप से अखण्ड और घनिष्ट सम्बन्ध रहा करता है. जिस प्रकार यह सम्बन्ध क्रिया के कारण बन पड़ता है उसी प्रकार कर्ता की उत्कट इच्छा भी उसको कारणीभूत होती है. विषय से कर्ता का जो सम्बन्ध दीख पड़ता है उसमें यह क्रिया-सम्बन्ध मुख्य है. आगे चलकर प्रमाण-व्याख्या में इसका स्वतन्त्र रीति से विवरण होने ही वाला है इस कारण तुरन्त इतना ही बस है. यहाँ तक माया की व्याख्या और वह माया कैसी रचना किया करती है यह कहा गया.

४३ ऊपर पहले जो हमने कहा है कि "सृष्टि से परब्रह्म का सत्ता-रूप अखण्ड सम्बन्ध है" उसपर कोई प्रश्न उठाएँगे कि इस सम्बन्ध के अनुसार ही हम भी तो यही कहते हैं कि, जगत् का कर्तृत्व आत्मा के सर पर लद जाता है और आप तो उसको अक्रिय कहते हैं यह कैसा ?

४४ इसका उत्तर यह है कि सत्ता-सम्बन्ध यह कोई उपादानसम्बन्ध नहीं है किन्तु वह निमित्त-सम्बन्ध है. (लोह) चुम्बक लोहे की ओर से जो गति-चेष्टा-रूपी क्रिया कराता है उसमें वह प्रत्यक्ष क्रिया कुछ भी नहीं किया करता. वह निमित्त-रूप से दूर ही रहा करता है. लोहे की ओर से होने वाली क्रिया

केवल उसके सत्ता-सामर्थ्य से ही बन पड़ती है. उसी प्रकार परमात्मा सृष्टि निर्माण किया करता है. उस क्रिया में उसको किसी प्रकार का आयास करना नहीं पड़ता इसी लिए वह सृष्टि का उपादानकारण नहीं किन्तु निमित्तकारण[1] है.

४५ निमित्त-कारण कार्य से अलग रहता है और उपादान-कारण कार्य में भी दिखाई देता है. सुवर्ण का जो अलङ्कार बनाया जाता है, उस अलङ्कार-रूपी कार्य में निरन्तर दिखाई देने वाला सुवर्ण-उस अलङ्कार-कार्य का उपादान-कारण कहलाता है और अलङ्कार बनाने वाला सुनार, उसकी निहारी (ऐरण) हथौड़ी इत्यादि साधनाएँ यह सब उसके "निमित्त-कारण" कहलाते हैं.

टिप्पणी-१ वेदान्त-शास्त्र में उपादान और निमित्त ऐसे कारण के दो प्रकार कहे गये हैं. जिस वस्तु पर क्रिया होकर कार्य उत्पन्न होता है, जो कार्य में अनुगत रहता है, जिसको छोड़ कर कार्य अलग नहीं रह सकता वह है "उपादान-कारण"! कर्ता और उसकी क्रिया-साधनाएँ "निमित्त-कारण" कहलाती हैं. पट का उपादान-कारण तन्तु और जुलाहा उसका निमित्त-कारण है. तर्क-शास्त्र में उपादान को ही "समवायि-कारण" कहा गया है तन्तु का संयोग यह भी उसका एक तीसरा कारण बतलाया गया है और उसको "असमवायि-कारण" कहा है. कारण से कार्य उत्पन्न होने के तीन प्रकार बतलाये गये हैं. उसको परिणाम, आरम्भ और विवर्त कहते हैं. कारण का रूपान्तर होकर जो कार्य बनता है उसे परिणाम कहते हैं; जैसा कि -दूध का दही, गौ ने चर्वण किये हुए घास का दूध इत्यादि. एक वस्तु की जगह कुछ और ही पदार्थ भासमान होना "विवर्त" कहलाता है. जैसा कि:- डोरी रहते हुए सर्प भासमान होना अथवा सीपी पर रजत की कल्पना इत्यादि. कारणों का रूपान्तर न होते हुए केवल आकृति में जो विशिष्ट प्रकार की रचना और कार्य की

४६ हम जो ऊपर कह आये हैं कि "परमात्मा जगत् का उपादान-कारण नहीं है किन्तु निमित्त-कारण है" इसपर कोई प्रश्न उठाएँगे कि भाष्यकार श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य जी ने तो शारीरक भाष्य में कहा है कि "ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान-कारण भी है" और आप तो उसको केवल निमित्त-कारण कहते हैं?

४७ उसका यूँ समाधान और श्रीमदाचार्य जी ने उपादान-कारण जो कहा उसका रहस्य यह है कि, परब्रह्म माया के

घटना हुआ करती है उसको तार्किक "आरम्भ" कहा करते हैं. जैसा कि:- तन्तु का पट, मिट्टी का घट अथवा सुवर्ण का अलङ्कार इत्यादि. वेदान्ती आरम्भ-वाद नहीं माना करते. वे आरम्भ को "सोपाधिक विवर्त" कहते हैं. उपाधि अतः निमित्त यानी पुरुष-प्रयत्न. उसके कारण जो विवर्त बना वह "सोपाधिक विवर्त" कहलाता है. तन्तु से जो पट बना उसमें तन्तु का कुछ भी रूपान्तर नहीं हुआ. पहले जो तन्तु कहलाते थे वे ही पट के अवस्था में जैसे के वैसे स्थित हैं. भेद इतना हीं है कि कर्ता ने प्रयत्न पूर्वक रचना में बदल किया है. वेदान्त-मत में साररूप से कैसे ही कार्य अथवा कारण में वास्तविक भेद कुछ भी नहीं. जो कार्य है वह कारण का ही एक व्यक्त स्वरूप कहलाता है. जिस प्रकार कि:- इकट्ठा करके धरा हुआ चीर का कपड़ा, वस्त्र फैलाने पर उसके समस्त अवयव मानों वेल वूटा व्यक्त होते हैं तो केवल इस कारण वे दो पदार्थ नहीं होते. अथवा हाथ पाँव सुकड़के वैठा हुआ मनुष्य उठ खड़ा होने पर वैठा हुआ और खड़ा हुआ दो अन्यान्य व्यक्ति नहीं हैं उसी प्रकार कार्य भी कारण से अन्य नहीं हुआ करता. अर्थात् ब्रह्म-कार्य जो जगत् वह भी ब्रह्म से भिन्न कदापि नहीं माना जाता.

उपाधि के कारण उपादान है; परन्तु शुद्ध चैतन्य-रूप से तो वह निमित्त-कारण[1] हीं है. भाष्य में भी तो यह स्पष्ट किया गया है! हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि, आत्मा का सृष्टि से केवल सत्ता-सम्बन्ध है और मुख्यत: हम यहीं कहना चाहते हैं.

४८ अब यह विधान कि "आत्मा निमित्त और उपादान इन दो प्रकारों से सृष्टि का कारण है" उसका मुख्य कारण बतलाया जाता है कि, इच्छारहित शक्ति से जो सृष्टि की रचना करता है. वह उससे अलिप्त, निर्हेतुक, भोगरहित और आनन्द-रूप रहा करता है. सृष्टि का मल तो उसको स्पर्श तक नहीं कर सकता. तो भी अविद्या यानी बड़ा ही गदला, अन्धकार-रूपी प्रकाश और माया यानी अति स्वच्छ प्रकाश है ऐसा जानकर जीव विषयक अविद्या की मलिनता विचार से नष्ट कर "मैं सत्ता-रूप ईश्वर हूँ" ऐसा जब अनुभव होगा तब कहीं जीव "त्वं" पद को पा कर "तत्" पद का अधिकारी होगा और

टिप्पणी-१ "परब्रह्म जगत् का निमित्त-कारण है" इस वाक्य पर एक बड़ा ही आक्षेप लद जाने का सम्भव है. वह इस प्रकार कि, निमित्त-कारण कार्य में व्याप्त नहीं रहता किन्तु वह उसके कार्य से भिन्न रहा करता है इस लिए परब्रह्म का व्यापकत्व नष्ट हो जायगा. इसका सूक्ष्म विचार इस प्रकार कि, यद्यपि प्रत्यक्ष क्रिया-रूप से वह निमित्त उस कार्य में दीख न पड़ता हो तो भी सत्ता-सामर्थ्य से वह उसमें स्थिर रहता ही है. उदाहरणार्थ - कुम्हार यद्यपि घट से भिन्न है तथापि उसका कौशल्य-सामर्थ्य घट में ही स्पष्टतया प्रतीत होता रहता है. उसी प्रकार आत्मा क्रिया-रूप से, स्थूल-रूप से भिन्न रहा भी तो सत्ता-रूप से व्यापक है ही है.

उसको कोई विषय भी बाधक नहीं हो सकेगा. इस लिए कि इस प्रकार के विचार से हीं वह अपने को असङ्ग, सत्तारूप होने की समझ पाता है. विषय की बाधा से बचे रहने के लिए यही विचार मुख्य है और [1] गीता में भी ऐसा ही बोध किया गया है.

४९ प्रसंगतः यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सम्पूर्ण गीता के तात्पर्य-रूप से आत्मा सर्वदा प्रेरक रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है. यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि ब्रह्म निरन्तर निमित्तरूप से रहता है और माया परिणाम-रूप क्रिया से सृष्टि रचना किया करती है. आत्म-शक्ति से महदादिक तत्त्व जो जो उत्पन्न होते हैं वे परिणाम को प्राप्त होकर पञ्चमहाभूतों के रूप से प्रकट होते रहते हैं, और उन भूतों को वही आत्मा निमित्त अर्थात् सत्तारूप से व्यापक रहते हुए उनका प्रेरक भी होता है.

५० विशेष ध्यान देने की और बड़े ही महत्त्व की यह

टिप्पणी-१ तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥
-(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ३)

(इससे (तूं) अनासक्त हुआ निरन्तर कर्तव्य कर्म का अच्छी प्रकार आचरण कर क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है).

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥
-(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८.)

(जिस पुरुष के (अन्तःकरण में) मैं कर्ता हूँ (ऐसा) भाव नहीं है (तथा) जिसकी बुद्धि (सांसारिक पदार्थों में और सम्पूर्ण कर्मों में) लिपायमान नहीं होती वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी (वास्तव में) न मरता है (और) न पाप से बंधता है.)

बात है कि, स्वार्थ-रूप जो आत्मा है उसी में समस्त भोग और अखिल विषयों का अवसान (परिसमाप्ति) होता रहता है. जड़ में भोग-सामर्थ्य न रहने के कारण वह सामर्थ्य जिसमें है ऐसे चैतन्य-रूप आत्मा को ही समस्त भोग हुआ करते हैं. अखिल संसार को इस प्रकार का अनुभव आता रहता ही है. कोई कितना भी वेदान्त-शास्त्र- निपुण क्यों न हो वह आत्मा का भोग-सामर्थ्य नष्ट नहीं कर सकता.

५१ इसपर भी कोई पूछ बैठेंगे कि "तो फिर ज्ञान होने पर भी भोग नहीं छूटता या क्या? नहीं! ऐसा तो नहीं है! कारण, किसी एक पदार्थ का अग्नि से संयोग होने पर उसका रूपान्तर होकर अन्त में वह अग्नि-रूप से ही अवशिष्ट रहता है. उसी प्रकार भला, बुरा मानसिक विषय और उसका सुखाकार अथवा दुःखाकार प्रत्यय भी तो मानसाकृति ही है! यानी अप्रिय शब्द अथवा कोई शोक वर्तमान सुनते ही मन वही आकृति धारण करता है और भय, आक्रोश इत्यादि भावनाएँ उत्पन्न करता है. उस समय आत्मा उसी आकार में स्फुरण पाता है, मानों कि स्वयम् रो रहा है. अतः वैसी भावना हो बैठना और वैसा ही अनुभव आना ठीक भी है. कारण स्वार्थशक्तिमान आत्मा ही है; तथापि विषयों का सदैव आत्मा से सत्ता-सम्बन्ध रहने के कारण उस दुःख का अपने पर अर्थात आत्मा पर परिणाम नहीं होता. मन बहुत चञ्चल है. वह जो वस्तु देखेगा उसीके समान बन जाता है; पर आत्म-प्रकाश में वह चञ्चलता कभी दिखाई नहीं देती. कारण, वह सदैव पूर्ण, अखण्ड और एकरूप ही रहने के कारण अल्प समयतक सुख का स्फुरण देकर अनन्तर वह सुखाकार पिघलता है और अभ्र-रहित आकाश की

भाँति निर्मल होकर आत्म-रूपी जो मानसाकृति सुखरूप बन गई थी वह नष्ट होकर बादल की भाँति पिघल जाती है उस समय में आत्मानन्द प्रकट होकर अद्भुत आनन्द-भोग प्राप्त होता है. तात्पर्य, जिसकी वृत्तियाँ ज्ञान से प्रदीप्त हो गई हों और जिसके बुद्धिगत अज्ञानांश भस्म हो गये हों ऐसे ज्ञानी पुरुष के शरीर में स्थित आत्मा लगातार आनन्द-भोग में निमग्न रहता है. वहाँ लेशमात्र भी दुःख फटक नहीं सकता.

५२ वस्तुतः देखा जाय तो, ज्ञानी अथवा अज्ञानी का आत्मा प्रत्यक्ष सुख, दुःख नहीं भोगा करता. वह अपने सत्ता-स्फूर्ति-रूप से भोगों का केवल साक्षी बना रहता है; परन्तु अज्ञ-जन (जैसा) उसको सुख-दुःख का भोक्ता मानते हैं, पर वैसा ज्ञानी नहीं मानते ! इसका भी कारण वही है कि सुखाकार अथवा दुःखाकार रूप बन जाना बुद्धि का धर्म है, आत्मा का नहीं. प्रत्यक्ष आत्मा से कदापि किसी प्रकार का भी सम्बन्ध हो ही नहीं सकता.

५३ इसमें भी विशेष विचार इस प्रकार का है कि, अहङ्कारसहित जो आत्मा वही विपरीत-भावना-रूप जो दुःखाकृति बनती है उसका स्फोरक रहने के कारण उस आत्मा को निज के दुःखी रहनेका प्रत्यय आता है; परन्तु जिस समय में वह अहङ्काररहित रहता है और बुद्धि निर्दोष होकर वह निर्मल बनी रहती है उस समय में भी आत्मा ही स्फोरक रहता है और "मैं ईश्वर हूँ, मैं सुखी हूँ" इस प्रकार का उसको प्रत्यय आता रहता है.

५४ अस्तु, यह विषय हमें आगे बारबार कहना पड़ेगा, तो भी इस सम्बन्ध में पुनरुक्ति-दोष मानने का कारण नहीं. छान्दोग्योपनिषद् में "तत्त्वमसि" यह वाक्य नौ बार कहा गया है.

"स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"

—(छान्दोग्योपनिषत् अ. ६, खण्ड ८ से लेकर १६ तक.)

और वह ठीक भी है. कोई निष्फल बात कह देना दोषास्पद समझा जाता है; परन्तु जब उपकार-बुद्धि से कोई कल्याणकारी उपदेश यदि करना हो तब पुनरुक्ति करनी पड़े भी तो वह दोष नहीं माना जाता.

५५ तात्पर्य, श्री जी ही सर्वप्रेरक आत्म -रूप होते हुए समस्त अवस्थाओं में सत्ता-रूप से स्थित रहते हैं तो भी "आत्मानमात्मनि पश्येत्" इस श्रुति-वाक्य के अनुसार जो साधक निज का मानसिक मल हटा कर उस स्वरूप को देखेगा वह सर्वदा मुक्त होकर मानुषानन्द से लेकर ब्रह्मानन्द तक के अखिल आनन्दों का भोग कर, अजरामर ब्रह्म-रूप और शाश्वत-साम्राज्य-पदारूढ होकर अभय-प्रतिष्ठा-रूप रहेगा.

५६ श्री दत्तात्रेय के स्वरूप-वर्णन में सत्तात्रय का वर्णन किया गया. सत्तात्रय की तरह अवस्थात्रय को भी प्रकाशक परमात्म-रूपी श्री दत्त ही हैं. ऊपर व्यावहारिक सत्ता का जो वर्णन आया उसमें जाग्रत अवस्था का वर्णन सहज ही हो गया.

अब यहाँ स्वप्न का वर्णन भी थोड़ा करें. "स्वप्न" उसको कहते हैं जिसमें स्थूल देह के व्यवहार से सम्बन्ध न रखते हुए केवल मानसिक अथवा काल्पनिक भोग हुआ करते हैं. अपनी मानसिक शक्ति कितनी प्रबल और प्रचण्ड है यह स्वप्न से स्पष्ट होता है, आत्म-चैतन्य कितना विशाल है यह ध्यान में आता है. अवस्था-वर्णन के प्रकरण में यह विषय पहले लिखा गया है इस लिए यहाँ उसका अधिक विस्तार नहीं किया गया.

५७ अब हम सुषुप्ति का विचार करें इस अवस्था में मन ऐसा शुद्ध होता है, मानो कि बादल पिघलकर आकाश अत्यन्त उज्ज्वल हो गया. इन्द्रियों द्वारा विषयों की आकृतियाँ धारण करते करते जब मन में थकावट आ जाती है और वह शक्तिहीन होकर बर्फ की भाँति जहाँ के तहाँ जम जाता है और शान्तता से आत्मा में केवल एकरूप बना रहता है उस समय उसको निर्विघ्नता पूर्वक आत्म-सुख का लाभ होता है. मन के इस अवस्था को "सुषुप्ति" कहते हैं. इसका भी प्रेरक आत्मा ही है.

५८ माना जाता है कि सुषुप्ति में से मनुष्य जब जाग्रत होता है, उसको उसका पूर्व-कर्म कारण होता है, तथापि उसमें अनेक प्रकार हैं. उनमें पहले कर्म क्या ? और उस कर्म से वासना कैसी बनती है इसका विचार करना चाहिए. कारण यह है कि वासना का भोग- शेष रहा करता है इसी लिए नीन्द भर सोया हुआ जीव जाग उठता है. अपनी उत्कट इच्छा से मन की जो आकृति बनती है और उसमें जो व्यवहार होता है उसको 'कर्म' कहते हैं. उसको अनुकूल सा जो व्यापार वह अपूर्ण होने से उसमें वासना उत्पन्न होती है. उसको पूर्ण करने के सम्बन्ध में

जो कुछ करना पड़ता है वह कर्म-शेष (भोग-शेष) कहलाता है. उसके कारण जागृति प्राप्त होती है. जिस प्रकार कोई मानते हैं कि "केवल काल-बल के प्रभाव से यानी माया-शक्ति से ही अनेक जन्म हुआ करते हैं, उसी प्रकार मान लेना चाहिए कि शेष-भोग भोगने के लिए यह प्राणी माया-शक्ति से जाग उठता है इसका सिद्धान्त यह है कि समस्त प्राणियों की शरीरें यद्यपि क्षणिक हैं तथापि जो शरीर, जिस काल तक स्थित रहेगा उस समय तक उसको समस्त अवस्थाएँ प्राप्त होती ही रहेंगी, पर, इस प्रकार से नहीं कि, उनमें से भी अवस्थाओं की समानता सब के लिए एक सी रहेगी!! कारण, मायिक पदार्थों में तारतम्य तो रहना ही चाहिए!!! तो फिर कहीं दीप बुझने की नाईं शरीर के नष्ट होने पर, अवस्थाओं का लय होने के साथ साथ ज्ञान-रूप आत्मा का लोप नहीं हुआ करता. वह तो सबका साक्षी है और विषयरूप उपाधियों से बने हुए प्रपञ्च के भोग को स्फूर्ति देने वाला भी वही नित्य, अखण्ड और एकरूप है.

श्री दत्तात्रेय-स्वरूप-वर्णन का उपसंहार.

५९ हमने इस प्रकरण में पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्राति-भासिक सत्ता के सम्बन्ध में बहुत कुछ विस्तार पूर्वक जो लिखा है उसका उद्देश यह है कि, अण्डज, जरायुज, उद्भिज और स्वेदज इन चार[1] प्रकार के प्राणियों में से कोई भी प्राणी हो

टिप्पणी-१ नृगवाद्या जरायुजाः । स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः पक्षिसर्पादयोऽण्डजाः ॥ उद्भिदस्तरुगुल्माद्याः ॥ (अमरकोश). जरायुज = मनुष्य, गौ इत्यादि; स्वेदज = कृमि, मच्छर इत्यादि; अण्डज = पक्षी, सर्प इत्यादि; उद्भिज = वृक्ष, लता इत्यादि.

उसको अस्ति, जायते, वर्धते विपरिणमते, अपक्षीयते और नश्यति यह षड्भाव-विकार[1] प्राप्त होते रहते हैं; तब उनका भोग कैसा हुआ करता है, उनका निरास किस प्रकार किया जाय, किंबहुना अखिल जीवों की उत्तम अथवा अधम गति और मुक्ति कैसी हुआ करती है इनके सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होने के लिए पहले सत्तात्रय का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए. वह प्राप्त होने पर बुद्धि के दोष जब दूर हो जाते हैं तब वह स्थान प्रकाशमान हो जाता है.

६० इस उपसंहार में कहा हुआ अनुभव अवश्य ध्यान में रखने योग्य है. वह इस प्रकार कि– माया परिणाम को प्राप्त होने वाली है. जैसा कि दूध का दही, दही का छाछ, छाछ का मक्खन और मक्खन का घी के भाँति परिणाम होता जाना यानी उत्तरोत्तर स्वरूप बदलता जाना, यह माया का मुख्य स्वभाव हैं. इसके विरुद्ध आत्मरूप निर्विकार है. अर्थात् उसको कोई विकार अथवा उसपर कोई परिणाम नहीं होता. अस्ति, जायते इत्यादि विकारों से वह अलिप्त है. सूर्य स्वयम् तेजस्वी रहते हुए सबका प्रेरक होता है; परन्तु उसपर कोई परिणाम कार नहीं करता. उसी प्रकार आत्मा भी सबका प्रेरक रहता हुआ विकाररहित है. व्यवहार में हो अथवा स्वप्न में, आत्मा का पारमार्थिक रूप कभी नहीं बदलता. रूपान्तर होने वाली अथवा विकार में परिणत होने वाली माया ही है. जैसा पानी मूल रूप

टिप्पणी–1 षड्भावविकारा भवन्ति ॥ जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते नश्यति ॥ (यास्कमुनि–कृत निरुक्तः) अर्थ :–पदार्थ को छः विकार हुआ करते हैं. जायते– पैदा होता है, अस्ति– रहता है, विपरिणमते– रूपान्तर को प्राप्त होता है, वर्धते– बढ़ता है, अपक्षीयते–घटता है, घुल जाता है, नश्यति– नष्ट होता है.

होते हुए आगे आगे उसके- लहरियाँ, बुडबुडे, मौजें, फेन और उससे बने हुए पदार्थ बनते जाते हैं, वैसा ही माया का आदि रूप स्फुरण रहते हुए अनन्तर विकल्प, इच्छा, काम और उनसे बने हुए अनेक विकार होते हैं; परन्तु कारण में रहने वाला जड़ भाव कार्य में भी दीख पड़ता है. इस कारण माया में परिणाम होने का स्वभाव विशेष है. यद्यपि विवर्त-रूप से दिखाई देने वाले पदार्थ भी मायिक ही हैं, तथापि आत्म-स्वभाव, भूतगणों का स्वभाव और लक्षणाएँ विपरीत रहा करती हैं. जैसा कि- आत्मा चैतन्य-रूप और पदार्थ जड़-रूप हैं. अब मायिक नाम से जितने पदार्थ हों, उन सबमें मूल माया का जड़-स्वभाव ही दिखाई देता है दृश्य पदार्थों में अज्ञान जड़ता समसमान हैं. इस कारण परिणाम कहने में ही विशेषता है

६१ आदि एक ही तेजाकाश था-जो स्वयम् भासमान, अनुभव-रूप, सर्व-साक्षी और महा तेजस्वी था, वही ब्रह्मरूप है. उस सत्तामय ब्रह्मरूप पर उछाल मारने वाली जो आकृति वह माया है. माया का पहला विकार आकाश, यानी निरोध-प्रति-ध्वनि-रूप उपाधि- आवरण, उससे गति, आघात और स्पर्श-गुण वाला वायु, उससे अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी. इस प्रकार से मायिक सृष्टि की उत्पत्ति हुई. सब शास्त्रों ने उत्पत्ति का प्रकार ऐसा ही कहा है.

६२ इसमें विशेष यह कि, सबसे आदि अखण्ड, एक निर्व्यापार ज्ञानाकाश, उसके पश्चात् स्फुरण अर्थात् 'मैं ब्रह्म-रूप हूँ" की भावना, अनन्तर "मैं ईश्वर हूँ" का अभिमान, उसके भी अनन्तर इच्छा, वासना इत्यादि रीति से ही माया का

विकार-रूप से परिणाम होता है और वह अपने को कार्य-कारण-रूप सृष्टि के विविध रूप से सिंगारती है. अनन्तर अनन्त वासनाएँ उत्पन्न होकर उन उन वासनाओं के भोग के लिए भोग्य विषय उत्पन्न होते हैं. इसमें रहस्य यह है कि, आदि भोक्ता और फिर भोग्य वस्तु, पहले कर्ता अनन्तर कर्म, प्रथम द्रष्टा तदनन्तर दृश्य, इस प्रकार से प्रपञ्च का आभास उत्पन्न होता है. अस्तु, इस विषय का विशेष विचार हम आगे स्वतन्त्र प्रकरण में पञ्चीकरण कहने वाले हैं उसमें किया जायगा.

६३ परब्रह्म-स्वरूप से प्रथम उछाल मारने वाली माया-वृत्ति अत्यन्त निर्मल, शुद्ध सात्विक, आनन्दमय, सुखरूप और आत्म-तेज से देदीप्यमान रहा करती है. उसमें आत्मा अपने सर्वाङ्गसहित स्फुरता है, अर्थात् सत्, चित्, आनन्द लक्षणों से युक्त आत्मा का ऐसा स्फुरण होता है कि, "मैं ही निश्चय पूर्वक हूँ" ऐसी वह माया आत्मा की ईशता, स्वतन्त्रता, असङ्गता अथवा नियामकत्व का लोप कभी नहीं करती. इस प्रकार के माया में स्थित जो तद्रूप आत्मा, वह सर्वज्ञ, मुक्त, महा पुरुष, असङ्ग, लीलाविग्रही उसको ज्ञानीजन "अवतारिक पुरुष" कहते हैं और माया का परिणाम जो मलिन-सत्वप्रधान, पञ्चपर्व[1] अविद्या उसमें स्थित जो आत्मा उसको "जीव" अथवा "बद्ध" कहते हैं.

टिप्पणी-१ पञ्चपर्व —तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र यह अविद्या के पांच पर्व हैं. इनका विस्तार पूर्वक वर्णन सांख्यतत्त्वकौमुदी में आया है—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यंधतामिस्रः ॥ १ ॥

६४ यहाँ एक बड़ी ही आश्चर्यप्रद, अनोखी सी बात कहनी है वह इस प्रकार कि ईश्वर 'इस समस्त जड़-भाव-रूप से मैं ही हूँ, यह सब दृश्य मेरा ही रूप है, मैं ही इसका चालक और प्रेरक हूं" ऐसा अभिमान रखते हुए भी वह बद्ध नहीं कहलाता। परन्तु जीव मात्र केवल स्थूल देह का अभिमान धारण करता है इस लिए वह निन्दनीय समझा जाता है!! वस्तुतः एक देह का अभिमानी निन्दा के योग्य है तब तो अनन्त देहाभिमानी क्या उससे शताधिक निन्दित न माना जाय? परन्तु ऐसा तो नहीं समझा जाता, उलटा उसको तो नित्यमुक्त कहते हैं!!। इसका क्या कारण होगा?

एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः ।
त्रीन् लोकान् व्याप्य भूतात्मा भुंक्ते विश्वभुगव्ययः ॥१४०॥
-(श्री वि णुसहस्रनाम)

इस प्रकार समस्त विश्व का भोक्ता[1] रहने पर अलिप्त कहलाता है और यह कितना बड़ा भारी अन्याय है कि जीव तो बेचारा अल्पसे विषयों का भोक्ता, पर वही बद्ध के नाम से बदनाम रहता है! ऐसा यद्यपि पहले पहल जान पड़ता है; परन्तु विचार करने पर इसमें कोई अन्याय नहीं ऐसा ही दीख पड़ेगा.

टिप्पणी–१ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते ॥ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति ॥ (ऋग्वेद). जीवेश्वर-रूपी द्वो सुपर्ण (पक्षी) सयुजा = साथ रहे हुए, सखाया = चैतन्य-रूप से समसमान दीखने वाले, देह-रूपी एक वृक्ष पर रहते हैं. (अन्तर्यामी-रूप से ईश्वर और अभिमानी भोक्ता-रूप से जीव.) इनमें से एक (जीव) स्वादु-मीठे, पिप्पल-फल, आत्ति-खाता है; (कर्म-फल भोगता है.) अन्य-दूसरा, कुछ नहीं खाता, अभि-सर्वतः, चाकशीति-अत्यन्त प्रकाशता है.

६५ विचार कीजिए! कि जो नाम-रूप पर मोहित होकर उनपर ममत्व-अभिमान रखता है, पर नाम-रूप नाशवन्त रहनेके कारण वही दुःखी होता है. चीनी का बनाया हुआ हाथी अथवा घोड़ा टूट-फूट जानेपर छोटे बालक रोते हैं; परन्तु जिन्हों ने यह निश्चय पूर्वक पहले से ही समझ पाया है कि "यह केवल चीनी है, इसका रूप नहीं बदला, नाम-रूप कल्पित और झूठे हैं" उनको उसके टूट-फूट जाने से किञ्चित् भी दुःख नहीं होता. जीव को सुख से प्रीति और दुःख से द्वेष, सजीव रहने का हव्यास, मरण-भय यह सब सदोष बुद्धि द्वारा प्राप्त होते हैं और इस कारण बद्धता लिपट जाती है. क्षुद्रता से दुःख का और उदारता से सुख का लाभ हुआ करता है.

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति ।
भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः ॥
-(छान्दोग्योपनिषत् सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ त्रयोविंशः खण्ड ॥ २३ ॥)

समस्त अलङ्कारों में प्रतीत होने वाला सुवर्ण एक ही है ऐसा जानने वाला और फिर सुवर्ण पर प्रीति करने वाला ही सुखी होता है, परन्तु केवल अलङ्कार पर ही दृष्टि देकर उसपर प्रेम करने वाला मात्र दुःख पाता है. इसका कारण अविद्या. उसका क्रम इस प्रकार कि:- जड़ का पूर्व विशेष सहवास उसके सत्य और मूल स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न करता है. भ्रम को भी तो पूर्व वासनाएँ ही कारण हुआ करती हैं. पहले जो जो बातें सुनी अथवा देखी गई हों, वही इच्छाएँ सदोष मन में जड़ पकड़े दृढ मूल बन बैठती हैं, इस लिए विषयों का मिथ्यात्व ध्यान में न आते हुए सत्यत्व ही मन में धँस जाता है उदाहरणार्थ -

दन्तिनि दारुविकारे दारु तिरोभवति सोऽपि तत्रैव ॥
जगति तथा परमात्मा परमात्मन्यपि जगत्तिरोधत्ते * ॥९४॥
(स्वात्मनिरूपण.)

६६ ऐसे प्रसङ्ग में जो ब्रह्मज्ञानी हैं उनको हम बड़े ही विनय से सूचित करते हैं कि, सार-रूप से हमारे उपर्युक्त विवेचन का हेतु यह है कि:-"मैं देही" और "मैं ईश्वर" इन दोनों वृत्तियों में स्फुरण और अभिमान समसमान ही है, उसमें चैतन्य-भेद कुछ भी नहीं, तथापि जिस दशा में स्वार्थ-परार्थ, भला-बुरा, आपा-पराया, अनुकूल-प्रतिकूल आदि भेद रहता है वह दशा जीव की रहने के कारण दुःखदायी होती है. यदि वही आपा और उसका स्फुरण सर्वात्मक रहे तो सुख-दुःख, अच्छा-बुरा आदि रूपों में नाम-रूप से स्थित मैं न रहते हुए केवल सत्ता-रूप से "मैं ही यह जगत बन गया हूँ" ऐसा मान लेता है. उसको कहीं से भी, किसी प्रकार का कोई भय नहीं रहता.

* कहीं एक लकड़ी पड़ी हुई थी, उसका किसीने एक हाथी बनाया, अर्थात् वह सचमुच न था, तो भी वह हाथी के रूप से बराबर भासमान होने लगा इतना ही नहीं, किन्तु उसको देख कर चित्त प्रसन्न भी होने लगा. विचार किया जाय तो लकड़ी और हाथी काष्ठ से किञ्चिन्मात्र भी भिन्न नहीं थे, परन्तु केवल काष्ठ को देखने से जो सुख प्राप्त न होता वह उससे कुछ अधिक ही सुख इस हाथी को देख कर हुआ. तात्पर्य- "यह लकड़ी नहीं किन्तु हाथी है" ऐसी जो मन की कल्पना उसीं के कारण सुख प्राप्त हुआ. इसपर से यदि यह सिद्ध होता है कि विषय में सुख नहीं है किन्तु मन के शान्ति में है, परन्तु अपनी अज्ञानदशा से विषय में ही सुख रहने की भ्रामक कल्पना ही मीठी लगती है !

६७ सच देखा जाय तो विना आकार के शब्द की प्रवृत्ति ही नहीं होती. मनोगोचर हुए विना प्रत्यगाकृति नहीं बनती. कोई एक आकृति बन जाने पर उसका कोई एक नाम रखना पड़ता है. आत्मा तो कभी प्रत्यय-रूप (विषय-रूप) आकृति बनती ही नहीं, यही आत्म-शब्द का स्वारस्य है. विषय तो दृश्य कहलाते हैं. आत्मा द्रष्टा है, तथापि बुद्धि का सङ्कोच अथवा उसकी अल्पता नष्ट होकर वह निर्दोष बन जाय इसलिए विभु जो आत्म-रूप, उसका विचार करना चाहिए. यद्यपि इस विचार के पहले ही आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव-रूप है, तथापि जिस प्रकार परमार्थ-दृष्टि से सर्वदा उसकी मुक्त-दशा बनी रहती है वैसा ही वह व्यवहार दशा में भी मुक्त रहने का अनुभव आना चाहिए, इसलिए वृत्ति निर्मल रखना आवश्यक है. कारण निद्रा की अवस्था में वृत्तिरहित आत्मा का कोई व्यवहार नहीं हुआ करता. इसके होने अथवा न होने का सम्बन्ध बुद्धि के साथ रहा करता है. यदि वह शुद्ध-सत्त्वाकार बन जाने पर अविद्यावस्था के दोष नष्ट होकर जब वह राजस-तामस गुण रहित हो जाती है तब उसमें सर्वाङ्गसहित आत्मा का स्फुरण होने लगता है. आत्मा की स्वतन्त्रता, अलिप्तता, व्यापकता और उसका सच्चिदानन्द-स्वरूप प्रकट होकर "वही मैं हूँ" का निस्सन्देह स्फुरण होता है. अर्थात् सत्तात्रय में, जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था में, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति लय के कार्य में और अनन्त काल में भी वह आत्मा निश्चल और आनन्द-रूप ज्यों का त्यों स्थित है.

६८ आत्मज्ञान में मुख्य विचार यह है कि आत्मा ही सर्व रूप और सर्व रूप में स्थित है, अर्थात् काष्ठ, पाषाण, मूर्ख,

पण्डित, पापी, पुण्यवान् मैं ही (आत्मा) हूँ, सर्व पदार्थों में मैं चैतन्य रूप व्यापक रहकर पदार्थों का भासक भी मैं ही हूँ. मेरा रूप "चैतन्य" है और पदार्थाकार जो जगत् उसका भास भी मेरे ही सामर्थ्य से होता है. यह सब विकार आत्म-सामर्थ्य द्योतक हैं. भूत, भविष्य, वर्तमान काल में स्थित कोई पदार्थ मुझ से भिन्न नहीं रहा करते. भूत और भविष्यत् समस्त आकार भी मैं ही हूँ.

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् ॥ अहमन्नादो२ ऽहमन्नादो २ ऽहमन्नादः[1] ॥

—(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ भृगुवल्ली ॥३॥ दशमोनुवाकः ॥ १० ॥)

६९ इसमें सर्वत्र मैं ही हूँ का अभिमान रखने वाला "मुक्त" है और मैं केवल देही, जीव, दुःखी आदिक एकदेशीय अभिमान रखने वाला मात्र "बद्ध" है.

एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः ।
त्रीन् लोकान् व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ॥१४०॥

—(श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्र)

इसमें ईश्वर सर्व-भोक्ता रहते हुए भी नित्यमुक्त है, यह दर्शित किया गया है. यह ईश-चैतन्य की व्याख्या है. अब जीव जो अल्पज्ञ होकर शरीर के राग द्वेष अपने ही मान लेता है और बद्ध कहलाता है उसका कारण यह है कि "मैं कौन हूँ" इसका ज्ञान उसे नहीं रहता. यही अविद्या है.

टिप्पणी—१ भावार्थ-पञ्चकोशों में से मुक्त होकर आनन्द-स्वरूप परब्रह्म से जिसका तादात्म्य हो गया हो ऐसा ब्रह्मज्ञानी आश्चर्य से कहता है कि "अन्न, मैं हूँ, अन्न-भक्षक भी तो मैं ही"!
प्रश्न—तो फिर भक्ष्य और भक्षक एक ही कैसा ?
उत्तर—अन्न और अन्न-भक्षक का भेद केवल व्यावहारिक है. पारमार्थिक दृष्टि से समस्त स्वरूप मेरे ही हैं.

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति
भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः ॥
—(छान्दोग्योपनिषत्, सप्तमोध्यायः, त्रयोविंशः खण्डः ॥)

नारद को उपदेश किये हुए इस सनत्कुमारोक्ति के अनुसार शरीर में जो मानसिक विकार उद्भूत होते हैं उसी सीमा तक का मैं प्रकाशक हूँ ऐसा मात्र नहीं कहता. यानी उस प्रकार का उसे स्फुरण नहीं होता. वास्तव में कहा जाय तो "मैं देही, मैं पापी, मैं मनुष्य, मैं देव" आदिक स्फूर्तियों में अर्थात् "मैं मैं" कहने में भी आत्मा का ही वास्तव्य है और वह तो स्वतः सिद्ध है. इसमें विषयाकृति से यानी "मैं देही" इस अनुभव में देहाकृति से ही स्फुरण होता है, परन्तु "मैं त्रिभुवन-व्यापक हूँ, स्वर्ग, मृत्यु, पाताल किंवहुना अनन्त ब्रह्माण्ड को भी मैंने ही घेर लिया है" ऐसा स्फुरण मात्र नहीं होता. उसका कारण यह है कि, स्फुरण के-एक "विशेष स्फुरण" और दूसरा "सामान्य स्फुरण" ऐसे-दो भेद रहा करते हैं. यद्यपि अपना प्रकाश ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्यापक है, तथापि पञ्चकोशों से आवृत्त रही हुई जो बुद्धि उसका व्यापार जितने प्रकार के आकृतियों से होता है उनमें जो अपना ज्ञान-रूप स्फुरण प्रकट होता है उसको "आत्मचैन्य" कहते हैं. और अपना व्यापक चैतन्य-रूप अज्ञान-पटल से ढका हुआ रहने के कारण व्यापक-रूप का जो स्फुरंण उसका स्पष्टीकरण नहीं होता. जैसा कि, निर्मल आरसी में अपना रूप विशेष स्पष्टता से दीख पड़ता है उसी तरह यदि बुद्धि ने भी बड़ा आकार धारण करके यदि वह आकृति भी बड़ी ही प्रकट करे तो "मैं भी बड़ा हूँ" ऐसा जान पड़ता है. भासक चैतन्य स्वतः-सिद्ध रहते हुए भी बुद्धि विषयाकार रहे तक चैतन्य-वृत्ति का जो व्यापार

विशेष प्रकट होता है उस व्यापार में भी आत्म-चैतन्य ही विशेष भासता है. ऐसा भास होने में बुद्धि जो और जिस प्रकार का आकार[1] धारण करेगी उस प्रकार का भास होता है. यद्यपि ऐसा भास न हुआ तो भी चैतन्य अपना आप रहता ही है. वह नष्ट नहीं होता. केवल विशेष भास ही बुद्धि द्वारा होता है. इस सिद्धान्त पर से जिस अवस्था में बुद्धि में जड़ता आजाने पर जीव केवल देह की आकृति बना रहता है उस समय "मैं ब्रह्माण्ड-रूप हूँ" इस प्रकार का स्फुरण न होते हुए "मैं देही हूँ"

टिप्पणी-१ योग-शास्त्र का मत ऐसा है कि मन में संसार भर के विषयों को जानने की शक्ति है, परन्तु मन इन्द्रिय के द्वारा ही विषयों को जानता है इस लिए उसकी ज्ञान-शक्ति इन्द्रियगोचर विषयों तक ही साथ देती है और जो मन योग-सामर्थ्य से निर्दोषित हुआ हो वही अतीन्द्रिय विषयों को भी जान सकता है. व्यवहार में जो विषय-ज्ञान होता है उसको बुद्धि की अपेक्षा रहा करती है. जैसा :-घटादि पदार्थ देखने के लिए प्रकाश और नेत्र दोनों चाहिए. अन्धकार का आवरण प्रकाश से दूर होता है और नेत्र द्वारा घट का स्फुरण होता है, उस प्रकार विषय की ओर दौड़े हुए बुद्धि-वृत्ति से आवरण दूर हो जाता है और बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुए आत्म-चैतन्य से घटादि विषयों का स्फुरण होता है. "बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञानं धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत् ॥९१॥ (पंचदशी तृप्ति-दीप.) परन्तु केवल चैतन्य से विषय-स्फुरण क्यों नहीं होता? इसका उत्तर -तेज यह वायु के समान सर्वत्र फैला हुआ है और उसकी उष्णता हमें जान पड़ती है, परन्तु प्रकाश के लिए तो तेल, बत्ती, लकड़ी आदि उपाधियों की आवश्य-कता है. विद्युत्तेज सर्वत्र रहते हुए भी वह विना उपाधि के कार्यक्षम नहीं रहता. पानी का भाफ़ बन कर वह आकाश में जाता है. यद्यपि भाफ़ पानी ही है तथापि उसको इतर उपाधि का संयोग हुए विना वहाँ (आकाश में) पानी का रूप प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह कार्यक्षम नहीं रहता, वैसा ही यह प्रकार है.

इतना स्फुरण होता है इस व्यापार में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय यह भेद रहता है. पञ्चकोश मायिक हैं .इस कारण से व्यापक-स्वरूपी ज्ञाता में भी अल्पज्ञता आजाती है और यदि ज्ञाता को बुद्धि ने विशाल आकृति धारण करने पर व्यापक चैतन्य प्रकट होकर "मैं विश्वव्यापी हूँ" ऐसा स्फुरण होने लगता है उस समय में वह 'अहम्' का अभिमान मुक्ति का कारण बन जाता है. जिस वृत्ति में आत्मा का सत्य, पूर्ण, विशाल और व्यापक-रूप का स्फुरण होता है वहीं मुक्तता स्पष्ट होती है. और चैतन्य का आगन्तुक स्वमित्व लेकर यह बुद्धि विषय-प्रकाशन करती है, तथापि जब तक उसका अल्पत्व नष्ट नहीं होता तब तक इन्द्रिय-गम्य रूप-रस-गन्ध- विषयक ज्ञान का आकार जितने काल तक बुद्धि धारण करेगी तावत्काल ही ज्ञान रहेगा, अर्थात् प्रस्फुरित विषय और सदा होने वाले विषय की उत्पत्ति, भोग, नाश इन सबका स्फुरण आत्मा को ही होता है. यह अखण्ड स्फुरण आत्मा का है और केवल विषय-स्फुरण जो है वह बुद्धिकृत है. बुद्धि का ज्ञान अल्प रहा करता है, यानी बुद्धि शब्द-विषयाकार हो जाने पर उस आकृति में जब चैतन्य प्रकट होता है उस समय में ज्ञान होने का अनुभव आता है. वह श्रोतृवृत्ति रूप-रस-गन्धादिक विषयों का ग्रहण नहीं कर सकती, किन्तु फिर जब गन्धादि विषय ग्रहण करते समय तदाकार बनती है उस समय में गन्धादि विषयों का ज्ञान होता है. यह जो विषयाकार चैतन्य की वृत्ति, वह विषयाकृति रहे तक ही जिस को ज्ञान का स्फुरण होता रहता है उसको "विशेष चैतन्य" कहते हैं और वह विषय यदि नष्ट हो जाय तब भी विषय की नष्टता जो आत्म-स्फूर्ति से ही जान पड़ती है वह चैतन्य अखण्ड रहता ही है. विषय-भासक चैतन्य को अवगति भी कहते हैं.

यह निरन्तर रहती है. इच्छा के अनन्तर प्रकट होने वाली, विषय का भास कराने वाली, जो चैतन्यप्रभा वही यह अवगति है वह नित्य है. वृत्ति उत्पन्न होती है उसके साथ साथ अवगति का ज्ञान और वृत्ति नष्ट हो जाने पर विषय-ज्ञान भी नष्ट हुआ सा जान पड़ता है. आईना नहीं तो मुख ही नहीं ऐसा मात्र नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह सत्य है कि मुख का विशेष-ज्ञान मात्र नहीं होता.

७० विषयों का स्पर्श आत्मा को नहीं होता. इसका रहस्य यह है कि, विषय नाम से जो तात्त्विक पदार्थ हो वह पञ्चमहाभूतों में से किसी एक तत्त्व का रहता है उस आकृति का भोग विषयस्थ चैतन्य को नहीं होता. इसका अर्थ यह है कि, चैतन्य ही मायाकृति से विरुद्ध अर्थात् पञ्च-महाभूत-रूप से दिखाई देता है. जैसा कि पानी लहरें, ओले इत्यादि रूप से दीखता है उसी तरह चैतन्य भी यदि भूताकृति दीख पड़ता है तो भी वह आकृति चैतन्य-रूप होने में केवल इतनी अवधि रहती है कि, रूपान्तर हट कर मूल रूप भूत को प्राप्त होने पर चैतन्य ही दिखाई देता है. अर्थात् जो कुछ विषयाकृति और वासनाएँ हैं वह तत्त्व से बने हुए हैं. वह आकृतियाँ नष्ट होकर सर्वत्र चैतन्य का स्फुरण होने के लिए ही जैसा कि डोरी के मरोर खोलते खोलते अन्त में कपास ही दीखने लगता है, उसी प्रकार विषयों की आकृतियाँ पिघलते पिघलते चैतन्य-रूप ही उर्वरित रहता है. फिर द्वैत-भाव, भोक्ता, भोग्य यह भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं. इसी को औपचारिक रीति से "सर्व-भोक्ता चैतन्य" कहते हैं. इतना ही नहीं, किन्तु चैतन्य को दिये हुए भोक्ता, नियन्ता, चालक, प्रेरक, द्रष्टा, मन्ता इत्यादि नाम

मायिक व्यवहार के ही कारण हैं. इस लिए कि विना आकृति के कोई नाम नहीं रखा जा सकता. चैतन्य तो निराकार है. अब चैतन्य' यह नाम भी तो इसी हेतु से दिया गया है कि वह जड़ से अन्य है यह अर्थ हृदय में अच्छी तरह धँस जाय. जहाँ व्यापार ही नहीं वहाँ नाम भी नहीं. केवल "मैं" कहलाने वाला एक और अखण्ड है. सच्चा भोग तो इस प्रकार है जैसा कि रूप आँखों को आकर्षित करता है और आँखें भी इतर विषयों को छोड़ छाड़ रूपाकृति की ओर ही दौड़ने लगती हैं, अथवा शब्द श्रोत्रेन्द्रिय को खींच लेता है और उस इन्द्रिय की भी दौड़ उधर की ही ओर रहा करती है उसको रूप, गन्ध इत्यादि की चाव नहीं रहती, इत्यादि.

७१ यहाँ भी यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि शीत शीत का आकर्षण करता है, ऊष्ण ऊष्ण के साथ मिल जाता है उसी प्रकार इच्छा में जो वासना रहती है उसको जो आकृति अनुकूल रहे उसकी ओर वासना की दौड़ रहा करती है. यानी वासना तो स्त्री की आकृति पर खिंची हुई है और यदि मन पुरुषाकृति का ध्यान कर रहा हो तो भी इच्छा कुछ उधर की ओर नहीं मुड़ती. भूखे का मन अन्न की ओर दौड़ता है. इस क्रिया में किसी एक से दूसरे किसी एक को सन्तोष अथवा

टिप्पणी—१ इन्द्रिय ने मन के सामने खड़े किये हुए किसी एक आकृति का बोध होने के लिए उसको कोई एक नाम दिया जाता है, पर जहाँ कोई आकृति ही नहीं है वहाँ नाम का क्या काम ? इन्द्रियों को तो चैतन्य नाम का पदार्थ भासता ही नहीं इस लिए उसका कोई नाम ही नहीं रखा जा सकता, तथापि समस्त जड़ पदार्थों से उसका भेद वतलाने के लिए शास्त्रीय भाषा में "चैतन्य" शब्द का स्वीकार किया गया है.

खेद रूप से कोई एक फल मिलता है. जैसा कि पीले रङ्ग में लाल रङ्ग मिलाने से शोभा और बढ़ जाती है, अथवा काला रङ्ग मिलाने पर बिगड़ जाता है. एक कार्य का आघात किसी एक दूसरे पदार्थ पर हो जाने से उसके साथ भोक्ता भोग्य का सम्बन्ध लागू होता है. आत्मा तो विषय का और भोक्ता का एक ही है! यानी जो भोक्ता के क्रिया का भासक वही विषय का भी भासक है. अथात् यदि एक ही एक सुख में व्यापार मान लें तो उसपर आत्माश्रय-दोष लद जाता है. विना पृथकत्व के भोग ही होने नहीं पाता. अर्थात् सच्चा भोक्तृत्व और तद्विषयक अभिमान अज्ञानी को ही रहा करता है. ज्ञानी तो—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् ॥ अहमन्नादो२ ऽहमन्नादो२ ऽहमन्नादः॥

—(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ भृगुवल्ली ॥३॥ दशमोऽनुवाकः ॥१०॥)

इस श्रुति के अनुसार मानता है कि "विषय भी मैं और भोक्ता भी मैं हूँ" इस प्रकार जिसका निश्चय हुआ करता है वह आत्म-रूप, एक, अक्रिय रहता है, तथापि सबकुछ आत्मा के सत्ता से ही उत्पन्न होता है, भासता है और विलीन भी उसीमें हो जाता है. वैसा ही अज्ञान में भी जो विषय भासमान होते हैं वह भी उसीके प्रकाश से! अर्थात् विषयी, विषय, अज्ञानता, सज्ञानता सब कुछ आत्मविषयक ही है. इस प्रकरण का मुख्य सारांश यह है कि, यह बोध पूर्णतः, अच्छी तरह हृदय में धँस जाय तो "जड़ पदार्थ कहीं है ही नहीं, जो कुछ है वह सब चैतन्य का ही विलास है" यह निश्चय पूर्वक ध्यान में गड़ जाय और समाधान प्राप्त हो जाय.

७२ अब यह तो सत्य ही है कि, अज्ञानी पुरुष को केवल विषय का ही ज्ञान रहा करता है, आत्मज्ञान नहीं रहता! इस

कारण विषय नष्ट होने पर वह समझता है कि "मेरा ही नाश हो गया!" ऐसे समय में जब कि माया का आवरण हट जाकर "मैं ही विषय-रूप हूँ, मैं स्वतःसिद्ध, स्वतन्त्र, अखण्ड, निरन्तर भासमान होने वाला हूँ" इस प्रकार के ज्ञान से सत्य-स्वरूप का स्फुरण होता है उस अवस्था को "तुर्यावस्था" कहते हैं. और जब बुद्धि-दोष के कारण विषय-व्यापार चलते हुए "मैं विषयाकार हूँ, विषय-नाश के साथ मेरा भी नाश हुआ" ऐसा जान पड़ता है उस अवस्था को "अध्यास" कहते हैं. स्वरूप सुन्दर रहते हुए आईना टेढ़ा हो तो अपनी आकृति में भी टेढ़ाई दिखाई देती है, उसी प्रकार आत्मा स्वयम् निर्दोष, निर्विकार होते हुए भी सदोष बुद्धि जो आकृति धारण करेगी मान लेता है कि तदाकार ही मैं हूँ. स्वयम् उत्तम रहते हुए यथा-तथ्य भास न होकर किसी दूसरे आकृति का ही भास होना और "उस आकृति से मैं अधिक उत्तम, स्वच्छ और पृथक् हूँ" इस प्रकार का स्फुरण न होना यह बद्ध की लक्षणा है, और ऐसे ही लक्षणा वाला "अज्ञानी" कहलाता है. इसका रहस्य यह है कि, सदोष बुद्धि के आकृति में स्फुरण भी दोष-युक्त ही हुआ करता है और निर्दोष बुद्धि के आकृति में आत्मा का ही स्वच्छ और स्पष्ट स्फुरण होता है. इसमें सदोष, निर्दोष आदि विकार जो बुद्धि के होते हुए आत्मविषयक भासते हैं उसका कारण यह है कि, आत्म-सत्ता विना कुछ भी नहीं हो सकता, इस लिए कि उत्तमाधम किसी आकृति को भासमान करने का सामर्थ्य आत्मचैतन्य के अतिरिक्त किसीको नहीं है. बुद्धि जो जो उत्तमाधम आकार ग्रहण करेगी उसी आकार में आत्मा का स्फुरण होने लगता है. और "सर्वाकृति का स्वामी मैं ही हूँ" इस प्रकार का स्फुरण आत्मा का दोष नहीं कहलाता, किन्तु

वह उसका स्वभाव ही है. जड़ में तो स्फूर्ति-सामर्थ्य है ही नहीं। इसके विरुद्ध आत्मा ही सर्वभोक्ता है और समस्त विषय आत्मा की ओर ही मुड़ जाते हैं. इसमें बद्धता का कारण अल्पत्व है और महत्त्व ही मुक्ति का कारण है, जैसा कि हम "मैं एकदेशीय हूँ" इस प्रकार का अभिमान लाद लेते हैं उसी प्रकार "मैं ही सर्वाकृति हूँ" ऐसा क्यों न मानें? इस देह ने भक्षण किया हुआ अन्न मैं जीर्ण करता हूँ इसी प्रकार अन्यान्य देहों में भी मैं ही पचाता हूँ" ऐसा क्यों न समझना चाहिए? इस देह में घिरे हुए मन की काम-पूर्ति मैं किया करता हूँ उसी तरह औरों के मानसिक काम-पूर्ति मैं ही करता हूँ" ऐसा मानने में रुकावट ही क्या है? "इस तरह की समझ ही चैतन्य का सामर्थ्य है. और चैतन्य तो व्यापक है, तब मैं भी चैतन्य-रूप ही हूँ इसी लिए मैं भी व्यापक हूँ" ऐसा मानने में प्रत्यवाय ही क्या है? यह सर्वथा सत्य ही है. मन में काम-क्रोधादिकों की आकृतियाँ जैसी उपजती हैं वैसे ही कर्म जीव के हाथों हुआ करते हैं और उसका फल भुगतने के लिए उसको नरक प्राप्त होता है. उसी प्रकार समस्त जगत् के भले बुरे विषय भी "मैं ही भोगता हूँ" इस प्रकार के व्यापकता का निश्चय जिसको प्राप्त हुआ हो वही अलिप्त रहता है. वृत्ति का सङ्कोच जीवता लाता है और व्यापकता मुक्ति का कारण बनती है. हमसे यदि कोई हत्या हो जाय तब उसका पाप तो हमारे सर! परन्तु सबके मृत्यु को जो कारण है वह यम मात्र पातकों से अलिप्त रहता है!! भला इसका क्या तात्पर्य होगा? अस्तु, यहाँ हमें मुख्यत: यह कहना है कि व्यापकता यह आत्म-स्वरूप का लक्षण है और इसीमें सारा सुख समाया है.

"यो वै भूमा[1] तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति"

-(छान्दोग्योपनिषत् ॥ सप्तमोऽध्यायः ॥ त्रयोविंशः खण्डः ॥)

७३ जीव को क्षणिक स्वतन्त्रता है तो आत्मा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है. जीव एक विषय-भोक्ता तो आत्मा सर्व-भोक्ता है. एक इन्द्रिय के विषय का ज्ञान दूसरे इन्द्रिय को नहीं होता. आँखें गन्ध नहीं जानते, तो नाक को रूप दिखाई नहीं देता. कान से स्पर्श पहिचाना नहीं जाता तो त्वचा को शब्द-ज्ञान नहीं हो सकता. मन यद्यपि अनन्त वृत्तियों के अनुरोध से सबका ज्ञान प्राप्त कर लेगा, तथापि अखण्ड एकरूप रहते हुए विषय को भासमान करने की शक्ति मात्र उसमें नहीं, वह आत्मा का ही सामर्थ्य है. ध्यान दीजिए ! कि, जागृति के विषय बदलते रहते हैं, परन्तु उसका प्रकाशक जो आत्मा वह मात्र नहीं बदलता. यदि वह बदलता रहता तो प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता था. यानी "जो मैं नींद में था वही अब जागृति में हूँ", ऐसा अनुभव न आता. तो "सब अवस्थाओं में मैं हूँ, अर्थात सर्वकाल कर्म का प्रकाशक मैं हूँ" यही ज्ञान सहज है और यही ऐक्य दिखाने वाला है. इस लिए समस्त विषयों को प्रकाशित

टिप्पणी—१ ज्ञानप्राप्ति के लिए नारद ने सनत्कुमार की शरण ली, तब उनको सनत्कुमारों ने उपदेश किया है- "जो भूमा (अत्यन्त बड़ा) वही जानना चाहिए, भूमा यही सुख (है), अल्प में सुख नहीं." स्पष्ट ही है कि, जो अल्प है वह प्राप्त हुआ तो भी उससे तृप्ति नहीं होती. तो जो नीचे, ऊपर, बाहर, भीतर सर्वत्र है, जिसको त्याग देने पर जगत् में कोई वस्तु ही नहीं बची रहती, ऐसा पदार्थ यदि कोई होगा तो वह "आत्मा" है. वही एक इस प्रकार का है कि, उसका ज्ञान होने पर सब पदार्थ उसका ही स्वरूप रहने के कारण किसी वस्तु की इच्छा रहती ही नहीं.

करना यह अपनेको भूषण रहकर विषयावगाति भी हमको ही होना इसमें भी कोई दूषण नहीं और इस कारण बद्धता प्राप्त होती है ऐसा भी मानने का कोई कारण नहीं. उसी प्रकार बुद्धि अपने शक्ति के सीमा तक आत्म-भोग का कारण बनती है, तो आत्मा सकल वृत्तियों के प्रेरकता को कारणीभूत है. इसपर से यह सिद्ध होता है कि, एकदेशीय अभिमान बद्धता का कारण होता है, तो जिनमें "मैं ही ब्रह्माण्ड-रूप हूँ, भोक्ता, भोग्य और भोग दिलाने वाला इन सब का आत्मा मैं ही हूँ" इस प्रकार आत्म-स्वरूप का पूर्ण प्रकाश होता है वे नित्यमुक्त हैं.

७४ वह नित्यमुक्ति प्राप्त होने के लिए (समझ में आने के लिए) चैतन्य आत्म-रूप का ज्ञान रहना आवश्यक है. उस चैतन्य-रूप आत्मा को ही हम "श्रीदत्त" कहते हैं. वही सब का आत्मा है. उसी प्रकार अनन्त वेष धारण करके इस रूप से भास-मान होना, अनन्त विषय उत्पन्न करके उनमें स्वप्रकाश प्रकट करना यह समग्र खेल (लीलाविग्रह) शुद्ध चैतन्य-रूपी श्रीदत्तात्रेय के ही हैं. जिसमें सृष्टि निर्माण करने का (मुख्य) सामर्थ्य नहीं उसको "चैतन्य" कहने के बदले में "जड़" कहना ही अधिक युक्त होगा. आत्मज्ञान होने के लिए जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन अवस्थाओं का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, अर्थात् "मैं ही सर्व-चालक हूँ, यह सकल स्वरूप मुझ से ही उत्पन्न होते हैं, मेरे अधिष्ठान पर ही रहते हैं और मुझमें ही विलीनता को पाते हैं" ऐसा दृढ निश्चय पूर्वक हृदय में पूर्ण धँस जाना चाहिए.

७५ अन्त में- इस उपसंहार में श्रीदत्तस्मरण पूर्वक सौगन्द खाकर मनःपूर्वक हम ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं कि, यदि

केवल पारमार्थिक सत्ता-रूप आत्मा-की पहिचान हुई तो भी जब तक उसके व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताविषयक पूर्ण ज्ञान नहीं होगा तब तक सहज-मुक्ति अथवा नित्य-मुक्ति कभी प्राप्त न होगी. कारण कितने ही लोगों की ऐसी समझ है कि, मन ज़रा भी चञ्चल हो जाय तो भी उतने व्यवहार से ही अपनी समाधि- स्थिति-- ब्रह्मस्थिति बिगड़ जाती है. योगशास्त्र में तो योग का लक्षण - चित्तवृत्ति का निरोध करना यही बतलाया है.

" योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः "

वैसा ही अपरोक्षानुभूति (ग्रन्थ) में श्रीमच्छङ्कराचार्य ने भी वेदान्त रीति से यमनियमादिकों का महत्त्व बतला कर जिनको इनकी पहिचान न हो वे व्यर्थ हैं, इस प्रकार से उनकी निन्दा भी की है. विद्यारण्य जैसे मुनियों ने दूषणाएँ भी बतलाई हैं. अस्तु, संक्षेपतः सत्तात्रय का आत्म-रूप से पूर्ण ज्ञान होने को ही श्री परमगुरु दत्तात्रेयविषयक ज्ञान, आत्म-रूप की भेंट अथवा पूर्ण ज्ञातता कहते हैं. इसी कारण हमने भी त्रिमूर्ति श्रीदत्तात्रेय गुरु के वास्तविक स्वरूप का यहाँ वर्णन किया है.

७६ इसपर इन्द्रियदमनादिकों का अभ्यास करने वाले आक्षेप कर ही देंगे इसलिए हमारे हेतु का विशेष खुलासा कर देते हैं.

मन के चञ्चलता का सर्वत्र निषेध कहा गया है, तथापि वस्तुतः बात ऐसी है कि, जो अच्छी तरह जानते हैं कि माया क्या है, उनकी सहजसमाधि कभी टूटने नहीं पाती. वे सहज-समाधि का निरन्तर उपभोग किया करते हैं. इसके लिखने का

कारण यह है कि, व्यवहारसत्ता में सब प्रकार के भोग भोगकर भी अखण्ड समाधि-सुख[1] कैसे पायँ इसका रहस्य जो सच्चा वेदान्ती है वही जानता है.

टिप्पणी-१ जनक राजा की जो एक आख्यायिका प्रसिद्ध है, वह यहाँ उदाहरणार्थ उद्धृत कर देते हैं. एक ब्राह्मण यह सुनकर कि, जनक राजा ब्रह्मज्ञानी और नित्यमुक्त होकर भी राज्य के काम काज बराबर किये जाता है, इस संशय में पड़ गया कि यह कैसे हो सकता है? स्वयम् ही देख आयँ, इस विचार से जनक राजा के पास आया. उसका सत्कार कर जनक राजा ने आगमन का कारण पूँछने पर ब्राह्मण ने कहा कि, आप ब्रह्मनिष्ठ होकर भी आपसे राज्य-व्यवहार कैसा सम्भाला जा सकता है? इस प्रश्न पर कुछ उत्तर न देते हुए जनक राजा ने चार सिपाही बुला लिए और उसे कहा कि इस ब्राह्मण के मस्तक पर पानी से भरी हुई थाली रख कर सारा शहर घुमाए लाओ. आज्ञा के अनुसार सिपाहियों ने पानी से भरी थाली ब्राह्मण के सिर पर धार कर जब शहर की ओर ले चलने लगे तब राजा ने आवज़ देकर ब्राह्मण को सन्निध बुला लिया और कहा कि "हे ब्राह्मणवर्य! सुनो. यदि पानी उछल कर नीचे गिर जाय तो यह सिपाही तुम्हारा, मस्तक उड़ा देंगे, तो बड़ी सावधानी से पाँव उठाओ!" ब्राह्मण बेचारा बहुत गिड़गिड़ाया, उसकी आँखें डबडबा आईं, वह बहुत कुछ रोया धोया; परन्तु राजा का हुकुम नहीं पलटने पाया. आख़िर धीरे धीरे चलते उन सिपाहियों के साथ साथ फिरकर, ज्यों का त्यों पानी बचाए ब्राह्मण लौट आया. राजा ने प्रश्न किया – हे ब्राह्मण! बताओ तो कि तुमने मेरे नगरी में क्या क्या देखा? विशेषता से ध्यान में रखने योग्य वहाँ तुमको क्या दिखाई दिया? कौन सा प्रेक्षणीय जान पड़ा और कौनसा उपेक्षणीय? प्रिय क्या था और अप्रिय क्या? ब्राह्मण कहने लगा:-क्या बताऊं महाराज! मैं ने शहर देखा सही, परन्तु उसके अच्छे, बुरे दृश्यों का मेरे मनपर कोई परिणाम नहीं हुआ. अब तो उसका मुझे कुछ स्मरण ही नहीं! जनकराजाने

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥२९॥
–(पञ्चदशी, महाभूतविवेक, द्वितीय-प्रकरण.)

("अस्पर्शयोग" नाम की जो निर्विकल्प समाधि वह साकार मूर्ति का ध्यान करने वाले सकल योगियों को दुर्लभ ही है. कारण भयरहित स्थान में भय मानने वाले उन (योगियों) को इस समाधि का बड़ा ही भय लगता है.)

इसी लिए प्रातिभासिक-सत्ता और व्यावहारिक-सत्ता इन दोनों में भी आत्मा पूर्ण असंहत, एक और निश्चल है. उसके विना कोई पदार्थ नहीं. वेदान्त में जो सत्ता-स्फूर्ति देने वाला है वही यजमान कहलाता है. सच पूँछा जाय तो हम ब्रह्म-रूप रहते हुए समस्त सृष्टि-क्रिया को निमित्तकारण-रूप हैं, परिणाम को प्राप्त होने वाले उपादान-कारण नहीं. बोलना, चलना, देखना इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों के अथवा कर्मेन्द्रियों के क्रियाओं में विना ब्रह्म-प्रकाश के सामर्थ्य नहीं आता. इसीलिए क्रिया का यज-मानत्व ब्रह्म को ही देना चाहिए. उच्च वेदान्त में यह सिद्धान्त प्रथमतः ध्यान में रखना चाहिए. जहाँ ब्रह्म, आत्मा, चैतन्य,

---

इस पर पूँछा कि – "इसका क्या कारण? तुम तो आँखें खोले सब कुछ देख रहे थे न? फिर उसका तुम्हारे मन पर परिणाम क्यों नहीं हुआ?" ब्राह्मण कहता है –सब कुछ देखा सही, पर मेरा सारा चित्त थाली में के पानी को थामने की ओर अग्रेसर रहने के कारण देखी हुई वस्तुओं का मन पर कोई परिणाम नहीं हुआ. राजा कहता है– इस उदाहरण पर से ध्यान में लो कि, ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के इन्द्रियों ने सब कुछ व्यवहार किया भी तो समस्त जगत् ब्रह्मरूप ही है यह दृढ़ निश्चय निरन्तर उसके मन में जगह पाने के कारण उसके मन पर किसी व्यवहार का कोई परिणाम नहीं होता.

हम अथवा किसी विशिष्ट शब्द से चैतन्य का अस्तित्व बतलाया जाता है, वहाँ वह स्वयम्, अक्रिय, असंहत अस्पर्श, पूर्ण निश्चल रहते हुए भी सब क्रियाएँ केवल उस की सत्ता से ही होते रहते हैं. अर्थात् ऐसा सिद्धान्त निकलता है कि, ब्रह्म ही सृष्टि का उत्पादक है. इसी लिए सृष्टिविषयक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक-सत्ता का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है. इसी कारण हमने विवेचन किया है. कि त्रिमूर्ति श्रीदत्त यह त्रिसत्तात्मक हैं.

७७ कोई इसपर भी यदि ऐसा आक्षेप कर दें कि तुम्हारा इतना आग्रह क्यों ? उसपर हमारा कहना है कि, "त्वं" पद का अभिमानी जो जीव उस कोटी में रहे हुए जीवों को मन का निरोध करनेके लिए कहना योग्य ही है, परन्तु वेदान्त में तो त्वंपद का जैसा निरास करना पड़ता है वैसा ही तत्पदाभिमानी ईश्वर-रूपी जो हम, इसके भी उपाधि का निरास करना ही पड़ता है. तात्पर्य ईश्वर उसको ही कहना चाहिए जिसको कि माया और सृष्टि-दोष का स्पर्श तक नहीं होता.

७८ अब यह सृष्टि दोष मूलक है, माया ही जीव को भ्रम-चक्र में घुमाती है. इसका (माया का) पूर्णतः निरास हुए विना कैवल्य-सुख, नित्यमुक्ति ईश्वर को भी प्राप्त नहीं होगी ऐसा ही यदि कहते रहें तो माया का और माया-जनित सृष्टि का भी सदैव द्वेष करना पड़ेगा. यही दुःस्थिाति मन के चाञ्चल्य-दोष की भी होती रहेगी. ऐसी अवस्था में जिन्होंने माया क्या है यह नहीं जाना, उसी प्रकार-

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

-(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १३)

(प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ इन दोनों को ही (हे अर्जुन! तूं) अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान.)

इस श्लोक में के "विद्धचनादी उभावपि" इस श्रीभगवान् के उपदेश की ओर जिन्हों ने ठीक ध्यान नहीं दिया ऐसे लोग माया से डर कर उससे दूर रहने का यदि उपदेश करें तो क्रम-प्राप्त ही है, परन्तु ऐसे लोगों के लिए वसिष्ठ जैसे महा ज्ञानी पुरुष के "अजात-वाद" -यानी सृष्टि है ही नहीं- का स्वीकार न करते, वे क्या कहते हैं वह भी विचार करने योग्य है. वसिष्ठ महा-मुनि कहते हैं

चिदेव पञ्च भूतानि चिदेव भुवनत्रयम् ।
एतज्ज्ञातमधुना सम्यगस्मि चिदेवहि ॥९॥
-(योगवासिष्ठ, अध्याय ३)

चिद्विलासः प्रपञ्चोऽयं सखे ते दुःखदः कथम् ।
किमिन्द्रवारुणी राम सीतया कटुकी कुतः ॥२७॥
-(योगवासिष्ठ, अध्याय २)

इसका खुलासा यह है कि यद्यपि नट हजारों वेश धारण कर स्वांग भरता है, सुवर्ण नाना प्रकार के अलङ्कारों के नाम से प्रकट होता है, मृत्तिका घट-रूप से भासती है, तो क्या वे वे उन आकृतियों से विरोध रखते हैं ऐसा मानना योग्य होगा? छाया-पुरुष, लहरियाँ -जल, ज्वाला-अग्नि, अभ्र-आकाश, मृगजल-सूर्य इनमें मूल पदार्थ यदि भिन्न भिन्न रूप से दिखाई दें तो क्या उन उन रूपों के साथ मूल पदार्थ का कुछ भी सम्बन्ध नहीं? वे

पदार्थ भिन्न मानना कैसी बड़ी भूल है? यदि आग्रह के मारे भिन्नता मानी जाय तो इतर अनुभवी महात्माओं के वाक्यों से पूरा विरोध हो जायगा, तब क्या किया जाय?

नहि भानादृते सत्त्वं नर्ते भानं चितोऽचितः।
चित्संभेदोऽपिनाऽध्यासादृते तेनाऽहमद्वयः ॥७॥

—(अद्वैतमकरन्द.)

इस प्रकार के अनेक वाक्यों पर से यह स्पष्ट है कि, ब्रह्म-सत्ता के अतिरिक्त अन्य पदार्थ ही नहीं है. तो फिर द्वेष भी किससे किया जाय? माया नाम का कोई अन्य पदार्थ हो तब ही ना उसका निरास किया जा सकेगा और उससे छुवाव माना जायगा?

७९ इसपर भी कोई ऐसा कहेंगे कि 'तुम तो कहते हो कि, कोई पदार्थ ही नहीं; परन्तु ऐसे उदाहरण होते रहते हैं कि, कोई कोई लड़के अपनी ही छाया से डरते हैं, सिंह अपनी ही गर्जना सुन कर त्वेष में आता है, तो फिर उसको क्या कहना चाहिए?', इसका उत्तर यह है कि, उसको निरा भ्रम ही कहना चाहिए. देखिए! ब्रह्म यदि सद्रूप है तो उसका प्रतियोगी सब कुछ असत् मिथ्या, यह स्पष्ट होता है. फिर माया नामक दूसरा कोई सत्य पदार्थ कहीं हो सकेगा? श्रीरामदास जी ने कहा है कि—

अरे जें झालेंचि नाहीं। त्याची वार्ता पुससी काई॥
तथापि सांगों जेणें कांहीं। संशयो नुरे ॥१॥

—(दासबोध, दशक ८, समास ३)

(अरे! जो हुआ ही नहीं उसकी वार्ता क्या पूँछता है? तथापि —कुछ ऐसा— कहेंगे कि संशय का लेश उर्वरित न रहे.)

इसपर यह शङ्का उठाने का कोई कारण नहीं कि, यदि जगत् है ही नहीं तो पहले तुम व्यावहारिक-सत्ता का अङ्गीकार ही क्यों करते हो और फिर उसके वर्णन करने की खटपट में क्यों पड़ते हो? श्रीरामदास जी ने ही इसका स्पष्टीकरण किया है. वे कहते हैं :-

भासाकरितां भास भासे। दृश्याकरितां अदृश्य दिसे॥
अदृश्यास उपमा नसे। म्हणोनि निरुपम ॥९॥
—(दासबोध, दशक ८, समास ३)

(भास यह अभास के लिए भासमान होता है. दृश्य के कारण ही अदृश्य है और अदृश्य के लिए कोई उपमा ही नहीं! अतः वह निरुपम है.)

अस्तु, हम तो आरम्भ में ही सौगन्द पूर्वक प्रतिज्ञा कर चुके हैं और यह भी कह देते हैं कि, सृष्टि का द्वेष करना कभी योग्य नहीं है. कारण, जो सृष्टि की ओर द्वेष-बुद्धि से देखेगा उसको अति-मृत्यु प्राप्त होगा -

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"

इस प्रकार का वेद ने उसे शाप दिया है.

८० यद्यपि माया का परिणाम उसके आवरण और विक्षेप- शक्ति से हुआ सा जान पड़ता है, यानी ब्रह्म आकाश के

समान एकरूप रहते हुए वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इत्यादि अनन्त रूप से भासता है, तथापि रूप-भेद होने पर सत्ता-भेद होना ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं यह ऊपर नट, सुवर्ण, मृत्तिका इत्यादि उदाहरणों पर से कहा ही गया है. सत्ता सदैव सर्वत्रानुस्यूत रहा करती है. उसमें भेद नहीं हुआ करता. हमारे मत से तो रूपान्तर होने में अथवा रूपान्तर से दिखाई देने में चैतन्य को दोषास्पद ऐसी कोई बात ही नहीं, उलटा उससे चैतन्य का सामर्थ्य अधिक प्रकट होनेके कारण वह उसको भूषणास्पद ही है. पदार्थों के नाम रूप भिन्न भिन्न रहें भी तो उन सबमें अस्तित्व एक ही है अधिक तो क्या, जड़ को स्वार्थ नहीं, स्वयम् होकर किसीके काम आनेका सामर्थ्य उसमें नहीं है. चैतन्य इसका जैसा उपयोग कर ले वैसा ही वह सुखकारी अथवा दुःखकारी जान पड़ता है. इतना ही क्या, हम ऐसा भी कहते हैं कि, स्वयम् चैतन्य ही जड़ाभास भासता हुआ अनन्त विलास करता है. उसको द्वैत का स्पर्श तक नहीं हो सकता. कोई पदार्थ दूरबीन से देखने पर कभी निकट तो कभी दूर दिखाई देता है. किसी प्रसङ्ग में निमिष युगप्रमाण और युग निमिषप्रमाण भासता है, इस प्रकार की कतिपय उदाहरण पुराणों में हैं. यह दोष पदार्थ का नहीं है किन्तु देखने वाले का रहा करता है. उस प्रकार जग जो जगदाकार दीख पड़ता है यह भी अपने ही भावना का दोष है. ऐसा कहने का कारण यह है कि, माया कभी ऐसा आग्रह नहीं करती कि "जड़रूप से ही मुझे देखा करो, ब्रह्मरूप से न देखो." देवीभागवत में श्री देवी ने स्पष्टतया कह दिया है कि "मैं चैतन्य से भिन्न हूँ ऐसा मानना निरी मूर्खता है." तात्पर्य- जिसमें जो सामर्थ्य है वह प्रकट होकर अनन्त लीला-रूपी तसवीरें भासती रहना सर्वथा योग्य ही है. वस्तुतः -

"दन्तिनि [1] दारुविकारे दारु तिरोभवति सोऽपि तत्रैव"

इस दृष्टान्त पर से सिद्ध ही है कि दिखाई देने वाले समस्त दृश्य भी ब्रह्म-रूप ही हैं.

८१ इसपर भी "जो दीखता है वही [2] सत्य," यदि उसको झूठा कहा जाय तो दीखे क्यों?" इस प्रकार की शङ्का उठाकर आग्रह पूर्वक पूँछने वाले न्यायतः, सचमुच ही जिज्ञासा के साथ

टिप्पणी-१ लकड़ी का कार्य जो हाथी उसमें दारु = लकडी, तिरोभवति -अदृश्य होती है, भासती नहीं, सोऽपि-वह हाथी भी, तथैव-उस लकड़ी में विलीन रहता है, उसी प्रकार जगत् में परमात्मा और परमात्मा में जगत् तिरोधान को प्राप्त होता है. भावार्थ- किसी लड़के को यदि कोई एक लकड़ी का हाथी दे दे तो वह बालक हाथी के दृष्टि से ही उसकी ओर देखता है, ऐसा नहीं जानता कि यह लकड़ी है; परन्तु वहाँ कोई मनुष्य लकड़ी खरीद करने के हेतु से आजाय, तो वह उस हाथी को लकड़ी के दृष्टि से देखेगा. उसी तरह सृष्टि को सत्य समझने वाला मनुष्य ही शत्रु- मित्र भेद सत्य मानता है. सर्वत्र रहने वाला परमात्मा उसको नहीं भासता, यानी उस ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती. और सर्वत्र परमात्मा ही है, ऐसा जिसको ज्ञान हुआ वह जगत् में के भेद की ओर दृष्टि नहीं करता.

टिप्पणी-२ यह कहना कि "जो दीखता है वही सत्य है" बड़ा ही अज्ञान है. कारण कि, इन्द्रियों को और मन को भी विपरीत भास होता रहता है. चन्द्र-सूर्य का मण्डल (गोलाई) सबको प्रादेशमात्र (बीता भर का) भासता है. बुख़ार चढ़े हुए मनुष्य को चीनी कड़वी लगती है; परन्तु वही सत्य मानें तो ज्योतिष-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र इत्यादिक सब शास्त्रें व्यर्थ ही हो जायँगी!

साथ पूछेंगे, तो उनसे हम यही कहेंगे कि, वे समस्त पदार्थों की ओर परमेश्वरीय सत्ता के दृष्टि से देखें. सूर्य के सत्ता से जो लोग अपने अपने काम-धंधे में लग जाते हैं उनको स्वयम् सूर्य कभी हाथ पकड़ कर काम-काज में प्रवृत्त नहीं करता. राजा के सत्ता-बल पर छोटे से छोटा सेवक भी बड़े बड़े कार्य कर सकता है, उसी तरह परमात्मा के केवल अस्तित्व से ही जगत दीखता और उसका व्यवहार भी चलता रहता है. इस दृष्टि से जगत् का विचार करने पर किसी बात से सद्रूप में कुछ भी घटाव बढ़ाव नहीं होता. यह उसके ध्यान में आये विना नहीं रहेगा, परन्तु जो कोई केवल द्वेष-बुद्धि से "बस जो दीखता है वही सही"! ऐसा ही दुराग्रह चलाए तो उसका परिणाम क्या होगा यह वेद ने ही कहा है - "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति"

वस्तुस्थिति का उलटा दृश्य दिखाई देना इतरत्र भी अनुभव में आता है. सूर्य कितना बड़ा! पर कितना छोटा दिखाई देता है! आकाश सर्वव्यापी रहते हुए भी पृथ्वी से चिपक गया हुआ दिखाई देता है न? स्वयम् जीवित रहते हुए भी स्वप्न में हम अपने को मृत-दशा में देख पाते हैं न? इत्यादि इत्यादि समझते बूझते हुए भी ऐसा कहना कि "जो जैसा दीखे वही सही!" भला यह कितनी अज्ञानता है!! तात्पर्य- अपने में -आत्मा में अनेक विचित्र शक्तियाँ भरी पड़ी हैं, उनकी सामर्थ्य से ही जगत् भासता है, यह जिसको अच्छी प्रकार जचा लेना हो वे योगवासिष्ठ देखें.

> ययोल्लसति शक्त्याऽसौ प्रकाशमधिगच्छति ।
> चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेषूपलभ्यते ॥१५॥ पञ्च. अद्वैता.
>
> -(योगवासिष्ठ, तृतीय प्र. शततमः सर्गः)

[वह ब्रह्म जब, जिस शक्ति से विकासित (प्रकाशित) होता है-विवर्त-अन्यथा परिणाम को प्राप्त होता है (तब) उस समय वह शक्ति व्यक्त होती है, हे राम! ब्रह्म की चिच्छक्ति देवादिकों के शरीरों में उपलब्ध होती (पाई जाती) है.]

८२ एक ही वस्तु के स्वरूप-सम्बन्ध में मतभेद रहना यह सृष्टि का एक स्वभाव ही है. उसके अनुसार परब्रह्म के, जगत् और माया के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में भी अन्यान्य अनेक प्रकार के मतमतान्तर हैं. श्री समर्थ ने अपने ज्ञान-दशक में जो विवरण किया है, वह समझ में न आनेके कारण और वेदान्त के सिद्धान्तों का भी ज्ञान न रहने से 'समर्थ सांख्यवादी थे' ऐसा कहने वाले कतिपय लोग हैं, परन्तु हमको इसमें किञ्चित् भी शङ्का नहीं है कि, समर्थ सांख्य-वादी नहीं थे किन्तु अजात-वादी ही थे. अस्तु, तात्पर्य यह है कि, माया यह परमेश्वर की शक्ति है. उसको स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ भी नहीं. जैसा कि, किसी स्त्रीने स्वप्न में यदि अपने पति को मृत्युवश देख पाया तो कुछ उसका सौभाग्य नष्ट नहीं होता! उसी प्रकार मूलतः अस्तित्व न रहते हुए भी केवल अल्प दृष्टि के कारण सृष्टि भास-मान होती हो तो भी सच्चे ज्ञानी सृष्टि का विरोध नहीं मानते, इसी लिए वे समस्त व्यवहार करते हुए भी अलिप्त ही रहते हैं. यह विधान समझ में आजाय इसी हेतु से इन पारमार्थिक, व्याव-हारिक और प्रातिभासिक सत्तात्रय का इतना विस्तार पूर्वक वर्णन हमने किया है. किसी प्रकार चैतन्य को व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक का स्पर्श भी नहीं होता. वह अखण्ड एक-रूप ही रहता है. सच पूँछा जाय तो आकाश से वायु पृथक् नहीं है, तरङ्ग जल से भिन्न नहीं और तम प्रकाश से कुछ अन्य नहीं. ब्रह्म-रूप भी एक अखण्ड होते हुए सार्वकालिक और अविनाशी है.

८३ अब आखिर में यदि प्रकरण-प्रशंसा करें तो श्री समर्थ रामदास स्वामी कहते हैं कि

सकल करणें जगदीशाचें। तेथें कवित्वचि काय मनुष्याचें ॥३५॥
—(दासबोध, दशक २०, समास १०)

(सभी कुछ (जगत में) जगदीश का ही किया कराया है, तब कवित्व भी तो मनुष्य का कहाँ रहा!)

तात्पर्य, इस आत्मविद्या में श्रोता, वक्ता, कर्ता, कर्म और क्रिया सभी ब्रह्म-रूप हैं तो फिर मौन अथवा वक्तृत्व भी तो उससे भिन्न कैसा हो सकेगा? वह ईश्वर ही यह सब कुछ है. अस्तु, इस श्रीदत्त-स्वरूपवर्णन का जो कोई मनन करेंगे हम प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं कि वह श्रीदत्त-स्वरूप ही हो जाएँगे, ऐसा आशीर्वाद देकर यह प्रकरण समाप्त करते हैं.

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना ।
महद्भयपरित्राणा द्वित्रीणामुपजायते ॥१॥
—(श्रीअवधूतगीता प्रथमोध्याय:)

न काम्यप्रतिषिद्धाभिः क्रियाभिर्मोक्षवासना
ईश्वरानुग्रहात्सा स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥७०॥

ॐ स्वस्ति ॥

टिप्पणी—१ संसार-रूपी महा सङ्कट से छुड़ाने वाली अद्वैत—वासना ईश्वर के ही अनुग्रह से दो तीनों को (थोड़े ही लोगों को) रहती (प्राप्त होती) है. मोक्ष की इच्छा कोई विहित अथवा निषिद्ध प्रकार के कर्मों से उत्पन्न होने वाली नहीं है, किन्तु वह केवल परमेश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त होने वाली है इस प्रकार वेदान्त घोष करता है.

दूसरा प्रकरण

मुक्त–पुरुषों का मायिक जन्म

श्रीमद्भागवतादि पुराण–इतिहास ग्रन्थों में श्री शुक, नारद, सनत्कुमार इत्यादि मुक्त पुरुष ही वारंवार अवतार लेकर जनता को उपदेश दिया करते हैं, इस प्रकार की कथाएँ आई हैं. यह महा महिम पुरुष स्वयम् मुक्त हैं तो फिर उनको जन्म कैसे प्राप्त होता है? ऐसी आशङ्का यहाँ स्वाभाविक है. यह गूढ़, इसका रहस्य सबपर खुल जाय इसलिए यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है.

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो
यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं
यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष स आत्मान्तर्याम्यामृतः [1] ॥३॥
(बृहदारण्यकोपनिषत् अध्याय ३, ब्राह्मण ७, मन्त्र ३)

२ बृहदारण्यकोपनिषद् के तीसरे अध्याय के सातवें ब्राह्मण में ही इस अर्थ की और बीस श्रुतियाँ आई हैं. उन सभों में यह स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है कि ईश्वर नित्यमुक्त, अक्रिय और अलिप्त होकर भी पृथ्वी, जल, अन्तरिक्ष, वायु, आदित्य,

टिप्पणी–१ जो पृथ्वी पर रहता है, पृथ्वी के अन्दर भी स्थित है; परन्तु जिसको पृथ्वी–देवता नहीं जानती, जिसका पृथ्वी यह शरीर है और जो पृथ्वी के भीतर रहता हुआ उसका नियमन करता है ऐसा जो अन्तर्यामी वही आत्मा है और वह अमृत अर्थात: जन्ममरणरहित है.

दिशा, चन्द्र, तारका इत्यादिकों में स्थित रहते हुए उनका नियमन करता है. जैसा ईश्वर सर्वकर्ता, सर्वज्ञ और अलिप्त है उसी प्रकार मनुष्य भी सर्वज्ञ, सर्वकर्ता होते हुए अलिप्त है.

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माहमद्वयम्[1] ॥२९॥

—(कैवल्योपनिषत् प्रथमः खण्डः)

मय्येवोदेति चिद्व्योम्नि जगद्गन्धर्वपत्तनम् ।
अतोऽहं न कथं ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वकारणम्[2] ॥३॥

—(अद्वैतमकरन्द)

उपर्युक्त श्लोक में "मुझ में ही जगत् उत्पन्न होता है और मैं ही सर्वज्ञ ब्रह्म हूँ" ऐसा स्पष्ट कहा गया है. और उस प्रकार का दृढ़ निश्चय हो जाना मनुष्यमात्र के लिए आवश्यक है.

३ इसपर कोई आक्षेप करेंगे कि, यदि मनुष्य स्वभावतः ही आत्मरूप (ब्रह्म-रूप) है तो –

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

—(बृहदारण्यकोपनिषत्, अध्याय २, ब्राह्मण ४, मन्त्र ५)

टिप्पणी–१ मुझ में ही सबकी उत्पत्ति हुई है, मेरे ही आधार से सब स्थित हैं और मुझमें ही वे सब विलीन होते हैं. अतः अद्वैत इस प्रकार का जो ब्रह्म वह मैं ही हूँ.

टिप्पणी–२ चैतन्य-रूप आकाश-स्वरूप जो मैं उस मुझमें गन्धर्वनगर-रूप यह जगत् उत्पन्न हुआ है, तब सबका कारण और सर्वज्ञ ऐसा ब्रह्म मैं नहीं यह कैसा होगा? तात्पर्य, मैं ही ब्रह्म हूँ.

" अहं ब्रह्मास्मीत्यनुसन्धानं कुर्यात् । "

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत ॥१॥

–(छान्दोग्योपनिषत् तृतीयोऽध्यायः, चतुर्दशः खण्डः)

" हे मैत्रेयी ! आत्मा का दर्शन करना चाहिए, श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा जानना चाहिए, यह सब ब्रह्म ही है ऐसा समझ कर शान्त मन से उसकी उपासना करनी चाहिए" इत्यादि जो उपदेश किया गया है उसका क्या प्रयोजन ? इसका विचार हम आगे करने वाले ही हैं; परन्तु तुरन्त इतना ही कह देते हैं कि, वस्तुतः जीव ब्रह्म-रूप है तो भी वह अज्ञान-पटल से ढँका हुआ रहने के कारण[1] वह अज्ञान का आवरण दूर करने के लिए आत्म-चिन्तन, निदिध्यासन की आवश्यकता है ही. यहाँ अनुभव की बात यह है कि, वेदान्त-सिद्धान्त और श्रुति-प्रमाणों पर से अज्ञान अन्तःकरण का आश्रय किये रहता है, यानी आत्मा भ्रम के मल से मलीन नहीं होता किन्तु अन्तःकरण मात्र मलिन रहता है. आत्मा स्वयम् "अहम्"-प्रत्यय द्योतक नित्य प्रत्यक्ष रहते हुए "मैं कौन ?" इस प्रकार का जो भ्रम हुआ करता है उसका रहस्य यह है कि, भ्रम का मानना न मानना अन्तःकरण की क्रिया है. वह निर्मल होकर "मैं ब्रह्म हूँ" की स्फुरणा-अर्थात् अन्तःकरण यदि

टिप्पणी–१ बृहदारण्यकोपनिषद् में आया हुआ एक उदाहरण श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने इस प्रकार दिया है कि, किसी एक राजा ने अपने पुत्र को बालकपन से ही अरण्य में रख छोड़ा था. उसको व्याध (अहेरिया, शिकारी) लोगों ने भरण पोषण करके युवावस्था तक ला पहुँचाया था. उनके सहवास में आयु बिताने के कारण स्वयम् राजपुत्र रहते भी अपने को वह व्याध ही समझ बैठा था.

विभु-रूप से स्फुरण पाए -इसमें सूक्ष्म विचार यह है कि- उस पर भी प्रकाश डालने वाला आत्मा ही रहने के कारण उस प्रकार के स्फुरणा का स्वामित्व आत्मा को ही प्राप्त है. "मैं ज्ञानी, मूर्ख" इत्यादि स्फुरण के साथ स्वयम् वैसा ही जान पड़ना स्वभाविक है, परन्तु हम अक्रिय हैं, मूर्खता, ज्ञातता इत्यादि धर्म हमारे नहीं हैं, केवल ज्ञप्तिमात्र प्रकाश करने का धर्म कैसे ही प्रत्यय में समसमान दीख पड़ता है.

४ वास्तविक विचार किया जाय तो वेदान्त का सिद्धान्त यही है कि -

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

-(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय २)

(यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा हो करके फिर होने वाला है (क्यों कि) यह अजन्मा नित्य शाश्वत (और) पुरातन है. शरीर के नाश होने पर भी (यह) नाश नहीं होता है.)

समस्त शरीरों में आत्मा एक ही है और वही सृष्टिनियन्ता जगदीश है, नित्य है. इस प्रकार का वह आत्मा -कोई अन्य नहीं किन्तु "अहम्"-प्रत्यय का आधारभूत "हम ही" हैं, परन्तु इसकी समझ-बूझ न रहने के कारण "हम ही जन्म-मरण-प्रवाह में पड़े हैं" ऐसा भ्रम दूर नहीं होता. इस भ्रम के कारण ही जन-समाज योग, मुद्रा, आसन, यम, नियमादि अभ्यास

करने में मग्न हो गया है. उसको यह समझ नहीं आती कि "हम सहजमुक्त और स्वभावतः ही असङ्ग हैं."

५ यद्यपि वेदान्त-विचार करने वाले ग्रन्थ विपुल हैं और वह सब प्राणियों पर उपकार करने के लिए ही लिखे गये हैं, यह योग्य ही है, तथापि उन सब ग्रन्थों में-दृश्य का बाध करके अर्थात् दृश्य को झूँठा मान कर मन का रोध करना और ब्रह्म-चिन्तन करना चाहिए-इस प्रकार का ही उपदेश जगह जगह दिखाई देता है, परन्तु श्रीमच्छङ्करगुरु ने उपदेशसहस्री में ऐसा विधान किया है कि, यह ज्ञान अल्प और एकदेशीय है, विना चैतन्य के व्यवहार में भी विषय प्रत्यक्ष नहीं होता, ध्यान दीजिए! कि सारे संसार भर सच्चिदानन्द ओतप्रोत भरा हुआ है, उसके अतिरिक्त व्यवहार भी बन नहीं पड़ता, यह पूर्ण होने पर मानसिक सङ्कोच, अल्पत्व नष्ट होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है. मानुषानन्द से लेकर ब्रह्मानन्द तक जो आनन्द है वह ब्रह्मविद्या से सहजतया प्राप्त होता है, ऐसी वेद की और उपनिषदों की प्रतिज्ञा है.-

सैषाऽऽनन्दस्य मीमाँसा भवति....स एको मानुष[1] आनन्दः।
ते ये शतं मानुषा आनन्दाः....ते ये शतं प्रजापतेरानन्दः।

टिप्पणी-१ किसी जवान, सुदृढ़, विद्वान् पुरुष को पृथ्वी का साम्राज्य प्राप्त होने पर जो आनन्द होता है वह एक मानुष-आनन्द कहलाता है. उसके शतगुणित मनुष्य-गन्धर्व का आनन्द है. इस प्रकार उत्तरोत्तर शतगुणित आनन्द का प्रमाण बतला कर अन्त में ब्रह्मा और हिरण्यगर्भ को होने वाला आनन्द सब में श्रेष्ठ कहा गया है. और "अकामहत"-विषयसुख की इच्छा से पीड़ित नहीं ऐसे विद्वान् को अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को वह सभी आनन्द प्राप्त होते हैं, ऐसा इस प्रकरण में कहा गया है.

स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य स यश्चायं पुरुषे॥
—(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ ब्रह्मानन्दवल्ली ॥ अष्टमोनुवाकः ॥)

तथापि ऊपर कहे हुए एकदेशीय विचार के कारण आनन्द-भोग के प्राप्ति के लिए जन-समाज अभ्यास-रूपी सङ्कटों से घिर जाता है. वस्तुतः जिस भोगानन्द के लिए मनुष्य-प्राणी झंझट में पड़ जाता है उस आनन्द की प्राप्ति ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर ही हो सकती है. ज्ञान प्राप्त हुआ भी तो मनुष्य धर्मार्थादि-पुरुषार्थरहित तो होता ही नहीं, किन्तु अज्ञानावस्था में "मैं अज्ञ हूँ, मैं कुछ नहीं कर सकता" इत्यादि इत्यादि भाव नष्ट होकर "मैं ब्रह्म-रूप हूँ" की दृढ़ भावना होने के कारण वह सर्व-सामर्थ्यवान् बन जाता है, उसकी शक्ति बढ़ती है सकल देव[1] भी उसकी आज्ञा मान्य कर लेते हैं.

सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥३॥
-(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ शीक्षोपनिषद् वल्ली ॥ षष्ठोऽनुवाकः)

वह सबका अधिपति हो बैठता है.

वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः ॥२॥
—(तैत्ति. शीक्षोपनिषद् वल्ली ॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥)

इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है कि, आत्मविद्या में ही सब से अधिक सामर्थ्य है, आत्मविद्या ही इतर विद्याओं से श्रेष्ठ, अनन्त गुणों से बढ़ कर है और उसका फल भी सबसे बड़ा है. इस प्रकार की आत्मविद्या सबको प्राप्त होने के हेतु तीव्र, मन्द

टिप्पणी—१ तस्य न वेदाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति॥
देव उसका अकल्याण करनेको समर्थ नहीं होते. कारण, वह (ब्रह्मज्ञानी) तो उनका आत्मा ही हो चुका है!

इत्यादि अधिकार भेद के अनुसार अनेक मार्ग, अनेक मत, अनेक प्रकार के अभ्यास जो-

"जगाच्या कल्याणा संतांच्या विभूति"

(सन्त विभूतियाँ जगत् के कल्याण के लिए रहती हैं.)

इस कोटि के साधु, सन्त, महन्तों ने बतलाये हैं वह भी ठीक ही हैं. श्री रामदास जी ने कहा है कि -

"अधिकार तैसा करूं उपदेश"

(जैसा अधिकार हो वैसा ही उपदेश हम देंगे).

इस जगत् में "भिन्नरुचिर्हि लोकः" के नाईं भिन्न भिन्न प्रकृति-गुण-स्वभाव के जन रहने के कारण सबकी चाह एक साँ नहीं रहती. हमारा यह प्रयत्न भी उन्हीं में का एक प्रकार सा समझ कर जो कोई यदि इसकी उपेक्षा करेंगे तो उनसे हमारा इतना ही कहना है कि, हमारा यह प्रयत्न केवल एक ही सम्प्रदाय के लिए नहीं है किन्तु सकल साम्प्रदायिक-मत वालों को भी इसका श्रेय प्राप्त होकर उन सभों का कल्याण हो यही हमारा उद्देश है. अतः इस ग्रन्थ में आये हुए विशिष्ट विचार-सरणी का विचार पूर्वक अवलम्बन करके सकलमतावलम्बी जन अपना अपना कल्याण कर लें.

६ उस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में हमने सहज-मुक्ति की जो प्रशंसा की है (अङ्क २३) उसका कारण यह है कि, सहजमुक्ति सबको नित्यप्राप्त ही है. श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने भी यह बात स्पष्टता पूर्वक कह दी है :-

नित्यमुक्तः सदैवास्मीत्येवं चेन्न भवेन्मतिः।
किमर्थं श्रावयत्येवं मातृवत् श्रुतिरादरात् ॥३॥
–(उपदेशसहस्री ॥ तत्त्वमसिप्रकरण ॥१८॥)

यहाँ "नित्यमुक्त" शब्द से "मुझको पहिले ही जन्म नहीं था, प्रस्तुत भी नहीं है और आगे भी नहीं होगा" यह सिद्धान्त कहा है.

टिप्पणी–१ "नित्यमुक्त" यानी निरन्तर मुक्त. पूर्व संसारवद्ध, प्रयत्न से पश्चात मुक्त होता है, ऐसा नहीं.

प्रश्न– निरन्तर मुक्त है, तो "जीव को चाहिए कि वह मोक्ष के लिए यत्न करे" ऐसा उपनिषद् क्यों कहा करते हैं?

उत्तर– मुक्त रहते हुए भी अज्ञानवश जीव अपने को संसारवद्ध समझता है, वह अज्ञान दूर होने के लिए वह उपदेश है.

प्रश्न– संक्षेपतः यदि वद्धता अज्ञानकल्पित है तो मोक्ष भी वैसा ही कहना पड़ेगा. जहाँ वन्ध ही नहीं वहाँ मोक्ष भी किस काम का?

उत्तर– ठीक है. वन्ध और मोक्ष दोनों अज्ञानकल्पित ही हैं. श्रीमद्भागवत के ग्यारव्हें स्कन्ध में श्री भगवान् ने उद्धव से कहा है कि –

"बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणातो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्" ॥१॥
(अध्याय ११)

और भी श्री शङ्कराचार्य जी ने गीता–भाष्य में (अध्याय १३, श्लोक २) ऐसा कहा है कि "वन्ध सत्य है" ऐसा मानें तो उस वन्ध में से जीव मुक्त होता है" ऐसा कहने में युक्ति विरुद्ध दो वातों की कल्पना करनी पड़ती है. वन्ध जो आनादि है मोक्ष प्राप्त होते समय उसका नाश होता है" और मोक्ष मिलने के अनन्तर वह स्थिति निरन्तर रहती है, फिर वन्धन प्राप्त नहीं होता. ऐसा "**न स पुनरावर्तते**" इत्यादि वाक्यों से श्रुति ने कहा है. अर्थात अनादि जो वन्ध है उसका अन्त हो जाता है और जो मोक्षावस्था पहले नहीं थी

७ इसपर किसी को शङ्का होगी कि, यदि "सभी मुक्त हैं, तो मुमुक्षु शिष्य विधियुक्त गुरु की शरण में जाए और गुरु उसको उपदेश देकर कृतार्थ करें -ऐसा जो मार्ग उपनिषद् में कहा गया है वह व्यर्थ ही कहा जायगा?"

वह आत्मा में प्राप्त होती है, उस मोक्ष के अवस्था का अन्त नहीं, यह दोनों कल्पनाएँ अयुक्तिक हैं. कारण, जिस वस्तु का आदि नहीं उसका अन्त भी नहीं रहा करता, जिसकी उत्पत्ति हुई उसीका अन्त हुआ करता है, ऐसा नियम सर्वत्र दिखाई देता है. इसके विरुद्ध बन्ध-मोक्ष की कल्पना करना योग्य नहीं है. इसके अतिरिक्त जिस पदार्थ की अनेक और वास्तविक अवस्थाएँ रहा करती हैं वह पदार्थ विकारी अतएव विनाशवान् रहता है. यदि बन्ध-अवस्था आत्मा में वास्तविक रहते हुए उसका नाश होकर आत्मा को मुक्तावस्था प्राप्त होती हो तो आत्मा विकारवान् और विनाशी कहना पड़ेगा. इस लिए उपनिषदों ने उसको "नित्यमुक्त" कहा है. अन्य ग्रन्थ में श्री शङ्कराचार्य जी ने कहा है कि, संसार-बन्ध अज्ञान-कल्पित है. ऐसा औरों को भी मानना पड़ेगा. कारण, ज्ञान में मोक्ष-लाभ होता है" ऐसा बहुतों का मत है. वास्तविक देखें तो विना अज्ञान-परिहार के ज्ञान का कोई अन्य उपयोग ही दिखाई नहीं देता. यदि ज्ञान के द्वारा मोक्ष मिलता है तो अर्थात् बन्ध को अज्ञान-कल्पित समझना ही पड़ता है. सांख्य-शास्त्र में कहा गया है कि, प्रकृति और पुरुष के विवेक-ज्ञान से मोक्ष मिलता है. गौतमकृत न्यायदर्शन में प्रमाणादि थोड़े पदार्थ-ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई है. इसी प्रकार औरों ने भी अपने अपने मतानुकूल अन्यान्य विषयों का ज्ञान मोक्ष का साधन बतलाया है. उनके मत कैसे ही क्यों न हों "ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है" उनके इस कथन की ओर लक्ष्य धार कर हम कहते हैं कि, यदि "ज्ञान से मोक्ष मिलता है" यह मान्य है तो "बन्ध अज्ञान-मूलक है" यह हठात् गले पड़ जाता है! कारण, ज्ञान का उपयोग अज्ञान-परिहार ही है.

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय॥
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥
–(मुण्डकोपनिषत् ॥ प्रथममुण्डके द्वितीय खण्डः)

८ पहिले पहल यह शङ्का सुन कर कोई भी हिचकिचाहट में पड़ जायगा, परन्तु उसका उत्तर यह है कि यद्यपि गुरु और शिष्य दोनों भी नित्यमुक्त और आत्म-रूप ही हैं, तथापि एक दिये को "दीपे दीपान्तरं यथा" के नाई दूसरी दिया लाकर लगाना उसी प्रकार प्रदीप्त ज्ञान-ज्योति से युक्त ऐसे गुरु के सन्निधान में रहे हुए शिष्य के अन्तःकरण पर का अज्ञान-पटल दूर हटा कर गुरु उसे अपनासा कर देते हैं.

"आपणासारीखे करिती तत्काळ"
(तुरन्त ही अपना सा कर देते हैं.)

ऐसा सिद्धान्त है. कारण, वस्तुतः इन दोनों में एक ही सत्ता रहती है. उनमें भेद नहीं रहता इसी लिए पूर्वकथित प्रकरण में श्री दत्तत्रेय का जो स्वरूप-वर्णन कहा गया है, उसमें यह सिद्ध किया गया है कि, व्यावहारिक, पारमार्थिक और प्रातिभासिक यह जो तीन सत्ताएँ हैं उन तीनों में एक ही सत्ता (काम करती) है. अस्तु, इसका विशेष वर्णन जिज्ञासु उस प्रकरण में देख लें.

९ प्रसङ्गवशात् एक विशेष बात जिसकी जानकारी परोक्ष-ज्ञानी कहलाने वालों को बहुधा नहीं रहा करती, उसका

यहाँ उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है. वह यह है कि, प्रातिभासिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता यानी क्या? उस सत्ता में और पारमार्थिक सत्ता में वास्तव भेद क्या है? इत्यादि विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त न करते केवल एक पारमार्थिक-सत्ता ही मोक्षरूप है, उसके विना कुछ और है ही नहीं, वह पारमार्थिक रूप असङ्ग, एक, अद्वितीय, अमनस्क और निर्गुण है, इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ मिथ्या है, इस प्रकार की ही जानकारी उपदेश द्वारा प्राप्त की हुई रहती है, परन्तु इतने से ही काम नहीं बनता. व्यवहार-सत्ता जो मनोविकल्प कहलाती है, उसका भी ज्ञान आवश्यक है, वह व्यवहार-सत्ता यानी "मनोविकल्प" प्राण, बुद्धि, मन और पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति, सृष्टि-रचना, विषय, प्रमाण, प्रमेय और व्यवहार का मूल इनका विशेष ज्ञान कहलाता है. जिसको यह ज्ञान नहीं है और जो यह नहीं जानते कि, आत्म-रूप यह है, आत्म-सत्ता यही है, ब्रह्म-विलास भी यही, भासमान होने वाले सब कुछ सर्वकाल आत्म-शक्ति-प्रभाव से ही भासते हैं, वह ब्रह्म-रूप ही है, उनको चाहिए कि जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति में होने वाले समस्त व्यवहारों में आत्मा यानी हम नित्य साक्षीभूत, सत्ता-रूप से असंहत और अलिप्त हैं, यह ज्ञान श्रम पूर्वक साध्य कर लें.

१० प्रथमतः तो ज्ञानी पुरुष ब्रह्मरूप ही हैं और उनको जन्म-मरण का भान तक नहीं रहता, ऐसा हम कहते हैं और इधर देखें तो ज्ञानी पुरुषों ने प्राप्त कर लिया हुआ जो ब्रह्मरूप उसके विना

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥ येन जातानि जीवन्ति ॥ यत्प्रयन्त्यभिसंविशान्ति ॥ तद्विजिज्ञासस्व ॥ तद्ब्रह्मेति ॥

—(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ भृगुवल्ली ॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥)

इसमें कहे हुए प्रकार से इस सृष्टि के उत्पत्ति, स्थिति और लय को कोई अन्य आधार ही नहीं है ऐसा भी हम कहते हैं, इन दो बातों का मेल कैसा? उसी प्रकार समस्त जन सहजमुक्त रहते हुए भी शारीरक भाष्य में, "इन्द्र-चन्द्रादि अधिकारी देवताओं को ज्ञान होने पर भी अधिकार-मर्यादा पूर्ण हुए तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती" ऐसा जो कहा गया है उसकी उपपत्ति कैसी? अब कोई यदि ऐसा कहे, कि "वह प्रमाण सहजमुक्ति के अर्थ से नहीं, किन्तु विदेह-मुक्ति के हेतु से समझना चाहिए" तो उन्हें कहा जायगा कि "मनुष्य मात्र सर्वकाल मुक्त ही है यानी सभी सहज-मुक्त हैं" इस प्रकार की उपदेशसाहस्री में प्रतिज्ञा ही की गई है-

"नित्यमुक्तः सदैवास्मि"

अब आत्मा की प्राप्ति कर लेने के सम्बन्ध में-

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

-(बृहदारण्यकोपनिषत् ॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥ पञ्चमं ब्राह्मणम्)

इत्यादि अर्थ के जो विधि-वाक्य हैं उनका अर्थ इतना ही है कि "सच देखा जाय तो आत्मा को जन्म, मरण, वृद्धि, क्षय इत्यादि अवस्थाएँ हैं ही नहीं; तथापि अज्ञानवश उन अवस्थाओं का सम्बन्ध अपने से ही है ऐसा जो जान पड़ता है और उस कारण जो भय होता है वह नष्ट हो जाय, इतना ही उन वाक्यों का वास्तव अर्थ है. केवल अज्ञान-पटल ही दूर करें, बस इतना ही उसका प्रयोजन है. न रही हुई मुक्ति सम्पादन कर देने के लिए वह नहीं लिखी गई हैं." कारण, ब्रह्म कहीं, किसी वाक्य से प्राप्त होने वाला नहीं है.

ध्रुवा ह्यनित्याश्च न चान्ययोगिनो

मिथश्च कार्यं न च तेषु युज्यते ।

अतो न कस्यापि हि किञ्चिदिष्यते
स्वयं च तत्त्वं न निरुक्तिगोचरम् ॥२४॥
-(उपदेशसाहस्री प्रकरण १९).

[शाश्वत जो आत्मा) और अशाश्वत (अन्यान्य जगत् इत्यादि) इनका आपस में सम्बन्ध होना ही शक्य नहीं है इस कारण यह कहना यथार्थ नहीं है कि, उनके (सम्बन्ध के) योग से कुछ क्रिया होने पाती है. इस कारण (परमार्थ दृष्टि से) किसी का किसी के साथ भी सम्बन्ध नहीं है. तत्त्व जो है वह तो स्वयम् वाणी के वश में है ही नहीं.]

११ इसपर भी कोई प्रश्न उठाएँगे कि, यदि सभी सहज-मुक्त हैं तो "अज्ञानी जीवों का जन्म उनको सदैव बाधक होता है और ज्ञानी उस बाधा से मुक्त रहते हैं" ऐसा भेद क्यों? उत्तर इसका यह है कि, जीव को जो जन्म प्राप्त होता है वे उनके कर्म-शेष से-भोगशेष से होते हैं. वासना-बद्ध जीव उन उन वास-नाओं के कारण वैसे वैसे अधिकार से उस उस स्थल में उत्पन्न होते हैं. इसपर से स्पष्ट होता है कि जन्म का मूल "वासना" है. इसका स्पष्टार्थ इस प्रकार कि, वासना को जन्म प्राप्त होता है. वासना यह मनोवृत्ति का नाम है. मन ने अनेक वार जिस विषय की कल्पना की उस विषय-वृत्ति को "वासनावृत्ति" कहते हैं. तात्पर्य-मन जिस प्रकार जागृति में अनेक रूपाकार बन जाता है, उसी प्रकार अनेक जन्म मन को ही प्राप्त होते हैं. आत्मा जन्मान्तर में भी एक, अक्रिय, समान रहता है. अध्यात्म दृष्टि से समस्त आकार माया ही धारण करती है. ब्रह्म-स्वरूप में षड्विकार रहते ही नहीं. अर्थात् वासना ही नष्ट होने पर

जन्म भी नष्ट हो जाते हैं यह सिद्धान्त सभों ने मान्य कर लिया है. हम को तो " नित्यमुक्तः सदैवास्मि " इस श्लोक में जैसा कि कहा गया है समस्त जीव अखण्ड, सर्वकाल जन्म पाते हुए भी मुक्त ही हैं यह सिद्ध करना है. यदि वह सिद्धान्त न माना जाय तो साधु-सत्पुरुषों के अवतार-चरित्र और श्री भगवान् के-

" यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
-(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ४).

[हे भारत! जब जब धर्म की हानि (और) अधर्म की वृद्धि होती है तब तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूं.] इस प्रतिज्ञा की सङ्गति कैसी? उपरोक्त प्रतिज्ञा पर से तो स्पष्ट है कि, ईश्वर पूर्ण ज्ञानी रहता हुआ भी अनेक जन्म धारण करता है. वासना नष्ट होने पर जन्म प्राप्त नहीं होता और ईश्वर वासनातीत होते हुए भी बारंबार अवतार लेता है! इन दोनों सिद्धान्तों की एकवाक्यता कैसी की जाय?

१२ प्रसङ्ग के अनुसार ध्यान में रखने योग्य और एक बात कहनी है कि, श्रीमद्भगवद्गीता पर बहुत सी टीकाएँ उपलब्ध हैं, तो भी इस बात का खुलासा किया हुआ कहीं दिखाई नहीं देता कि, एक स्थान पर-

" न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
-(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय २, श्लोकार्ध २०).

("यह आत्मा न कभी जन्मता है और न मरता है, अथवा कभी होकर फिर नहीं होगा यह भी नहीं है") ऐसा स्पष्ट कहा गया है, तो दूसरी जगह–

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति....तदात्मानं सृजाम्यहम्"

–(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ४, श्लोक ७).

("जब जब धर्म की हानि होती है तब तब मैं जन्म लेता हूँ") ऐसा भी स्पष्ट कहा है, तो इसका मेल कैसा? इसका समर्पक उत्तर देने में नित्य गीता–प्रवचन सुनने वालों को भी बड़ा ही विचार करना पड़ेगा.

१३ अस्तु, प्रकृत विचार यह है कि, साधु, सन्त, ज्ञानी, अधिकारी देवता और रामकृष्णादिकों के अनेक जन्म होते हैं तथापि उनकी नित्यमुक्ति, सहजमुक्ति भङ्ग होने नहीं पाती, इसका क्या तात्पर्य? इस प्रकार की शङ्का और उसका समाधान प्रायः कहीं देखने में नहीं आता, पर, इसका ज्ञान अवश्य चाहिए. कारण, कि, बिना इस ज्ञान के "करते हुए अकर्ता, भोगते हुए अभोक्ता" इत्यादि वाक्यों का अर्थ ठीक ठीक नहीं जचेगा. इसलिए केवल ईश्वरार्पण-बुद्धि से इसका विचार आगे हम कर रहे हैं.

१४ वेदान्त–विद्या में सर्वत्र ईश्वर का आस्तित्व कथन किया गया है. हमारे इस ज्ञान–यज्ञ का कार्य भी एक उसकी सेवा ही है! इस कारण हमको पृथक् प्रतिज्ञा करने की अथवा सौगन्द खाने की कोई आवश्यकता नहीं है; तथापि श्री आदिशङ्कर ईश्वर ने–

अयमेव हि वेदार्थो नापरः परमास्तिकः।
गृण्हामि परशुं तप्तं सत्यमेव न संशयः॥१२८॥

अयमेव हि सत्यार्थो नापरः परमास्तिकः।
विश्वासार्थं शिवं स्पृष्ट्वा त्रिर्वः शपथयाम्यहम् ॥१२९॥
अयमेव हि वेदार्थो नापरः परमास्तिकः।
अन्यथा चेत्सुराः सत्यं मूर्धा मेऽत्र पतिष्यति ॥१३०॥
—(ब्रह्मगीता अध्याय ५).

"यही वेदार्थ है" ऐसा त्रिवार सौगन्द पूर्वक कहा है और "विना अनुभव जो अन्यथा बोलेगा उसका मस्तक गिर जायगा" ऐसी प्रतिज्ञा की गई है. उसकी ओर हम अङ्गुलि दिखा कर मुक्त पुरुष का जन्म कैसा और किस प्रकार हुआ करता है इसका विवरण कर रहे हैं, तो आप सब पाठकगण अच्छी तरह चित्त देकर, पढ़ कर विचार करें यह हमारी प्रेम-पूर्वक सूचना है.

१५ प्रथमतः

"शास्त्रदृष्टिर्गुरोर्वाक्यं तृतीयमात्मनिश्चयः"

इस न्याय के अनुसार, शास्त्र-प्रमाण से यह जन्म-मरण-प्रवाह कैसा बहता और क्योंकर उत्पन्न होता है, तिसपर भी आत्मा अर्थात् हम कैसे अलिप्त हैं इसका विचार कर. इस विचार को प्रारम्भ करने के पहले ऐसी एक शङ्का उपस्थित होती है कि सकल वेदान्त ग्रन्थों में जन्म-मरण-सहित आत्म-रूप में ही समस्त प्रपञ्च का उपसंहार होता है ऐसा कहा गया है.

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते.... यत्प्रयन्त्यभिसंविशान्ति"
—(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ भृगुवल्ली ॥ प्रथमोऽनुवाकः॥)

उसी प्रकार वेदान्त की मूल प्रवृत्ति ही ऐसी है कि—

"अध्यारोपापवादाभ्याम्"

-(पञ्चदश्याम्–तृप्तिदीपे. ॥६८॥ श्लोकार्धे)

इसमें कथन किए अनुसार आप होकर कोई एक आरोप, आक्षेप उठाएँ और उसका निरसन भी आप ही बतलाएँ. जैसा– क्षितिज अथवा मृगजल को देख कर आप पहले "पानी दीखता है" ऐसा कहें और अनन्तर "वह दीखना असत्य है, भ्रम है" ऐसा आप ही विधान करें, यानी आरम्भ में न रहा हुआ आरोप रखना और अनन्तर ऐसा (ठहराना) निर्धार करना कि, वह मूलतः है ही नहीं, यह जैसा प्रकार है उसी तरह "प्रपञ्च दीख तो पड़ता है पर वह झूँठा है" ऐसा सिद्धान्त है' इसपर, यदि ऐसा ही है

टिप्पणी–१ "अध्यारोप" यानी एक वस्तु पर अन्य वस्तु का आरोप करना "अपवाद" यानी –वह (रखा हुआ) आरोप मिथ्या बतलाना, ब्रह्म–स्वरूप निर्गुण रहने के कारण व्यावहारिक पदार्थ की तहर शब्दों से उसका प्रतिपादन नहीं किया जाता इस लिए श्रुति ने अध्यारोपापवाद–पद्धति का स्वीकार किया है, जैसा कि, –

" द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च " ॥१॥

–(वृहदारण्यकोपनिषत् ॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥ तृतीयं ब्राह्मणम्).

ब्रह्म के "मूर्त" और "अमूर्त" ऐसे दो रूप हैं; मूर्त–रूप कहते हैं पृथ्वी, जल और तेज को, तथा वायु और आकाश को "अमूर्त" कहते हैं. यह "अध्यारोप" हुआ, और आख़िर में ऐसा कहा गया है कि–

"....अथात आदेशो नेति नेति...." ॥६॥

–(वृहदा ....॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥ तृतीयं ब्राह्मणम्)

इसके अनन्तर आदेश यानी ऐसा उपदेश है कि " न इति न इति" इस प्रकार जो मूर्त स्वरूप कहा है, वह सत्य नहीं, और " न इति" यानी जो अमूर्त स्वरूप कहा है वैसा भी ब्रह्म नहीं है. यह "अपवाद" है.

तो फिर "मुक्त पुरुषों का जन्म झूँठा और मृत्यु भी झूँठा" तुम्हारे इस कथन में विशेषता ही क्या है? ऐसा यदि जो कोई आक्षेप करेंगे उनको हमारा यह कहना है कि, सच कहा जाय तो आत्म-विचार यानी कुछ नया कथन अथवा सम्पादन करना है ही नहीं. अधिकन्तु कितनों की ऐसी प्रतिज्ञा है कि-

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः[1] ॥६६॥
-(वेदान्तडिण्डिम).

इस से देखें तो, यदि आधे श्लोक में ही सब वेदान्त कहा जा सकता हो तो उपनिषदों, भाष्यों और महा-वाक्यों की आवश्यकता ही क्या? ऐसा प्रश्न उद्भूत होगा, उसी प्रकार यह जगत पहले कभी न था, अब भी नहीं है और आगे होगा भी नहीं-

" नास्ति, नासीत्, न भविष्यति "

ऐसा सिद्धान्त रहने के कारण सभी वेदान्त-विचार व्यर्थ हो जाएँगे! पर, प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले सुख-दुःखों से भरे हुए प्रपञ्च में "नास्ति, नासीत्, न भविष्यति" का प्रत्यक्ष अनुभव दिलाने में कितने घोर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है! यह तो स्पष्ट ही है. उसी तरह "मुक्त कभी जन्म नहीं पाते" ऐसा रहते हुए भी उनको अनेक जन्म प्राप्त हुए भी तो जन्म-मृत्यु का छुआछूत होता ही नहीं और वे सर्वदा अखण्ड, एक रूप से

टिप्पणी-१ करोड़ों ग्रन्थों के द्वारा जो कहा गया है वह मैं आधे श्लोक में कहता हूँ. वह यह है कि "जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, किन्तु ब्रह्म-रूप ही है."

रहते हैं, यह भी विचार सदसद्विवेक विना पूर्णतः नहीं धँसेगा. तो सबका कल्याण हो जाय और सबको अनुभव आ जाय इसलिए यहाँ यह विचार विस्तार पूर्वक करने की योजना हमने निर्धारित की है.

१६ देखिए! सर्व वेद, शब्द-प्रत्यय, पञ्चमहाभूत, प्रमाण, प्रमेय यह सब जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसके आधार पर रहते हैं और जिसमें विलीन होते रहते हैं वह आत्मा है ऐसा वेद-प्रमाण है.

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते....
यत्प्रयन्त्याभिसंविशन्ति ॥ तद्विजिज्ञासस्व ॥ तद्ब्रह्मेति ॥"
--(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ भृगुवल्ली ॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥).

इसपर से व्यावहारिक भ्रम की तरह सब दृश्यों का निरास अधिष्ठान में ही होता है यानी भ्रम-दृष्टि से जो जो दीख पड़ता है उन सबका लय अधिष्ठान में ही होता है यह स्पष्ट हुआ. उपरोक्त सिद्धान्त पर से, उसी तरह सबके अनुभव पर से भी यह सिद्धान्त निकलता है कि, आत्म-विद्या सम्पादन करने का अविद्यामूलक जो अध्यास वह नष्ट होकर मूलतः रहा हुआ सत्य आत्म-तत्त्व प्रकट होता है. अर्थात् मुक्त पुरुष ब्रह्म-रूप ही हो जाते हैं. कितने ही उपनिषदों में, भाष्य इत्यादिकों में उपदेश के समय "साधकों में ईशता नहीं आती, किन्तु ब्रह्मता आ जाती है" ऐसा लिक्खा है.

" ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति "
-(मुण्डकोपनिषत् ॥ तृतीय मुण्डके द्वितीय खण्डः ॥)

वैसा ही आदि कवि राजयोगी मुकुन्दराज ने भी अपने प्राकृत "विवेकसिन्धु" नामक ग्रन्थ में यह शङ्का कर उसका उत्तम रीति से समाधान कहा है. -

आतां असो हा युक्तिविस्तार ॥ सृष्टयादि कार्य करी जगदीश्वर ॥
तोही करीतसे योगेश्वर ॥ तेणें चि न्यायें ॥१९॥

(अस्तु, अब यह (सब युक्ति-विस्तार रहने दीजिए ॥ जगदीश्वर जैसे सृष्टि आदि कार्य रचता, करता रहता है ॥ योगेश्वर भी उसी नाईं किया करता है ॥१९॥)

एकचि जगदीश्वर ॥ उपाधिवशें विश्वाकार ॥
तैं ईश्वरेंसि कैचें अंतर ॥ जीवन्मुक्तासी ॥२०॥

-(विवेकसिंधु. उत्तरार्ध, प्रकरण १८)

[एक ही जगदीश्वर रहते हुए (वह) उपाधिवश जगदाकारता धारण करता है ॥ तब उस (जगत से और) ईश्वर से-(उसी प्रकार) जीवन्मुक्त पुरुष से भेद कैसा और कहाँ का? ॥२०॥]

मुकुन्दराज ठीक-ठीक और सयुक्तिक कहते हैं. मायोपाधिक में सृष्टि-सामर्थ्य है, अविद्योपाधिक को वह प्राप्त नहीं. योगेश्वर जब अविद्योपाधिक मानवी जन्म को प्राप्त होते हैं उस समय उनकी अविद्याकृत उपाधि रहने के कारण उनमें मायिक सामर्थ्य नहीं आता. अथवा ऐसा भी कहा जायगा कि, चैतन्य स्वयम् सृष्टि-रचना का उद्योग नहीं करता, तो यह सब गति चेष्टा माया की ओर से होते हुए ब्रह्म पर केवल आरोप हि किया जाता है. इससे भी विशेष सूक्ष्म विचार किया जाय तो जान पड़ता है कि एक ही ईश्वर समस्त जगत् का नियन्ता है.

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

—(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८).

(हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से (उनके कर्मों के अनुसार) भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियों के हृदयों में स्थित है.)

इस दृष्टि से विचार करने पर योगीश्वर, जीव, सत्पुरुष, साधु चाहे कोई रहें, ईश्वर से भिन्न कोई भी नहीं. ऐसा रहते हुए योगी को, ज्ञानी को केवल अलग मान कर "उनमें सृष्टि-सामर्थ्य क्यों नहीं रहता?" ऐसा प्रश्न झोंक देना निराधार ठहरता है. यदि एक ही ईश्वर अनन्त रूप से स्वांग भरता है, तब भेद-भावना की कल्पना रहे विना ईश्वरभिन्न योगी यह शङ्का ही उठने नहीं पाती. वस्तुतः यह युक्ति अपूर्व और अच्छी प्रकार ध्यान में रखने योग्य है. ईश्वर भी एक और माया भी एक, परन्तु ईश्वर अनन्त जीवाकृतियाँ धारण करता है उस समय तद्विषयक ऐसी शङ्काएँ उमड़ पड़ती हैं, उसी प्रकार माया विद्याकृति-रूप से अन्धतामिस्र जैसे अद्भुत रूप प्रकट करती है उस समय तदवच्छिन्न चैतन्य पर जीव का आरोप लद जाता है और जीव परमपदवी मुक्तदशा में ही सृष्टि-नियामक होता है या नहीं? इस प्रकार के सन्देह-पुञ्ज इकट्ठा हो जाते हैं. सार रूप से सब ईश्वर रूप हैं. चैतन्य भी एक! फिर भेद-शङ्का कहाँ से घुसने पाय? इस रीति से भेद-शङ्का निर्मूल हो जाने के कारण विशेष विचार की आवश्यकता नहीं. विद्यारण्यमुनि ने भी "चित्रदीप" में घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश और महदाकाश ऐसे चार

रूप बता कर ईश-सृष्टि और जीव-सृष्टि इनका भेद भी विस्तारशः बतलाया है.

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति तौ श्रुतम् ।
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥१५५॥

—(पञ्चदशी चित्रदीप).

(श्रुति में कहा गया है कि "माया आभास के योग से जीव और ईश्वर (भेद) किया करती है" वे जलाकाश और मेघाकाश की तरह उत्तम प्रकार से व्यवस्थित हैं).

वैसे ही यहाँ एक बड़ा कौतुक यह है कि, पण्डित निश्चलदास जी ने भी अपने "विचारसागर" नामक सुप्रख्यात ग्रन्थ में बिम्ब-वाद, आभासवाद, अवच्छेदवाद इनका भरसक अच्छी-से-अच्छी तरह विचार पूर्वपक्षसिद्धान्त-रूप से बड़े ही उल्हास पूर्वक कहा है; परन्तु द्वैतमती तो "जीव को कभी ईश्वरत्व प्राप्त होता ही नहीं" ऐसा प्रचण्ड कोलाहल मचाने के लिए बड़ी ही तत्परता से सदैव सिद्ध रहा करते हैं. इसपर से और भी 'तत्त्वमसि' महावाक्य में जिस प्रकार से कि तत्पदवाच्यत्याग' ही बतला कर ईशता का भी बाध किया है, इस प्रमाण पर से तो सहज ही

टिप्पणी-१ "वाच्य" यानी भाषा में प्रसिद्ध रहा हुआ अर्थ, और "लक्ष्य" यानी वाक्य का तात्पर्य देख कर उसके अनुसार मुख्यार्थ छोड़ कर भी जो निकट का अर्थ लिया जाता है, वह, जैसे- 'तो किल्ला अमुक दिवस लढला' (वह दुर्ग इतने दिन तक लड़ता रहा) ऐसे ढङ्ग के वाक्य महाराष्ट्र भाषाङ्कित इतिहास में जगह जगह आये हैं. इस प्रकार के वाक्य में "किल्ला" (दुर्ग) इसका वाच्यार्थ "तट" (कोट की दीवार) है; परन्तु 'दीवार' भला कैसी लड़े!!

सबको जान पड़ेगा कि, जीव को ईश्वरता प्राप्त नहीं; परन्तु वेदान्तडिण्डिम का घोष करने वाले वेदान्त-केसरी जो हैं उनकी तो स्पष्ट प्रतिज्ञा है कि एक, अद्वितीयघन चैतन्य में किसी प्रकार का लौट-बदल, किञ्चिन्मात्र भी हेरफेर नहीं होता. यानी प्रतिबिम्बता, आभासधर्म, ईशधर्म अथवा प्रपञ्च इत्यादि जीव-धर्म इनका तो छुवाव भी हमको नहीं होता, यह आकाश के दृष्टान्त से जगह जगह सिद्ध किया गया है. आत्मा एक, असंहत, स्वतन्त्र, सर्वसत्ता-प्रेरक और नित्य रहने के कारण, ईश-भाव, जीव-भाव, जड़-भाव इत्यादिक कल्पित हैं, वैसा ही

यह अभूत और अशक्य ढकोसला नहीं तो क्या !!! इसलिए उपरोक्त वाक्य में "किला" यानी "किले में स्थित सेना" ऐसा अर्थ करना पड़ता है. यह "लक्ष्यार्थ कहलाता है. "गंगायां घोषः" इत्यादि उदाहरण संस्कृत में प्रसिद्ध ही हैं. "तत्त्वमसि" यह वाक्य छान्दोग्योपनिषद् के छठवें प्रपाठक में श्वेतकेतु और आरुणि के संवाद में आया हुआ है. आरुणि श्वेतकेतु को उपदेश देता है. उसमें "सद्रूप ब्रह्म से सब जगत् उत्पन्न हुआ" इत्यादि बोलते हुए कहता है कि "तत्"—वह जगत्कारण "त्वं" यानी तू ही है. इस वाक्य से क्या समझना चाहिए? आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु यह क्या जगत्कारण है! वैसा हो तो "श्वेतकेतु अपने पिता के पहिले ही लाखों वर्ष— जब कि जगत् उत्पन्न हुआ उस समय में था" ऐसा विपरीत अर्थ हो जायगा!! इसलिए "त्वं", का वाच्यार्थ "तू" श्वेतकेतु नाम का मनुष्य यह त्याग कर आत्मचैतन्य यह लक्ष्यार्थ स्वीकार करना चाहिए. उसी प्रकार "तत्" यानी जगत्कारण, माया-शक्तियुक्त ब्रह्म यह "तत्" शब्द का वाच्यार्थ है. यहाँ जगत्कारणत्व यह "वाच्यार्थ" त्याग कर शुद्ध चैतन्य यह "लक्ष्यार्थ" स्वीकृत करना पड़ेगा. अन्यथा वाक्य का तात्पर्य कुछ नहीं निकलता.

समस्त विशेषणाएँ आत्मा से ही लागू रहने के कारण हमें जीवेश-भेद मान्य ही नहीं.

१७ प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न में-

" भवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्छरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते केनोत्क्रमते कथं वाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥१॥ "

ऐसे प्रश्न किये हैं और उनके-

" आत्मन एष प्राणो जायते " ॥३॥

इत्यादि उत्तर दिये गये हैं और उसके सम्बन्ध में दृष्टान्त भी बतलाए गये हैं. उसी तरह इतर उपनिषदों में भी यह सृष्टि चैतन्य-मूलक है, क्षण क्षण में बदलने वाले मनोविकल्प, प्राणों की गति चेष्टा और इन्द्रियों का चला हुआ व्यापार यह सब आत्म-सत्ता से ही हुआ करते हैं इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं, इस प्रकार उच्च रव से कहा गया है.

" अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ॥ अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥

-(मुण्डकोपनिषत् ॥ द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥)

" यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥ तद्ब्रह्मेति ॥ "

-(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ भृगुवल्ली ॥ ३ ॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥)

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ॥ आकाशाद्वायुः ॥ "

-(तैत्तिरीयोयोपनिषत् ॥ ब्रह्मानन्दवल्ली ॥२॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥१॥)

"भीषास्माद्वातः पवते ॥ भीषोदेति सूर्यः ॥"

-(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ ब्रह्मानन्दवल्ली॥२॥ अष्टमोऽनुवाकः ॥८)

"स एव मायापरिमोहितात्मा
शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः
स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति ॥ १२॥
स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता
स्वमायया कल्पितजीवलोके।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने
तमोभिभूतः सुखरूपमेति ॥१३॥
पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स
एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततः
सुजातं सकलं विचित्रम् ॥१४॥

-(कैवल्योपनिषत् ॥ प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥)

"स एव जीवः" वही जीव सब कुछ किया करता है, वही सकल अवस्थाओं का उपभोग लेता है, उसीमें समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है" ऐसा स्पष्ट कहा गया है. जिसको "दृष्टिसृष्टिवाद" अवगत है उसको निश्चय पूर्वक यह जचे विना नहीं रहता कि, जीव सर्वशक्तिमान् है, जीवता आरोपित है और जैसा कि "कूटस्थ-दीप" (पञ्चदशी में कहा गया है उसके अनुसार "जीव ब्रह्म ही है" यह सिद्धान्त सब वेदान्त-ग्रन्थों में बड़ी ही प्रतिज्ञा के

साथ सिद्ध किया गया है. शारीरक भाष्य में भी "सृष्टि को उत्पन्न करने वाली माया[1] ही है" इस प्रकार के सांख्य-मत का खण्डन करके यही सब प्रकार से सिद्ध किया[2] है कि "चैतन्य से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है". इन सब आँख खोलने वाले विवेचनों पर से यह सिद्ध होता है कि, मुक्त पुरुष सर्वकाल ब्रह्मरूप ही हैं. दृश्यों का होना, रहना और नाश पाना यह सब कुछ मुक्त-स्वरूप में का व्यवहार होते हुए वे स्वयम् अखण्ड स्वरूप-भूत मुक्त ही रहते हैं.

१८ इस जगह मुक्त ब्रह्मरूप हैं और सृष्टि-सामर्थ्य ब्रह्म में है इस सम्बन्ध में इतना विस्तार पूर्वक लिखने का कारण यह है कि, यह सृष्टि अज्ञान-मूलक ही है. "अज्ञान नष्ट होने पर समस्त व्यवहार का लोप हो जाता है" ऐसा कहने वाले जो लोग हैं उनके मत से "अज्ञान का समूल नाश हुए बिना ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती. और वे ऐसा भी प्रतिपादन करते हैं कि "जन्म-मरण का कारण भी अज्ञान ही है". इस पर यह सन्देह होता है कि, यद्यपि मुक्त पुरुषों का अज्ञान नष्ट हुआ रहता है तो भी उनका व्यवहार चलता ही रहता है! मुक्त पुरुषों को भी भिक्षाटण, उपदेश इत्यादिक व्यवहार करने ही पड़ते हैं. उनका अज्ञान तो कबका नष्ट हो चुका! तब मूल ही उखड़ जाने पर वृक्ष कैसा! इसपर कोई समाधान भी कहते हैं कि, जिस तरह बाण धनुष्य से निकल पड़ा थी तो उसमें भरा वेग नष्ट हुए तक वह दौड़ता ही

टिप्पणी-१ "माया" शब्द से यहाँ सांख्य-शास्त्रोक्त प्रधान (प्रकृति) विवक्षित है.

" " -२ ब्रह्मसूत्र अध्याय २, पाद २ में आरम्भ से लेकर दसवें सूत्र तक यह विषय आया है.

रहेगा, अथवा मूल उखड़ जाने पर भी वृक्ष तत्काल सूख नहीं जाता किन्तु कुछ काल तक उसके पल्लव इत्यादिक पूर्ववत् दीखते हैं, उसी प्रकार अज्ञान नष्ट हो चुका तथापि देह रहे तक व्यवहार चलता ही रहेगा. पञ्चदशी के 'तृप्तिदीप' में विद्यारण्यमुनि ने इस सम्बन्ध में दृष्टान्तरूप जो एक बात (कहानी) कही है वह ध्यान में रखने योग्य है. :-

१९ एक समय में दस आदमी आपस में इकट्ठे होकर प्रवास करने निकल पड़े. उनके मार्ग में एक महा नदी आड़ी आगई. उसको किसी तरह पार कर सबके सब एकबारगी जब पर तीर पर पहुँच चुके तब उनमें से एक ने यूँ शङ्का उपस्थित की कि "बड़ी ही कठिनाइयों से महा नदी हमने पार तो कर लिया! पर एक बार गिन कर देख तो लें कि, हम सब के सब जीवित और सुखरूप हैं कि नहीं" इस सन्देह को दूर करने के लिए उन्हों ने एक एक करके गिनने आरम्भ किया. प्रथमतः एक ने गिनती की तो नउ गिने गये, तब दूसरा गिनने लगा तो भी नउ ही! तीसरे ने, चौथे ने कस कर गिनती लगाई तब भी नउ के नउ! एवं सभों ने अपनी अपनी ढङ्ग से गिनती कर डाली, पर किसी एक से भी "दस" नहीं गिने गये! कारण, प्रत्येक अपनी गिनती करना ही भूल जाता था. अन्त में दसवाँ नदी में डूब मरा अथवा बह गया ऐसा निश्चय कर कोई सर पीटते रोने लगा तो कोई छाती पीट पीट कर आक्रोश करने लगा. कोई तो पत्थर पर सर मारने लगा! एवं सभी शोक में डूब गए. अनन्तर एक समझदार, सियाना पथिक वहाँ आ पहुँचा और सबको रोते, चिल्लाते देख कर उसको भी बुरा लगा तब उसने उनसे शोक का कारण पूँछ लिया और स्वयम् ही एक बार

गिन कर देख लिया, तब उसे मालूम पड़ा कि दसों के दसों बराबर जीवित हैं। बुद्धिमान् तो था ही, उसके मन में विचार आया कि, यूँ खाली गिन कर बताने पर सीधी बात इन मूर्खों के ध्यान में न आयगी, तब उसने अपने मन में एक युक्ति सोची और उसके अनुसार अपने हाथ के लकड़ी की अनी से एक एक को ठोंग ठोंग कर एक ओर हटाता रहा, उर्वरित दसवाँ जो था उसको तो अच्छा सा तड़ाका लगा कर जतलाया कि "वे नउ और यह तू दसवाँ" है न ? तब कहीं "हम सब- दसके दस -जीवित हैं" यह बात उनके समझ मे आकर ध्यान में बैठ गई, और उन्हें बड़ा आनन्द हुआ; पर जिन्हों ने शोक के मारे सर फोड़ लिया था, पत्थर से छाती पीट ली थी उनके तो व्रण (ज़ख्म) तत्काल नष्ट नहीं हो सके, तात्पर्य - यद्यपि ज्ञानाग्नि से सञ्चित और क्रियमाण जल कर भस्म हो गया हो, तथापि आरम्भक कर्म तो देहपात हुए तक नष्ट नहीं होने पाता और वही मुक्त पुरुषों के द्वारा क्रिया कराता रहता है, ऐसा उनका कहना है.

२० अस्तु, इसपर भी कोई पूँछ बैठते हैं कि "ज्ञान-सम-काल में सब व्यवहार नष्ट होना चाहिए न? फिर तो देवादिकों को जन्म कैसे प्राप्त होते रहते हैं? इसका यह उत्तर है कि, आरम्भक प्रारब्ध-कर्म जैसा रहता है उस प्रकार देवादिकों को भी उनका अधिकार समाप्त हुए तक जन्म लेना ही पड़ता है. अधिकन्तु कोई कोई अन्यान्य उपपत्तियों से मन्द-ज्ञानी, तीव्र-ज्ञानी का तर्क लड़ा कर 'चरम-जन्म तक तीव्र ज्ञान नहीं होता' ऐसा भी कहते हैं. इसपर भी प्रश्न उठा करता है कि "ईश्वर पूर्ण ज्ञानी होते हुए अनन्त (जन्म) अवतार कैसे धारण करता

है? "तदात्मानं सृजाम्यहम्" इस वाक्य की उपपत्ति कैसी? इस पर समाधान बतलाया जाता है कि "ईश्वर को आवरण-शक्ति की बाधा नहीं होती, पर विक्षेप-शक्ति तो बाधक होती है. इसका अर्थ यह है कि, माया के विक्षेप-शक्ति से ईश्वर के अनन्त रूप भासमान हुए भी तो उनपर अज्ञान का आवरण नहीं रहता. यानी ईश्वर अपने स्वरूप को कभी नहीं भूलता, इसी लिए वह किसी प्रकार बद्ध नहीं हो सकता. इसपर भी कितने ही का यह कहना है कि "ईश्वर माया-शक्ति का प्रेरक है, इसलिए वह स्वतन्त्र रीति से चाहे जितने जन्म ले सकता है. उसको जन्म-मरणों का अल्पांश भी भोग नहीं होता.

२१ यहाँ ऐसा एक विचारणीय और अत्यन्त आवश्यक विषय है जो बहुत से ग्रन्थों में दिखाई नहीं देता. "विचारसागर" जैसे ग्रन्थ के अति शोधक लेखक ने भी इसका कहीं उल्लेख किया हुआ दीख नहीं पड़ता. इसलिए हम यहाँ उसका आग्रह पूर्वक विचार कर देते हैं.

२२ अविद्या यानी अज्ञान. उसी कारण जीव पर जन्म-मरण का अपवाद आता है. इस व्यापार में इच्छा मुख्य रहने के कारण कर्म मूलक व्यापार हुआ करता है; परन्तु "ईश्वर

टिप्पणी-१ मन्द अन्धेरे में पड़े हुए रज्जु पर सर्प का भ्रम होता है. इस स्थल में अन्धकार से आच्छादित रहा हुआ रज्जु-स्वरूप स्पष्ट नहीं भासता, यह अन्धकार का आवरण कहलाता है और सर्प की कल्पना "विक्षेप" कहाती है. "आवरण" और "विक्षेप" ऐसी माया की दो शक्तियाँ हैं. आवरण-शक्ति से आत्मस्वरूप पूर्णतः नहीं भासता और विक्षेप के कारण जगत् की कल्पना होती है.

माया का स्वामी है और माया स्वच्छ ज्ञान-प्रकाश-रूप है" ऐसा कहने का तात्पर्य "सत्वात् संजायते ज्ञानम्"....(सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है.)

-(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १४, श्लोकार्ध १७).

इसमें कथन किए अनुसार कारण का रूप कार्य में दिखाई देता है इसलिए शुद्धसत्वात्मक माया को ही ज्ञान-प्रकाश-रूप कहा है. है. जैसा "आयुर्वै घृतम्" माया का स्वामी जो ईश्वर उसके जन्म-अवतार कर्माधीन नहीं किन्तु काल निमित्तक रहते हैं. इस काल को ही "माया" शब्द से सम्बोधित किया है. सर्व शक्ति माया में हैं. इस माया के अनन्त नाम हैं. अविद्या, माया, प्रकृति, विकृति, शून्य इस प्रकार जिस जगह जैसा सन्दर्भ हो वैसा ही नाम उसको दिया गया है. इसपर से अविद्या और माया यह अन्यान्य नहीं किन्तु एक ही हैं ऐसा यद्यपि दीखता है तो भी ईश्वर और जीव इनकी व्याख्या करते समय जो मायोपाधिक वह "ईश्वर" और जो अविद्योपाधिक वह "जीव" इस प्रकार का भेद किया हुआ दिखाई देता है. इसपर से ही माया और अविद्या के सत्य स्वरूप में चाहे वह कैसा भी क्यों न सूक्ष्म हो-भेद रहना ही चाहिए यह स्पष्ट होता है. इसके अनुसार ही हम कहते हैं कि माया यह काल द्योतक है और अविद्या कर्म द्योतक है.

जीव अपने कर्मानुसार जन्म लेता है यानी ही वह कर्म-रूप माया-जाल में फँस जाता है. उसीको "अविद्या" कहते हैं. अधिकन्तु यदि ऐसा भेद न मानें तो ईश्वर और जीव यह भेद ही नष्ट हो जायगा. उसी प्रकार जीव जैसा कि परतन्त्र है ईश्वर भी वैसा ही परतन्त्र होने लग जायगा!

२३ यह सच है कि, काल भी तो माया का ही रूप है, तथापि विचार करने पर काल, कर्म, स्वभाव इनके मिश्रण बिना कोई घटना नहीं हुआ करती. तथापि ग्राहक अथवा द्योतक-पदार्थों में जैसी शक्ति होगी उस प्रमाण से जो जो भाग स्पष्ट दीखता है उसके अनुसार नाम दिया जाता है. सूर्य में तथा अग्नि में उष्णता और प्रकाश यह दोनों बातें विद्यमान हैं, तथापि अग्नि के सम्पर्क से पानी में केवल उष्णता बढ़ती है, उसमें प्रकाश नहीं दीख सकता. वही उस अग्नि का लकड़ी से सम्पर्क होने की ही देर कि उसमें उष्णता और प्रकाश दोनों दिखाई देते हैं. उसी प्रकार यह जगत् अनेक पदार्थों के मिश्रण से बना हुआ रहा भी तो जिस तरह कि किसी एक गांव में यदि ब्राह्मण अधिक रहते हों तो उसको "ब्राह्मण का गांव" या शूद्र अधिक हों तो "शूद्रों का गांव" कहते हैं अथवा जिस किसी यज्ञ में अन्नदान बहुत हो तो "अन्नमयोऽयं यज्ञः" कहते हैं उसी प्रकार जिस पदार्थ में जो अंश अधिक होगा इतर अंशों को हटा कर वह अपना ही नाम प्रकट करता है. उसी प्रकार यह सृष्टि भी काल, कर्म, स्वभाव के बल पर चलती है. उसमें जो अंश अधिक होगा उसका नाम उस पदार्थ को दिया जाता है इस नियम के अनुसार जीवों को कालकृत, कर्मकृत अथवा स्वभावकृत जन्म प्राप्त होते रहते हैं. उदाहरणार्थ -मृग प्रवेश होने पर कृमि पैदा होते हैं. उनका होना और नष्ट हो जाना स्वाभाविक मानते हैं, यह उनका स्वभावकृत जन्म है. स्वेदज प्राणियों का जन्म भी इसी रीति से स्वभावकृत कहा जाता है. और भी अविद्या-वेष्टित-चेतन से वासना निमित्तक जो कर्म उन कर्मों से जिनका जन्म होता है वह जन्म कर्मकृत कहलाता है. विशेष सूचना यह कि,

कर्मकृत जन्म यह विषय सब वेदान्त में मुख्य रहते हुए वेदान्त प्रवर्तक हैं, तब साधक जन अच्छी तरह चित्त देकर यह विषय वारंवार पढ़ें.

२४ अनेक जीवों के कर्म भोगोन्मुख होते समय उनका भोग हो जाय, इस प्रकार जीवों के वासनाओं की पूर्ति होती है इसलिए ईश्वर जगत् को निर्माण करता है. सब आत्मरूप-एकरूप रहते हुए भी जन्म पाये हुए जीव अपने अपने कर्मानुसार बद्ध अथवा मुक्त कहलाते हैं. ईश्वर को अर्पण किया हुआ कर्म मोक्ष-प्राप्ति का कारण होता है और वासनात्मक कर्म जन्म प्राप्त कर देता है. मनुष्य प्रति दिन जो नींद में से जाग्रत होता है उसको भी उसका कर्म-भोग ही कारण होता रहता है.

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव
जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततः
सुजातं सकलं विचित्रम्[1] ॥१४॥
—(कैवल्योपनिषत् ॥ प्रथमः खण्डः).

उसी प्रकार

"क्रियते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते"।

ऐसा भी वचन है. सार रूप से सृष्टि का सकल व्यवहार कर्म से

टिप्पणी—१ अन्य जन्म में किये हुए कर्मों के सम्बन्ध से बना जीव सोता है और वही जाग्रत होकर क्रीडा करता है उसी जीव से यह सकल विचित्र जगत् निर्माण हुआ है.

चला रहता है इसलिए जहाँ तहाँ कर्म की ही की हुई प्रशंसा सुनी पढ़ी जाती है. जगत् में इस कर्म के भोग से कोई नहीं छूट सकता. किये कर्म के अनुसार फलाफल भोगे विना छुटकारा नहीं—

> अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
> तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः[1] ॥१५६॥
>
> —(पञ्चदशी तृप्तिदीपः।).

२५ इसपर कोई पूँछ बैठेंगे कि, यदि ऐसा हो तो फिर बद्ध और मुक्त, जीव और ईश्वर, अज्ञानी और ज्ञानी इनमें तारतम्य ही क्या रहा? और साधनों की आवश्यकता ही क्या है? इसका समाधान यूँ है कि, यद्यपि सर्व कर्म से ही जन्म लेते और कर्म के अनुसार ही उनके काम-काज, रहन-सहन इत्यादि व्यापार चलते रहते हैं तो भी कर्म करते अक्रियता जिसके चित्त में अच्छी प्रकार धँस जाय वह मुक्त हो गया. महापुरुषों की जीवनी हमें यह समझा देती है कि, कर्म का रहना ही बद्धता और न रहने में ही मुक्तता है. इसपर भी कर्म करते हुए उसमें बद्ध न रहना यह ज्ञान का विशेष सामर्थ्य है. तात्पर्य, सृष्टि का बनना, बिगड़ना इत्यादि कारखाना कर्म मूलक है. इस सम्बन्ध में चाहे जितना विस्तार बहुत से वेदान्त-ग्रन्थों में मिलेगा, परन्तु उसी तरह कालकृत जन्म, अनन्त अवतार, कालनिमित्तक भोग इन विषयों की रचना प्रक्रिया क्वचित् ही दीख पड़ेगी. इसलिए हम यह प्रक्रिया विशेषतः कह रहे हैं.

टिप्पणी—१ अवश्य होने वाली घटनाएँ यदि टाली जा सकतीं तो नल, रामचन्द्र, युधिष्ठिर इनको कभी दुःख भोगना ही न पड़ता! और वे दुःखों से लिप्त न होते!!

२६ ज्ञानी, ईश्वर और पूर्ण अवतारिकों के चरित्र, उनके जन्म कर्मनिमित्तक नहीं, किन्तु कालनिमित्तक हुआ करते हैं. वह काल का परिणाम है. कर्म अभिमानमूलक रहा करता है. इच्छा विना क्रिया वनने नहीं पाती. ईश्वरी कृति अभिमानरहित ऐसे केवल सामर्थ्य से हुआ करती है और ऐसे क्रियाओं के भले बुरे परिणाम का अभिमान भी उसको नहीं रहता. कर्मकृत जन्म अहङ्कार से युक्त और कालकृत जन्म अहङ्काररहित रहा करता है. समय आता हैं इसलिए वे जन्म लेते हैं. औरों की तरह कर्म से बद्ध होकर नहीं आते. श्रीविष्णु ने मत्स्य, कूर्म, वराहादि कनिष्ठ योनियों में भी अवतार लिया हैं, यह भी एक काल-महिमा ही है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

—(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ४).

(हे भारत! जब जब धर्म की हानि (और) अधर्म की वृद्धि होती है तब तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात प्रकट करता हूँ)

श्रीमद्भगवद्गीता में कहे हुए श्री भगवान् के इस वचन पर से यही स्पष्ट होता है कि, उस प्रकार का काल' यही परमेश्वर के अवतारों का कारण है. "आत्मानं सृजाम्यहम्" जन्म लेने का

टिप्पणी:—१ श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में राजा ने ऐसा प्रश्न किया है कि "परमेश्वर सबके लिए समान रहते हुए वह देवों का पक्ष स्वीकार कर दैत्यों का नाश करता है यह कैसा?" इसपर शुक महामुनि ने कहा है कि

सामर्थ्य स्वतः में है भी तो "तदा" उसी समय में वह प्रकट होता है. इसलिए अवतार यह "कालकृत" रहा करते हैं, यह तो स्पष्ट है!

२७ "कलयतीति कालः" इस प्रकार काल शब्द की व्याख्या है. इसीलिए यहाँ जो "मायारूप" वह "काल" ऐसा कहा है. अतः यह सिद्ध होता है कि, काल सर्व-चालक है. इस काल के सत्ता-द्योतक दो रूप हैं. एक व्यापक, पूर्ण, स्थिर, सत्ता मात्र है. यही परब्रह्म का लक्षण है. दूसरा रूप "माया" है. यह रूप ही जगत् का कारोबार, व्यवसाय चलाता और विना विश्राम दौड़ता रहता है. इस दूसरे रूप के आधीन होकर ही जीव जगत् में आते हैं. कारण, वे कर्माधीन रहा करते हैं. इस कर्म की व्याख्या पाणिनी ने यों की है:-

"कर्तुरीप्सिततमं कर्म"

{ पाणिनीयम् अष्टाध्यायी अ. १, पा. ४, सूत्र ४९
सिद्धान्त कौमुद्याम् कारक प्रकरणम् }

यानी कर्ता की जो उत्कृट इच्छा, उसका जो परिणाम, वह "कर्म" कहलाता है. श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने भी "उपदेशसाहस्री" में इस सम्बन्ध की अनुभव-युक्त व्याख्या दी है. वह इस प्रकार कि,

---

यह सब घटनाएँ कालकृत हैं. सत्वगुण के उत्कर्ष का जो काल रहा करता है उस समय में देव सात्विक रहने के कारण ईश्वर उनका उत्कर्ष करता है. रजोगुण के उत्कर्ष-काल में दैत्यों का और तमोगुण के उत्कर्ष-काल में तामसिक राक्षसों का उत्कर्ष करता है. संक्षेपतः ईश्वर काल के अनुसार चला करता है.

—(श्रीमद्भागवत, सप्तम स्कन्ध, अध्याय १, श्लोक १, २, ३, ७, ८).

उनका कर्तृत्व जीव की तरह सहेतुक नहीं रहता, तो वे अहेतुक प्रयत्न-रहित, भोगेच्छा-रहित, नित्य तृप्त, पूर्ण होते हुए भी मुण्डकोपनिषद् में जैसा की कहा है :-

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ॥
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥७॥

–(मुण्डकोपनिषत् ॥ प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१)

पुरुष से केश, नख इत्यादिक काल-बल से उत्पन्न होते हैं अथवा पृथ्वी में से वनस्पतियाँ उपजती हैं, अथवा –

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ॥१॥

–(मुण्डकोपनिषत् ॥ द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः).

अग्नि में से चिङ्गारियाँ बाहिर निकल पड़ती हैं उस प्रकार काल-बल से मुक्त पुरुष अथवा ईश्वर इनका शरीर-भोग-व्यापार उत्पन्न होता है. इस रीति से देवादिकों के अवतारों की लीलाएँ अनेक प्रकार की दिखाई देती हैं.

२८ इसपर भी कोई सन्देह कर बैठेंगे कि, उपरोक्त –

" यथोर्णनाभिः " " यथा सुदीप्तात्पावकात् "

इत्यादि वाक्य परब्रह्म विषयक ही हैं, मुक्त विषयक नहीं हैं. मुक्त जन ब्रह्मरूप ही रहने के कारण ब्रह्म विषयक वाक्यों का अर्थ मुक्त विषयक करने में विरुद्ध ही क्या है? अधिकन्तु आरोप

करके अपवाद कहना यह तो वेदान्त की पद्धति ही है! इन सब सिद्धान्तों पर से यह स्पष्ट होता है कि, मुक्त पुरुषों ने कितने ही जन्म लिए हुए जान पड़े तो भी उनके दिव्य शरीर में अज्ञानांश कुछ भी नहीं रहता. कितने ही गर्भ में रहते समय ही ज्ञानी बन जाते हैं! उदाहरणार्थ–शुक, वामदेव, हस्तामलक प्रह्लाद (जो सर्वशः ऐसे ही मुक्त पुरुष कहलाते हैं.) तात्पर्य–यह सिद्धान्त है कि, चाहे जन्म मरण हो चाहे सृष्टि की घटना अथवा नष्टता इनका आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा करता.

२९ इससे भी अधिक श्रीमद्भगवद्गीता में के प्रकार अति उत्तम हैं. भगवान् कहते हैं :-

" मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

–(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ९, श्लोक ४)

(मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा से यह सब जगत् (जल से बर्फ के सदृश) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्प के आधार स्थित हैं (इसलिए वास्तव में) मैं उनमें स्थित नहीं हूँ)

" बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

–(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ४, श्लोकार्ध ५)

इत्यादि वचनों पर से "मैं चराचर का प्रेरक हूँ, अनन्त जन्म लेकर भी अजन्मा हूँ मैं पञ्चभूतों में रहता तो हूँ, परन्तु भूत-दोष मुझे छू नहीं सकता" यह सिद्धान्त पूर्णतः समझ में आए विना अखण्ड सहज मुक्ति प्राप्त नहीं होगी. साधु सन्त जिस रूप में ऐक्यत्व को पा लेते हैं, जो कुछ कि वे अपनाते हैं वही

सब जगत् का कारण है. वह सर्व-शक्तिमान् है. उस स्वरूप में और मुक्त-स्वरूप में कुछ भी भेद नहीं है यह सबको स्पष्ट ज्ञात हो जाय, विदेह-मुक्ति प्राप्त होना अथवा जड़ भाव रहित होना, जन्म रहित बन जाना यही मुक्ति की लक्षणाएँ हैं, इस प्रकार का भ्रम नष्ट हो जाय, आत्मा अखण्ड, पूर्ण मुक्त है यह ठीक ठीक समझ में आए, साधकों को कैसे ही शङ्का की वाधा न होने पाय इसलिए इतना विस्तार पूर्वक यह विषय कहा गया है.-

" अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

-(श्वेताश्वतरोपनिषत् ॥ तृतीयोऽध्यायः)

इस श्रुति का अर्थ भी यही है.

३० अब पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो विना एक सद्रूप के दूसरा कोई दृश्य जग है ही नहीं और इसलिए मुक्त पुरुषों का जन्म इत्यादि कल्पनाएँ ही झूँठी हैं, मुक्त कभी जन्म ले ही नहीं सकता, ऐसा जो कहना है वह हमको भी शिरसा वन्द्य है. यदि ऐसा है तो तुमने इस ग्रन्थ में विशेष क्या लिक्खा? यह प्रश्न कोई उठायेंगे, उसपर हमारा संक्षेपतः यह उत्तर है कि पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा का नित्यमुक्तत्व, जन्मराहित्य और स्वामित्व सब कुछ मान्य हुआ भी तो व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता के दृष्टि से वह सब अवस्थाओं में, सकल भोग काल में स्वतन्त्र, असंहत, एक, नित्यमुक्त है, यह सिद्धान्त बहुत थोड़े ही

जनों को अवगत और मान्य है, वह सभी को पूर्णतः ज्ञान हो जाय और व्यवहार सम्बन्ध में द्वेष न रहने पाय, उसी प्रकार जाग्रति और स्वप्न में भी सकल विषयों का प्रकाशक आत्मा ही है, विषयावगति अथवा अनुभव विना आत्म-प्रकाश के अंशतः (कुछ) भी सिद्ध नहीं होता यह सिद्धान्त इश-कृपा से पूर्णतः और निःसंशय रीति से हृदय में धँस जाय, व्यावहारिक समय में भी चिर शान्ति प्राप्त हो जाय और निःश्रेयसरूप परमानन्द का लाभ हो जाय इतने ही के लिए यह हमारा प्रयत्न है.

३१ इसपर भी कोई पाठक पूँछेंगे कि, सब जगत् नित्य-मुक्त ही है यदि यह तुम्हारा कहना हो तो उपरोक्त जन्म-मरण की मीमांसा ज्ञानी, मुक्त जनों के लिए ही है ऐसा भी तो क्यों मानें? उसी प्रकार यह सच है कि मुक्त ब्रह्म-रूप ही हैं और वह अनेक जन्म लेकर भी सुखदुःखातीत और अलिप्त रहते हैं, यह भी सही, परन्तु यह व्याख्या आपके मत से सबके ही लिए है, फिर इसमें आपने विशेष क्या कहा? यह सन्देह करने वालों को हमारा अति नम्रता पूर्वक विनय है कि आपने यह जो सन्देह उपस्थित किया यह शङ्का नहीं, किन्तु यही सकल वेदान्त का सिद्धान्त है, इतना यदि आप सब महाभागों के चित्त में स्पष्ट और निःसन्देह पूर्वक धँस जाय तो मानो कि ग्रन्थकर्ता को कृतार्थता प्राप्त हुई! ईश्वर सबको यह ज्ञान और साथ ही साथ ब्रह्मानन्द भी प्राप्त कर दे! यही प्रार्थना है.

३२ इस प्रकरण को "मुक्त पुरुषों का मायिक जन्म" यह जो नाम दिया है उसका यह उद्देश्य है कि, जीव बद्ध रहते हुए भी मुक्त ही है यह अर्थ सबके मन में जच जाय. इसपर सन्देह

होगा कि, जीव यदि मुक्त है तो मुक्त पुरुषों की लक्षणाएँ उनमें दिखाई देनी चाहिएँ. जिनको जन्म नहीं, जो विषयभोगरहित हैं वे मुक्त हैं.

" न स पुनरावर्तते "

–(छान्दोग्योपनिषत् ॥ अष्टमोऽध्याय: ॥ पञ्चदश:खण्ड:)

यह स्थिति प्राप्त होना, निर्वात दीप के प्रकार अखण्ड ब्रह्म-स्वरूप में निश्चल रहना यह मुक्तों का लक्षण है वैसा ही इसके अनुसृत जो वैराग्य, शान्ति, दया इत्यादि सात्विक गुणों से युक्त रह हुए और दुःखरहित जो हैं उन्हीं को मुक्त कहना चाहिए. यह मुक्त-स्थिति प्राप्त करने के लिए पञ्चीकरण का अभ्यास करना चाहिए ऐसे और और अनेक उपाय बतलाए जाते हैं. (और भी " न स पुनरावर्तते " इसका अर्थ ऐसा है कि, उपाधि की अपेक्षा ब्रह्म को बद्धता, मुक्तता है तब जिस उपाधिरूप अधिकारी के शरीर में निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता है, वह वासना भर्जित बीज की तरह पुनर्जन्म को कारण नहीं होती और बारंबार ज्ञान का अभ्यास जो करता है उसका अधिकार बढ़कर वह अशरीर मुक्त होता है. ऐसे पुरुष का लिङ्ग-शरीर भी फिर जन्म नहीं लेता. ऐसे उपपत्ति पर से मुक्त को जन्म नहीं ऐसा कहें तो वेदान्त में सब प्रकार के बोध आत्मा के ही उद्देश्य रहने के कारण और "ब्रह्म-रूप ही ब्रह्मवित् है, इसमें भेद नहीं " इस श्रुति पर से मुक्त यानी ब्रह्मरूप, वही जगत् का कारण है यह कहना भूल नहीं है. देखिए! जन्म चाहिए अथवा न चाहिए इसमें दोष अथवा गुण यह भेद जो हमको दिखाई देता है वह द्वैतमूलक रहने के कारण अनन्त विलासरूपी यह विश्व दीखने पर भी "अहमन्नम्" इस तरह ब्रह्म

को द्वैत का स्पर्श ही नहीं होता. तो भी समस्त जगत्-जन्म बतलाने का सामर्थ्य ब्रह्म में ही है. मुक्त और ब्रह्म यह दोनों एक ही हैं इस प्रकार के ज्ञान से प्रारब्ध शेष रहे तक मुझमें सत्य स्थिति नहीं सराहती ऐसा जो संशय साधक कर बैठता है वह समूल नष्ट होकर भी जन्मनाशयुक्त इस मायिक प्रवाह में भी अखण्ड मुक्त हूँ ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव उसके पल्ले पड़ने लगता है. अब विदेहमुक्ति की प्रशंसा भी कुछ झूँठी नहीं है. कारण, आत्म शब्द जैसा कर्मठ लोगों ने शरीर विषयक मान लिया है वैसा वासनात्मक जो शरीर उसमें व्यापक चैतन्य को घटाकाश की तरह जिसकी आकृति है उसको ही आत्मा मानने पर वह उपाधि नष्ट हुए तक "मुक्त" यह विशेषण उसे प्राप्त नहीं होता ऐसे दृष्टि से भी विदेहमुक्ति स्तुत्य ही है.) इस प्रकार के वाद करने वालों से हमारा यह कहना है कि, मुक्त यह विशेषण आत्मा को ही है. कारण, वह कैसे ही, किसी प्रकार के भोग में भी अलिप्त रहता है. जैसा समष्टि रूप ईश्वर से पञ्चमहाभूत और उनके अनेक विकार उत्पन्न होते हैं, वैसा व्यष्टिरूप जीव-शरीर में अनेक मानस-विकार उत्पन्न होते हैं. जिसका मन सर्वकाल भोग में रहता है अथवा चञ्चल रहता है उसको कभी "मुक्त" न कहना चाहिए ऐसी शङ्का सबको बाध करती है; परन्तु सभी मुक्त हैं तब तो यह शङ्का समूल नष्ट हो जाय इसी लिए "मुक्तों का मायिक जन्म" ऐसा इस प्रकरण को नाम दिया गया है. सचमुच पूँछो तो सिद्धान्त यह है कि, सकल विषय-व्यापार का भोक्ता, चालक आत्मा ही है, आत्मा को क्रिया से यजमानत्व प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु वह अपनी सत्ता से सर्वकाल सबका नियन्ता है. इसको दृष्टान्त:-सैन्य का शौर्य, हलचल, मारना, जीतना अथवा शत्रुसैन्य पर छापा मारना, धावा बोलना,

आक्रमण करना इत्यादि समस्त क्रियाएँ सेना की ओर से ही हुआ करती हैं. प्रत्यक्ष क्रिया का श्रम राजा को उठाना नहीं पड़ता; परन्तु एकासन पर स्थिर रहते हुए भी प्राप्त होने वाला जयापजय अथवा कीर्ति, अपकीर्ति आदिकों का स्वामित्व तो राजा की ओर ही रहा करता है. राजा स्वयम् स्थिर, अक्रिय रहते हुए भी उसके सामर्थ्य विना सैन्य कुछ भी नहीं कर सकता. उसी प्रकार सकल कर्मेन्द्रियें, उनकी क्रियाएँ, हलचल मन ही किया करता है, परन्तु स्वामित्व तो आत्मा ही की ओर है. सकल प्रत्यय, मानसिक विषय अथवा क्रियाजनक विषय और विकार उत्पन्न होना और मन को उनका भोग होना अथवा उस विषय का भोग हुआ ऐसा ज्ञान पड़ना किम्वा मुझको अमुक विषय का ज्ञान हुआ ऐसा अनुभव प्राप्त होना, यह सब आत्म-सामर्थ्य का, आत्म-प्रकाश का कार्य है. आत्मा सकल विषयों का आकर्षण करता है, अथवा आत्म-शक्ति के प्रभाव से वे (विषय) आप से आप आत्मा की ओर दौड़ आते हैं. उसी प्रकार यह मन भोग से श्रमित होकर आत्मा की ओर दौड़ लेता है. इस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं. यह सुषुप्ति बद्ध और मुक्तों की समसमान रहा करती है. निद्रा के सुख में मुक्तता का महत्त्व अथवा बद्धता का हीनत्व है ही नहीं. उसी प्रकार मुक्तों का जन्म पाना अथवा जन्म-रहित होना वेदान्त-दृष्टि से एक सा है. विद्यारण्यमुनि ने जैसा कि कहा है ' वाणी यद्यपि जप करे अथवा ब्रह्म में लीन हो जाय, मुक्त समाधि में रहे अथवा मूर्ख कहलाता हुआ किसी की सेवा करे, तथापि " मैं " आत्मा अलिप्त हूँ -यह आत्मशब्द चैतन्य-बोधक ही है, इस सम्बन्ध में जिसको शङ्का नहीं है वही धन्य है और उसको नित्यमुक्त कहना चाहिए."

योगरतो वा भोगरतो वा
संगरतो वा संगविहीनः ।
यस्य ब्रह्मणि रमते चित्तं
नन्दति नन्दति नन्दत्येव ॥[1]

-(मोहमुद्गर ॥ श्लोक १९)

३३ मुक्तों को जन्म है यह कहने का भावार्थ इतना ही है कि, मुक्ति का लक्षण जन्म-मरण से पृथक् है. जन्म न लेना यह मुक्तों का लक्षण है ऐसा यदि कहें तो भूतों की उत्पत्ति, विषय-प्रकाश, विषय-भोग यह भी मुक्त स्वरूप का ही महिमा है. मुक्त ब्रह्मरूप हैं यह ऊपर सिद्ध हुआ ही है. कोई कहेंगे कि, भागवत में जैसा कि लिखा है:-

"बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्[2] ॥१॥

-(श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध ॥ अध्याय ११).

बद्ध अथवा मुक्त यह विशेषण गुणमूलक है, आत्मा के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं; पर आप तो आत्मा को मुक्त कहते हैं यह कैसा? इस प्रश्न का यह उत्तर कि-यदि ऐसा कहा जाय तो

टिप्पणी-१ ज्ञानी पुरुष योग में मग्न रहे अथवा भोग में रत रहे, वह सङ्ग-रहित रहे अथवा किसीके सङ्ग में निमग्न रहा हुआ दीखे, यदि उसका चित्त परब्रह्म में रममाण हो गया हो तो वह पूर्ण आनन्द में ही रहता है.

टिप्पणी-२ हे उद्धव! त्रिगुणों के आधार पर कहा जाता है कि मैं बद्ध किम्वा मुक्त हूँ, वस्तुतः मुझे न बन्ध है न मोक्ष. गुण माया से उत्पन्न हुए हैं और मैं तो माया से परे हूँ!! इस कारण मुझे मोक्ष किम्वा बन्धन कुछ भी नहीं है.

" जीवो ब्रह्मैव केवलम् "

इसका अर्थ क्या? उसी प्रकार "तत्त्वमसि" यह महावाक्य आत्म-विषयक ही है कि नहीं?

एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य ॥ एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य ॥ एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य ॥ एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य ॥ एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य ॥

—(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ भृगुवल्ली ॥ दशमोऽनुवाकः)

इसमें हुआ भी तो आत्मा को अन्नमयादि कोषों से छुटकारा दिलाने का अर्थ है. कारण, जड़ में स्वार्थसिद्धि प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य नहीं है अर्थात् समस्त दृश्यविषय आत्मार्थ ही हैं. इसकी भूल न पड़े. सब कुछ करते हुए अलिप्त, अविनाशी एक आत्मा ही है इसलिए "मैं बद्ध हूँ" का सन्देह ऐसा मिट जाय कि, फिर वह कभी उठने न पाय. अनेक जन्म-मरणों के जितने प्रकार के प्रतिभास हैं वे सभी आत्मा के ही भास से भासमान होते हैं. इतना लिखने का कारण यह है कि "मैं" कहने का सामर्थ्य आत्म-शक्ति में ही है. आत्म-शब्द का मुख्यार्थ चैतन्य-वाचक है. आत्मा की नित्यमुक्तता यह कुछ ज्ञानाभ्यास का फल नहीं है, पर आत्मा नित्यमुक्त है इसकी पहिचान तो रहनी हि चाहिए.

२४ वेदान्त-शास्त्र-दृष्टि से इसमें यह रहस्य हैं कि, शारीरक भाष्य के कथनानुसार ब्रह्म "अभिन्ननिमित्तोपादान"-कारण होता है. यानी वह मायिक रूप का स्वीकार करके अपने केवल सामर्थ्य से जगत् का उपादान-कारण होता है. इसपर से स्पष्ट होता है कि, यह समस्त जगत् उत्पन्न करने की शक्ति निस्संशय

चैतन्य की ही शक्ति है और चैतन्य कहने का भी मुख्य रहस्य यही है कि, वह सर्वशक्तिमान् है. तथापि जो जो उत्पन्न हुआ सा दीखता है वह वह विवर्त-रूप से उत्पन्न हुआ रहता है. "विवर्त' किसे कहते हैं यह तो शास्त्र में प्रसिद्ध ही है! तथापि यहाँ थोड़े में कह देते हैं कि, जिस प्रकार पानी पर उत्पन्न होने वाले लहरियाँ, बुलबुले, भँवरे आदि आकृतियाँ यदि भिन्न भिन्न दिखाई दें तथापि वे सब पानी ही हैं, उसी तरह विवर्त-रूप से ब्रह्म के अन्यान्य आकृतियाँ दीखें भी तो सद्रूप में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता. मूल रूप एक रहते हुए वही पदार्थ भिन्न-रूप से दीखना ही दृष्टि का भ्रम है. एक ही सुवर्ण रहते हुए अलङ्कार-रूप से पृथक् पृथक् दीखता है, मिट्टी घटादिकों के आकार में दीख पड़ती है तो भी उसका मूल रूप नष्ट नहीं हुआ करता; उसके सत्य स्वरूप में विकार का लेश तक नहीं रहने पाता. इससे भी विशेष खुलासा यह है कि, अनेक रूपों में भी वस्तु एक ही है. केवल वह आकृति स्पष्ट होने पर ही उसको नाम प्राप्त होता है. पदार्थ का ज्ञान--उसकी आकृति इत्यादिकों का ज्ञान- इन्द्रियों को हुए विना नाम भी कैसा और क्या रक्खा जा सकेगा?

"संभाव्यो गोचरे शब्दः प्रत्ययो वा न चान्यथा।

-(उपदेशसाहस्री ॥ तत्त्वमसिप्रकरणम् ॥ श्लोकार्ध ॥२४॥)

नाम के लिए लिङ्ग-निर्देश, गुण, स्वभाव अवश्य ही चाहिए. अस्तु, जो अनन्त विकार दीखते हैं वह माया की शक्ति है और माया यानी और कुछ नहीं, किन्तु माया की सत्ता है! यह कभी न भूलना चाहिए. ब्रह्म यह सृष्टि का विवर्तोपादान अथवा निमित्त कोई भी कारण मानें तो भी कार्य का दोष कारण (ब्रह्म) पर नहीं आता. सारांश सृष्टिकाल में, सृष्टि के पूर्व अथवा सृष्टि के

अनन्तर कौनसा भी काल हो, उसी तरह सृष्टि का रूप, भास-रूप अथवा विवर्तरूप कैसा भी रहे उसके कारण ब्रह्म पर कोई दोष नहीं आने पाता, वह सदा सर्वकाल नित्य मुक्त ही रहता है और आत्मा यानी हम सर्व व्यापक, सर्वत्र, मुक्त और अलिप्त रहने के कारण हम सदासर्वदा जीवन्मुक्त हैं यह अच्छी प्रकार जचना चाहिए, इसी लिए बारंबार वही हम कहते जा रहे हैं. यह प्रकार पढ़ते समय पाठकों को ऐसा निश्चय हो जाना चाहिए कि, "मैं चैतन्य-रूप कीटपतङ्गादि प्राणी, देव, भूत, मनुष्य इत्यादिकों को व्यापक और उनका पूर्ण चालक हूँ, मेरी सत्ता से ही इन्द्रियों का व्यापार चलता रहता है, मेरी इच्छा न हो तो उनसे कुछ हो ही नहीं सकता. यहाँ इच्छा यानी वृत्ति का व्यापार नहीं समझना चाहिए. इस लिए कि निर्जीव जड़ इच्छा का अधिष्ठान नहीं हो सकता. इच्छा, ज्ञान, क्रिया इन शक्तियों का स्वामी चेतन ही है. इस लिए समस्त शब्दों का आरोप ब्रह्म विषयक ही समझना चाहिए. आब्रह्मस्तंबपर्यन्त वह चेतनात्मा पूर्ण रहते हुए, सतेज सकल क्रियाओं का कारण होकर सर्वकाल नित्यमुक्त है यह भावना, यह निश्चय जिसका है और जिसने अध्यात्म-शास्त्र को जीवन का चिरसङ्गी बनाया वही ज्ञानी है. वह आत्मा सकल आकार धारण करके अपना महिम महिमा आप ही प्रकट करता है. इसमें लिखने वाले, पढ़ने वाले सुनने वाले सब एक ही हैं, इनमें भिन्नता है ही नहीं यह त्रिवार सौगन्द और प्रतिज्ञा पूर्वक कह कर हमने जो विधान लिखा है वह सब आत्मा को ही अर्पण होते रहने के कारण हम अपने स्वानन्द में निमग्न होते हैं!

*** शुभं भवतु ***

तीसरा प्रकरण

जड़ाजड़-विभाग-विचार.

शिष्टाचार के अनुसार आरम्भ में मङ्गल योग्य ही है; परन्तु यह वेदान्त-विचार, प्रवृत्ति, शब्द, शङ्का, समाधान यह सब वेदान्त के मत से ब्रह्म-रूप ही हैं इसलिए पृथक् "मङ्गलाचरण" की आवश्यकता नहीं जान पड़ती.

२ तर्क-शास्त्र में जैसा द्रव्य, गुण, समवाय, अभाव यह पदार्थ अवश्य समझ लेने पड़ते हैं उस प्रकार वेदान्त में आत्मा, ब्रह्म, अविद्या, बिम्ब, आभास, भ्रम, प्रमाण अवगति ऐसें कितेक विषयों का ज्ञान कर लेना यद्यपि अवश्य है, तथापि इन सब विचारों में हम अनुभव पूर्वक लिखते हैं कि, "जड़ाजड़-विचार" यह सब में बड़ा ही महत्त्व का है. इस विचार को ही वेदान्त-परिभाषा में "दृक्-दृश्य-विवेक" कहते हैं. शारीरक भाष्य में कहा गया है कि अस्मत्प्रत्ययगोचर आत्मा यानी "चेतन"[1] है और युष्मत्प्रत्ययगोचर "जड़"[2] है. प्रमाण, प्रमेय यह सब विचार

टिप्पणी-१ "अहम्" शब्द का मूल रूप "अस्मत्" है. अस्मत्प्रत्यय="मैं ऐसा ज्ञान. उसका गोचर=विषय, यानी मनुष्य जिसको "मैं" ऐसा समझता है वह पदार्थ, अर्थात् आत्मा.

इस जड़ाजड़-विचार से ही अवगत होता है. इसमें अजड़ यानी चैतन्य का ज्ञान कर लेना मुख्य है और वह ज्ञान प्राप्त होने के लिए जड़ की व्याख्या कहने की आवश्यकता है.

३ वेदान्त में मुख्य विषय यह हैं कि, (१) चेतन स्वतन्त्र है. अपने सत्ताप्रदानरूप शक्ति से आत्मा ही सब कुछ चलाया करता है. (२) चेतन स्वार्थ है. जड़ में स्वतः भोगने की अथवा अन्य को भोग प्राप्त कर देने की शक्ति है ही नहीं; इसी कारण जड़ को "परार्थ" कहते हैं, वह दूसरे के लिए और अन्य का आश्रय किये रहता है. तात्पर्य, चेतन ही जड़ का उपयोग कर लेता है. जैसा कि – चन्दन की लकड़ी, शमी के काँटे यह दोनों परस्पर कितने ही काल तक एक स्थल में रहें तो भी सुखदुःख-भोग

टिप्पणी–२ "त्वं" का मूल रूप "युष्मत्" है. "तू" ऐसा जिसको मनुष्य समझता है वह विषय, यानी अपने से भिन्न रहा हुआ सब, अर्थात् समस्त जड़ वर्ग.

प्रश्न :–अपने से भिन्न वस्तु को "इदं" यानी "यह" अथवा तत्=वह कहते हैं. "तू" यह शब्द आगे उपस्थित रहा हुआ, जिससे हम बात कर रहे हैं उसके साथ लगाया जाता है. तो यहाँ सकल अनात्म वर्ग के साथ "युष्मत्" शब्द कैसा जोड़ा गया?

उत्तर :–आत्मा और अनात्मा इनका अन्योन्याध्यास होता है ऐसा जो वेदान्त-मत उस विषय में यह आक्षेप किया गया है. उनमें "युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः" ऐसे वाक्य हैं. यदि अध्यास कहा जाय तो वह परस्पर सादृश्य पदार्थों का ही हुआ करता है. आत्मा और अनात्मा यह तो परस्पर अत्यन्त विसदृश हैं, यह बतलाने के लिए अनात्मा के अर्थ से "युष्मत्" शब्द की योजना की गई है. "मैं" के साथ "तू" यह शब्द जितना उलटा जान पड़ता है उतना "यह" अथवा "वह" नहीं भासता.

देने. लेने के सम्बन्ध में उनको स्वतन्त्रता नहीं है. चन्दन काँटों पर उपकार नहीं कर सकता और कन्टक चन्दन का सुख प्राप्त नहीं कर सकते. अर्थात् काँटों से होने वाले दुःख का और चन्दन से प्राप्त होने वाले सुख का अनुभव लेने वाला चेतन ही है. तात्पर्य, जड किसीपर उपकार अथवा अपकार करने में स्वतन्त्र और शक्त नहीं है. उसी प्रकार चेतन की सहायता किम्वा कुछ सेवा करने की भी उसमें शक्ति नहीं.

४ यहाँपर सन्देह होता है कि, यदि चेतन स्वार्थ है और ऊपर लिखे प्रकार सर्व भोग चेतन को ही होते रहते हैं तो फिर यह निश्चय पूर्वक स्पष्ट है कि, क्षण क्षण में राग द्वेषादिकों का विकार और उनकी बाधा चेतन को होती रहेगी, परन्तु यूँ देखें तो सारे भोगों पर चैतन्य का ही स्वामित्व रहते हुए भी वह अलिप्त कहलाता है यह कैसा?

५ इसका रहस्य यह है कि, सृष्टि में जो जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें परस्पर के साथ विरोध रहता है; परन्तु उसका सम्बन्ध चैतन्य के साथ नहीं रहता. जैसे :- अन्धियारा, उजियाला सुख-दुःख, भला, बुरा, जीना-मरना इत्यादि विरोध अधिष्ठानरूप चेतन में है ही नहीं, परन्तु इन सबको भासमान करने वाला केवल एक चेतन ही चेतन है. यहाँ हमको यह दिखलाना है कि, जड़रूप मानस-वृत्ति के द्वारा होने वाले भोग से चेतन को विकार नहीं होता. इसमें मुख्य अनुभव यह है कि काम-क्रोध इत्यादिकों की उत्पत्ति मानस-शक्ति से ही होती है. यानी यह सब मनोविकार हैं. अनन्त रूपों में स्वांग भरते रहना मन के लिए तो एक स्वाभाविकी बात है-इतना ही नहीं, किन्तु

स्वप्न में वह मन अनन्त आकृतियों से जो नित्य ही दिखाई देता रहता है वह उसके नट-पटुत्व का प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसपर से मन को ही माया कहना योग्य है. जिस समय मानस-शक्ति से सुखाकृति अथवा दुःखाकृति उत्पन्न होती है उस समय में उसको भी क्रम की आवश्यकता है ही है. यानी पूर्व पदार्थ का स्मरण होता है, उसके अनन्तर सङ्कल्प, अध्यास, इच्छादिकों के सङ्ग में मानस-वृत्ति की विषयाकार आकृति बनती है. इस विषयाकृति में अवगातिरूप चैतन्य का ही प्रकाश होता है और उससे ही विषय-ज्ञान हुआ करता है. इस स्थान में भी जो अवगति (चैतन्य-ज्योति) वह अक्रिय, अलिप्त, कूटस्थरूप ही रहती है यह आगे हम सविस्तर कहेंगे. प्रत्यक्ष का जो व्यावहारिक क्रम हमने यहाँ बतलाया है इसके विरुद्ध कोई कोई कहते हैं कि, इस क्रम की आवश्यकता प्रातिभासिक में नहीं है. दृष्टान्त:- स्वप्न में मैं रथ, घोड़े, मनुष्यों के सहायता से, कुछ दिनों तक क्रम से मार्ग चल कर श्री काशी-क्षेत्र में गया ऐसा ही भास होता है और व्यावहारिक-क्रम का भास न होते हुए "मैं इस समय काशी में ही हूँ" ऐसा ही भास हुआ करता है. इस प्रकार के भास में मार्ग चलने का क्रम रहता ही नहीं, परन्तु इसपर से प्रातिभासिक व्यवहार में क्रम नहीं रहता ऐसा इसका अर्थ नहीं है. तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि, जो कुछ मानसिक व्यापार हुआ करता है वह क्रम को छोड़े नहीं बनने पाता. सकल सृष्टि अथवा सृष्टि में दिखाई देने वाले जो जो पदार्थ यानी जिनको अस्ति, जायते, वर्धते, नश्यति इत्यादि षड्विकार लागू हैं उनको क्रम की आवश्यकता है ही है. यह सकल सृष्टि क्रिया-मूलक है. जहाँ कहीं क्रिया हो वहाँ वहाँ क्रम रहना ही चाहिए. इतना विस्तार

पूर्वक कहने का हेतु यह है कि, जहाँ जहाँ क्रम की अपेक्षा है वहाँ वहाँ जो जो व्यापार उत्पन्न होता है उसका क्रम कैसा है यह भली भाँति समझ लेना चाहिए.

६ जिस जिस क्रम से सुखदुःख-रूप प्रत्यय उत्पन्न होते हैं उस क्रम से ही वे उलटा आत्म-चैतन्य में ही लीन होते रहते हैं. जैसा :- केवल स्वयम् तेल का जलता रहना प्रकाश का सहायक नहीं होता, किन्तु पाहिले जब उसका ग्यास बनता है तब कहीं वह तेल प्रकाश देने योग्य होता है. इसमें प्रकाश के साथ तेल का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं आता, किन्तु बाष्प (ग्यास) का विशेष सम्बन्ध रहता है. उसी प्रकार जितनी कुछ मनोविलपाकृतियाँ अविद्या से उत्पन्न हुआ करती हैं, सुख-दुःखाकार विषय भासते हैं वे उसी रूप से आत्मा में सम्मिलित नहीं होते, किन्तु केवल वृत्ति रूप सङ्कल्प मात्र स्फुरण-रूप में लीन होते हैं. यह आगे हम विशेष विस्तार पूर्वक कहने ही वाले हैं, तथापि यहाँ उसका थोड़ा सा खुलासा इस प्रकार कर रखते हैं कि, अन्तःकरण (मन) यह व्यापक रूप से ब्रह्माण्ड में भरा हुआ है और उसमें आत्मा ही व्यापक है इसको "सामान्य चैतन्य" कहते हैं, परन्तु विशेष चैतन्य प्रकाशित होने के लिए विषयाकृति की आवश्यकता है. जिस प्रकार कि, केवल मिट्टी स्त्री-रूप से बाधक नहीं है किन्तु यदि उस मृत्तिका से ललनाकृति बनाई जाय तब ही वह मनोविकार उत्पन्न कर सकती है, उस तरह केवल अन्तःकरण वासना-विकार उत्पन्न नहीं करता, किन्तु अन्तःकरण से जो आकृति बनती है वह ही बाधक होती है, परन्तु वह आकृति अधिष्ठान-चैतन्य में लीन होते समय नहीं रहती, किन्तु पिघल

जाती है. चैतन्य तो सर्वभक्षक, सर्वभोक्ता है. जैसा आत्मा विषयों का प्रकाशक है वैसा ही वह सर्वाकर्षक, सर्वभोक्ता और स्वार्थ है.' जिस तरह कि अग्नि सब कुछ भक्षण करके भी सुगन्ध, दुर्गन्धादि भावनाओं से अलिप्त है वैसा ही आत्मा अलिप्त रहता है. समस्त अवस्थाओं में सत्, चित्, आनन्द यह पूर्णतः भासते हैं. वृत्तियों का सब व्यवहार इसी में समाया जाता है, परन्तु आत्मा विकारवश नहीं होता. किसी वृत्ति की उत्पत्ति, लय और संहार इसको मूलभूत सच्चिदानन्द-रूप ही है आत्मा अलिप्त कैसा रहता है उसके सम्बन्ध में दृष्टान्त :- कोई वृत्ति, चाहे वह राजसात्मक हो अथवा तामसात्मक हो सुषुप्ति-काल में ब्रह्म की ओर दौड़ती है. यह ब्रह्म की आकर्षण-शक्ति स्वाभाविकी है. उपाधि-भेद से इस चैतन्य को ही अनन्त नाम प्राप्त हुए हैं. जैसा -कूटस्थ, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, संवित्, आनन्द, सत्ता, सुख, अस्ति, भाति, प्रिय, अवगति, अनुभवरूप, स्वार्थ, स्वतन्त्र इत्यादिक नाम हमको (आत्मा को) ही प्राप्त हुए हैं. हमें जो दिखाई देता है उसके भी जड़, दृश्य, आभास, कल्पित, माया,

---

टिप्पणी:-१ ग्रन्थकारों ने आत्मा को "स्वार्थ" यह विशेषण जो बहुत जगह दिया है. उसकी स्थिति जड़ के विरुद्ध है यह बतलाने के लिए है. जड़ वस्तु परार्थ रहती है, यानी उसके स्वरूप का स्वयम् उसको कोई उपयोग नहीं होता. जैसा कि चन्दन का सुगन्ध स्वयम् उसके उपयोगी नहीं, किन्तु मनुष्यादि चेतनों को ही उसका उपयोग और उपभोग होता है. चेतन जो आत्मा वह इस प्रकार का पदार्थ नहीं, किन्तु स्वार्थ यानी स्वयम् के लिए ही है, अचेतन के लिए नहीं.

भ्रम, अध्यास, अविद्यादि नाम हैं. अविद्या के भी भेद, तमस् तामिस्र, अन्धतामिस्र, मोह, महामोह, इत्यादि नाम हैं. माया और अविद्या में जो भेद माना गया है वह साधकों को सुलभता से बोध होनेके लिए ही है, वस्तुतः माया, विकल्प, अविद्या, जड़ यह सब एक के ही नाम हैं.

७ पूर्व जो व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता-भेद कह आये हैं उसका उपयोग यह है कि, पारमार्थिक दृष्टि से जड़ न कभी हुआ और न कभी होगा. इसीको "अजातवाद" कहते हैं. सब में अस्ति, सद्रूप, एक, अखण्ड, पूर्ण अक्रिय है. ब्रह्म को एक ही पारमार्थिक सत्ता-रूप देखना और व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक को सत्य नहीं मानना यह अजातवादी लोगों का सिद्धान्त यानी सकल वेदान्त का रहस्य[1] है. अथापि व्यावहारिक सत्ता क्या है, यह विधान पूर्णतः समझे बिना ऐसा नहीं कहा जा सकता कि, "वेदान्त समझ में आया" कारण विधि, निषेध, वाच्य, लक्षणा, अन्वय-मुख से अथवा निषेध-मुख से कहना किम्वा कोई एक शब्द -अनुभव- कहना इनमें से कौनसी भी प्रवृत्ति बिना व्यावहारिक सत्ता के होने नहीं पाती.

टिप्पणीः—१ पञ्चदशी के "अद्वैतानन्द" में योगवासिष्ठ के श्लोक दिये गये हैं. उनमें कहा है कि, किसी एक दाई (चकरानी) ने बालकों को ऐसी एक कहानी सुनाई कि :— एक नगर में तीन राजपुत्र हैं, परन्तु उनमें से दो ऐसे हैं जिन्हों ने अभी जन्म नहीं पाया और एक तो माता के गर्भ में ही नहीं आया. वह तीनों एक समय अविद्यामान नाम के नगर में से जब जा रहे थे तब उन्हों ने आकाश में वृक्षों को देखा. हे पुत्र! ऐसे वे मृगयाविहार करने वाले तीनों राजपुत्र उस भविष्यत् नगर में आज बड़े ही सुख से अपनी जीवनी

" संभाव्यो गोचरे शब्दः प्रत्ययो वा न चान्यथा।
न संभाव्यौ तदात्मत्वात् अहंकर्तुस्तथैवच ॥२४॥
(उपदेशसाहस्री. तत्त्वमसिप्रकरण).

इसमें स्पष्ट कहा है कि, शब्दमात्र बड़े प्रयास से आत्म-स्वरूप का सिद्धान्त करने के विषय में प्रवृत्त होते हैं. परन्तु हतवीर्य होकर वापस लौटते हैं. यानी मन की ओर से आत्मा के आकृति की कल्पना नहीं की जा सकती. और जाति-गुण आत्म-स्वरूप में न रहने के कारण वह वाणी को गम्य नहीं होता. यह अनुभव यदि सत्य है, तो फिर वेद ने कैसा प्रतिपादन किया? "वामदेव" जी ने अनुभव कैसा प्रकट किया? किम्बहुना सब साधु, सन्त, ज्ञानी कहते हैं कि हम एक, अद्वितीय, असङ्ग, पूर्ण ब्रह्मरूप हैं. "अहं ब्रह्मास्मि" "ब्रह्मैव पश्चाद्ब्रह्मैव पुरस्तात्" यह अनुभव भी

विता रहे हैं" उन बालकों को वह सब सत्य ही जान पड़ा! उसी प्रकार अविचारी पुरुषों को यह संसार-रचना सत्य मालूम पड़ती है. कहीं कहीं शङ्कराचार्य जी ने जग यह "विकल्परूपमृतम्" ऐसा कहा है, उसका भी यही अर्थ है. "विकल्प" यह योग सूत्र में आया हुआ एक पारिभाषिक शब्द है, उसका अर्थ :- "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" केवल शब्द पर से जो कुछ का कुछ मन की कल्पना होती है, परन्तु उस कल्पना में वास्तविक तत्त्व कुछ भी नहीं रहता उसको विकल्प कहते हैं. जैसा :- "राहोः शिरः" राहू का सिर (मस्तक). इस वाक्य में राहू अवयवी और सिर उसका अवयव ऐसा अर्थ है, पर वस्तुतः सिर (मस्तक) ही राहू है, उसको छोड़ राहू का कोई स्वरूप ही नहीं. अर्थात् सिर यही यदि "राहू" है, तो "राहू का सिर" इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता. इस लिए "राहोः शिरः" इस वाक्य में अवयव और अवयवी ऐसा जो अर्थ भासता है वह "विकल्परूप" है.

कैसा कहा जाता है? उसी प्रकार जड़, जीव, लोह, काष्ठ सब ब्रह्मरूप ही हैं, यह भी तो अनुभव कैसा प्रकट होता है?

८ इसमें रहस्य यह है कि, जड़-भावना जैसी जैसी बढ़ेगी उस प्रमाण से उसका निरास भी कहना पड़ेगा. उदाहरणार्थ :- कल्पित भ्रम की निवृत्ति शब्द से ही होती है व्यवहारदृष्टि से जो पदार्थ "अस्ति, जायते" की तरह विकार को प्राप्त होते हैं उनको जायते का अन्तिम यानी "विनश्यति" ऐसा ही कहना पड़ेगा. और व्यावहारिक सत्ता में जो पदार्थ दिखाई देते हैं उनको "वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति" इन भावनाओं को भी व्यवहार-काल की अपेक्षा है. जैसा कि -आज कोई पैदा हुआ, उसकी बाल्यावस्था पूर्ण होकर तारुण्यावस्था दिखाई देने को व्यवहार में काल की जिस प्रकार गणना होती है उसके अनुसार बारह अथवा सोलह वर्ष गिनने पड़ेंगे. देखिए! प्रातिभासिक पदार्थ को -उदाहरणार्थ, किसी गारुडी ने मन्त्रौषधि-सामर्थ्य से आम का वृक्ष लगाया, उसको फल लाने में कोई अवधि नहीं लगती. दस, पाँच क्षणों में पके हुए आम्र-फल दीख पड़ते हैं और वह उतने ही काल में नष्ट भी हो जाते हैं. सारांश यह कि, प्रातिभासिक व्यवहार अज्ञान निवृत्ति होते ही नष्ट हो जाता है. व्यावहारिक पदार्थ मात्र योग्य काल आने पर ही नष्ट होते हैं. इसका कारण यह कहा जाता है कि, ज्ञान के "मूलाज्ञान और तूलाज्ञान", ऐसे दो प्रकार हैं; उनमें से तूलाज्ञान-निवृत्त होने पर प्रातिभासिक सत्ता नष्ट होती है और मूलाज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर व्यावहारिक दृश्य नष्ट हो जाता है. यहाँ यह विचार केवल इसलिए कहना पड़ा कि, यद्यपि चेतन एक, अखण्ड, पूर्ण, सर्वकाल

शाश्वत है, तथापि यह जड़ का भास भी चैतन्यमूलक ही रहने के कारण, जड़ क्या और अजड़ क्या है इसका विचार करना आवश्यक है.

९ ऊपर जो जड़ के नाम कहे गये उसी प्रकार "दृश्य" यह भी जड़ का ही एक नाम है. देखने वाले का दोष जो विषय-रूप से सामने दिखाई देता है वह "दृश्य" कहलाता है. यह विधान विद्यारण्य मुनि ने अपने "दृग्दृश्यविवेक" नामक ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक स्पष्टतया कहा है. साधक जन इसके आगे व्यावहारिक सत्ता का वर्णन ध्यान में रखें कि, आत्म-रूप चेतन है.

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"

(तैत्तिरीयोपनिषत् ॥ भृगुवल्लि ॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥)

इस प्रकार चेतन का मुख्य लक्षण यानी अनेक प्रतिभास उत्पन्न करना, कुछ का कुछ बतलाना, माया का स्वीकार कर

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" ॥१०॥

(कठोपनिषत् ॥ द्वितीयेऽध्याये पञ्चमी वल्ली ॥)

की तरह अनन्त रूप दीखना, भासना यह सब चैतन्य की ही सत्ता समझनी चाहिए. समस्त सृष्टि में यह जग पाँच अंशों से भासता है. वह अंश -

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम् ॥

इसमें जड़ांश यानी नाम रूप यह हैं. इसी लिए नाम और रूप की कल्पना की जाती है. नाम-रूप रहित जो आत्म-तत्त्व

वह स्वयम् बोध रूप, सकृद्विभात और अविच्छिन्न, स्वतः अखण्ड सत्तास्फूर्ति रूप और स्वयंप्रकाश रहने से प्रमाणप्रमेय-व्यवहारानपेक्ष और स्वतः सिद्ध है[1] इसपर जो कल्पित पञ्च महाभूत भासते हैं वे जड़संज्ञक हैं. कारण जिनकी उत्पत्ति-स्थिति का अनुभव होता है वह जड़ रहने ही चाहिएँ. जो पदार्थ स्वतः सिद्ध है वह किसी प्रमाण से गोचर नहीं होता और न होने का

टिप्पणीः-१ प्रत्यक्षादि ज्ञानसाधन को "प्रमाण" कहते हैं. प्रमाण से जो पदार्थ जाना जाय वह "प्रमेय" कहलाता है. जैसाः- प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला घट, पर्वत पर धुआँ देखकर अनुमान से अग्नि का जानना इत्यादि. पदार्थ जानते समय प्रमाण और प्रमेय का व्यवहार उत्पन्न होता है, परन्तु वह व्यवहार आत्मा को जानते समय नही रहता. कारण, आत्मा प्रमाण विना ही भासता है. कोई क्षण ऐसा नहीं रहता कि जिसमें अपना ज्ञान न रहता हो. प्रथम स्वयम् को जानकर ही मनुष्य वाह्य पदार्थों को जानता है, इसलिए वह द्रष्टा ही है, दृश्य नहीं. यही कारण है कि, उसको अदृश्य, अप्रमेय कहते हैं. जैसा :- सूर्य निज प्रकाश से सबको प्रकाशित करता है, समस्त जगत् सूर्य को प्रकाश्य है, प्रत्युत वह प्रकाश्य नहीं है यानी किसी अन्य के तेजसे वह प्रकाशित नहीं होता.

प्रश्नः-जब कि आत्मा अप्रमेय, अदृश्य है तो उसका ज्ञान कैसा हो ?

उत्तरः-केवल अदृश्य शब्द पर से ऐसा आक्षेप कर बैठना व्यर्थ है. पर्वत के दरि कन्दरा मे जहाँ तक सूर्य-प्रकाश नहीं पहुँचता और दीपक का टिकाव भी जहाँ शक्य नहीं ऐसी जगह पड़े हुए पदार्थ "अप्रकाश्य" कहलाते हैं और सूर्य भी अप्रकाश्य है, परन्तु गिरिकन्दरा में पड़े हुए पदार्थों के समान वह अप्रकाश्य नहीं, फिन्तु वाह्य प्रकाश से प्रकाशित होने वाला नहीं इतना ही उसका अर्थ है. आत्मा को अदृश्य कहते हैं, उसका भी अर्थ ऐसा ही है. बुद्धिवृत्ति के

कोई कारण है. इसलिए कि, विषय वह है जो पहले नहीं रहा करता और इच्छादिक-प्रयत्न से " कर्तुरीप्सिततमं कर्म " इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवहित, आच्छादित होकर आत्म-प्रकाश से भासता है. तो फिर जो प्रकाशक आत्मा वह स्वतः सिद्ध रहना ही चाहिए. ज्ञानाभ्यास से अथवा प्रमाण से जिस पदार्थ की सिद्धि अथवा निवृत्ति होती है उसको "कल्पित" कहते हैं और जो परिपूर्ण व्यापक है उसे "परमात्मा" कहते हैं. इस जड़ाजड़-विचार में और एक बड़ा लाभ है, वह इस प्रकार का कि, आत्मा की स्वतन्त्रता से सकल भोग आत्मा को ही होते हैं. पर, आत्मा असङ्ग, निर्लेप रहता है. कैसी भी अवस्था में आत्मा पूर्णतः व्यापक रहने के कारण भोग हुआ करते हैं. सब भोग-समय में पहले विषय का स्फुरण होता है और फिर मन तदाकृति बन जाता है.

आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इंद्रियेण, इंद्रियमर्थेन ततो ज्ञानम्॥

-(मुक्तावल्याम्)

सकल कर्मेंद्रिय-जनित जो व्यवहार हुआ करता है प्रथमतः उसका ज्ञान होता है. जैसा कि, शरीर पर कोई आघात हो

उपाधि से युक्त होकर आत्म-चैतन्य बाह्य पदार्थों को भासमान कराता है. बाह्य पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भासते हैं, इसी लिए हम समझ बैठते हैं कि "वे हैं." उनका अस्तित्व सिद्ध होने के लिए ज्यों प्रमाण की आवश्यकता रहती है त्यों हम हैं या नहीं यह समझने के लिए प्रमाण का प्रयोजन नहीं पड़ता और अपने सम्बन्ध में "मैं हूँ कि नहीं" इस प्रकार का सन्देह भी उत्पन्न नहीं होने पाता इसलिए आत्मा को "स्वतःसिद्ध" कहते हैं.

जाय तो मनुष्य कहता है कि "मुझे ज़ख्म[1] हुआ." परन्तु कहना तो यह चाहिए कि "मुझ को ज़ख्म का ज्ञान हुआ" और यही योग्य है. कारण, "मुझे ज़ख्म हुआ" यह कहना अनुभव के विरुद्ध ठहरता है. कोई बात अच्छी तरह जचे विना ऐसा नहीं कहा जाता कि "उसका अनुभव हुआ" नींद में शस्त्राघात हुआ भी तो उसका ज्ञान हुए विना अनुभव नहीं आता. इसका खुलासा यूँ है कि, किसी विषय में मनोव्यापार हुए विना अनुभव नहीं आता. कोई ऐसा भी कहते हैं कि, जब पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध हो जाय तब ही उसका ज्ञान होता है.

"इंद्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्"

—(तर्कसंग्रह.)

परन्तु यह ठीक नहीं. इसलिए कि, अपञ्चीकृत[2] जो आकाश-तत्त्व उसी को "अन्तःकरण" कहते हैं वह पूर्ण व्यापक है और क्रम भी ऐसा है कि:—

टिप्पणी—१ ज़ख्म शरीर को होता है, आत्मा उससे पृथक् है यह बात चार्वाक के अतिरिक्त सबको मान्य है. अर्थात् "मैं" का अर्थ शरीर नहीं, इस-लिए शरीर को ज़ख्म होनेपर वह ज़ख्म "मुझे हुआ" ऐसा कहना योग्य नहीं. अपर "ज़ख्म का ज्ञान होता है इसलिए "ज़ख्म हुआ" ऐसा हम कहते हैं. काँच के टुकड़े की धार लगने पर थोड़ी सी चोट आ गई हो तो कुछ देर तक वह ध्यान में भी नहीं आती कुछ क्षण बीतने पर ख़याल आता है, तब ही मनुष्य कहता है कि "मुझे चोट आई"

टिप्पणीः—२ अपञ्चीकृत पञ्च भूतों के सत्वांश से अन्तःकरण बनता है. "सत्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम् ॥ श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राण्याख्य-मुपजायते ॥ १९ ॥ तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा ॥ मनो विमर्शरूपं

" आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इंद्रियेण, इंद्रियमर्थेन "
-(मुक्तावल्याम्)

अर्थात किसी विषय-व्यवहार में मानसिक वृत्तिजन्य अनुभव आए विना कोई भी यह मान्य नहीं करता कि, मुझको विषय-भोग हुआ." यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि, "अनुभव" यह आत्मा का स्वभाव है. वास्तविक मन भी जड़ है तब विना चेतन के भोग कैसा होगा ? यह सच है, तथापि मन विषयाकार होता है और मन में आत्मस्फुरण विशेषतः होता है! यह बड़ा ही सूक्ष्म विचार है जो आगे चल कर हम कहने ही वाले हैं. फिर भी यहाँ पाठक-वृन्द यह समझ लें कि, व्यावहारिक और प्रातिभासिक व्यापार में आत्मा पञ्च कोशों से आवृत रहने के कारण ऐसी विपरीत भावना हो जाती है कि "यह भोग मुझको होता है" यहाँपर यह विधान ध्यान में रखना चाहिए कि, आत्मरूप, चैतन्यरूप स्वार्थ, स्वतन्त्र और सामर्थ्यवान् रहने के

एयाद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥ २० ॥"

(पञ्चदशी तत्त्वविवेक.)

यह व्यापक है ऐसा कहते हैं, उसका अर्थ यह नहीं कि – वह आकाश की तरह सर्वत्र है. तर्क-शास्त्र में कहा गया है कि "अन्तःकरण अनुरूप है," और वेदान्त का भी अभिप्राय वही है. "ब्रह्मसूत्र" अध्याय २, पाद ३, सूत्र २९, इसके भाष्य में यह विषय आया है. "अन्तःकरण व्यापक" का अर्थ इतना ही है कि, वह समस्त विषयों को व्यापता है, उसकी गति अमर्याद है. योगादि साधनों के द्वारा दोष दूर होने पर उसकी गति स्वभावतः ही अव्याहत है.

कारण आत्मा ही सर्वोकर्षक है. विषयभोग यानी प्रमाण, प्रमेय, व्यापार-क्रिया बुद्धि पर ही हुआ करती हैं, परन्तु समस्त घटनाएँ आत्म-सत्ता से ही घटती रहने के कारण सैन्य ने प्राप्त की हुई जीत अथवा हार, कीर्ति अथवा अपकीर्ति का सम्बन्ध राजा के साथ रहा करता है, सेना मरती है, राजा नहीं मरता। सैन्य हलचल मचाती हैं अथापि राज-सत्ता के बल पर सब घटनाएँ घटती रहने के कारण "राजा से ही यह हलचल हुई, राजा ने ही सबकुछ किया" ऐसा ही इतर जन साफ़ साफ़ कहते हैं; उस प्रकार विपरीत भावना (कल्पना) का दोष, अल्पता अथवा उत्तम कल्पना की विभुता का धर्म वृत्ति को ही है. आत्मा को तो इसका किञ्चिन्मात्र भी स्पर्श तक नहीं. अर्थात् विपरीत कल्पना, भ्रम बुद्धि को ही हुआ करती है. बुद्धि में दोष उत्पन्न होने पर रज्जु रहते हुए सर्प दीख पड़ता है. तथापि भ्रमात्मक दिखाई देना भी तो आत्म-तेज का ही सामर्थ्य है! उस पक्ष में यह कहना योग्य है कि, जड़ को अस्तित्व न रहने के कारण क्रिया का कर्तृत्व आत्मा की ओर ही आता है. उसी तरह "विपरीत भावना भी आत्मा को ही होती है" ऐसा यहाँ विधान किया है; परन्तु वह सकल विकल्पों में असंहत और अलिप्त हैं विपरीत विधान का दोष बुद्धि कृत है.

१० वास्तविक देखा जाय, तो विना मनोव्यापार के विषय का ज्ञान नहीं होता. उस व्यापार का भी जो प्रेरक, प्रकाशक आत्मा उसपर स्थूल भोग की क्रिया होती ही नहीं. आकाश पर काष्ठ, पाषाण फेकने अथवा कोई हथियार चलाने पर उसका कुछ नहीं बिगड़ता. देखिए कि, यदि सुख-दुःख के जानने वाले, पहिचानने वाले हम ही हैं, मनोविकल्प भी हम ही जानते हैं,

तब आकाशरूप जो मन[1] उससे भी अधिक अपना रूप सूक्ष्म, व्यापक और स्वप्रकाश है यह मान्य करना ही पड़ेगा. विरुद्ध-पक्ष में जड़ पाषाणादिकों में मानोविकल्प जानने की योग्यता ही नहीं है. पाषाण का आघात पाषाण पर ही होगा, न कि चैतन्य पर! यह स्पष्ट है. ऐसा रहने पर भी अपने शरीर को बाहर से यदि कोई चोट लगे तो "अपनेको ही चोट आयी" यह समझ यद्यपि भूल है, तथापि जैसा कि राज-सत्ता के द्वारा होने वाले व्यवहार का सम्बन्ध राजा के साथ लागू होता है. यदि सेना ने पर-राष्ट्र जीत लिया तो भी जय-कीर्ति का विभागी राजा ही हुआ करता है. इसी को "सत्ता-सम्बन्ध" कहते हैं. यह लिखने का तात्पर्य यह है, कि, अज्ञान द्वारा जड़ का रूप उत्पन्न होता है. जड़ पदार्थ में विशेषता, न्यूनता अज्ञान पर अवलम्बित रहती है. यदि सारा अज्ञान नष्ट हो जायगा[2] तो विना चैतन्य के किसी एक का भी भास न होगा. यहाँ इस विषय का बड़ा ही विस्तार करना आवश्यक है. कारण वेदान्त में "जडाजड़-विचार" ही मुख्य माना गया है, और जड़ाभास विषयक जो विचार उसको

टिप्पणी:-१ निरवयव और अत्यन्त सूक्ष्म इस कारण से मन को आकाश-रूप कहा है.

टिप्पणी:-२ महाभारत टीका के मोक्षधर्म-प्रकरण में पण्डित नीलकण्ठ जी ने प्रसङ्ग के अनुरोध से कहा हैं कि, ईश्वर के अत्यन्त चिन्तन से अन्तःकरण जब शुद्ध हो जाता है तब धातु और पाषाण के मूर्ति भी चैतन्यरूप भासने लग जाते हैं और आगे चल कर तो सकल विश्व ही चैतन्य मय दीखता है. ब्रह्म-सूत्र अ. २, सूत्र ४ के भाष्य में ऐसा भी एक मत बतलाया गया है कि, चेतन से हो समस्त जगत् उत्पन्न होने के कारण से चेतन ही है, परन्तु जिनका चैतन्य नहीं भासता उनको अचेतन समझते हैं.

भ्रम, अध्यास, ख्याति-वाद कहते हैं. इन सब बातों का विचार करना पड़ता है. संक्षेपतः यदि कहें तो बिना प्रकाश के कोई पदार्थ दीख पड़ने योग्य नहीं. उसी प्रकार बिना चेतन के जड़ को अस्तित्व ही नहीं है. तथापि यही बात जिस प्रकार से कि श्री शङ्कर-गुरु ने कही है प्रमाणपूर्वक अनुभव में ला देनी चाहिए इस सम्बन्ध में कितेक शङ्का-समाधानों का विधान करना आवश्यक है, वह प्रसङ्गानुरूप आगे कहेंगे.

११ प्रस्तुत चेतनाभिन्न यानी समझ का व्यवहार जिसमें स्पष्ट नहीं होता वह जड़ और समझ (ज्ञान) यानी चैतन्य इन दो बातों की किञ्चिन्मात्र भी भूल कभी न होने पाय! जड़ कोई स्वतः सिद्ध पदार्थ नहीं है, किन्तु कल्पित है. कल्पित को उत्पत्ति और नाश भी है. जैसा कि -रज्जु-सर्प, शुक्तिका-रजत इत्यादिक. जड़ तो स्वयम् कुछ पदार्थ ही न होते केवल विपरीत आभास वाले ही हैं. यानी सूर्य-तेज जो मृगजल सा दीख पड़ता है उसी प्रकार जड़ को आभासरूपता है. उसको स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं. इसको "दृश्य" कहते हैं. देखने वाले के नेत्र जिस प्रकार के, जिस अधिकार, योग्यता के हों उसी प्रकार यह पञ्चतत्त्वें भासती ∴ पूर्व काल इस आर्यभूमि में मणि, मन्त्र, औषधियों की बड़ी ख्याति थी. कितेक वनस्पतियों से अञ्जन बनाते थे, वह आँखों में लगाने पर पाताल में का धन और सौ डेढ़ सौ कोस पर के वस्तु का भी ज्ञान होता था. बीच में अनेकों पर्वत-पाषाण, वृक्षादिक रहते हुए भी उस पार के पदार्थ का ज्ञान होने के लिए उस जड़ पदार्थों में रहा हुआ अन्धेरा अथवा अज्ञान मानो कि पिघल कर इतनी दूर का भी दिखाई देता था ऐसा कहना पड़ेगा. उसी प्रकार हमारे आँखों में

के तेज पर अन्नमय पञ्च कोशों के आवरण हैं. नेत्रों का प्रकाश बढ़ते जाने पर सहजतः उस प्रकाश से अन्धकार (अज्ञान) कम होना ही चाहिए! इसके अनुसार सब भूतों में केवल चैतन्य-रूप देखने की योग्यता जिन धन्य पुरुषों को प्राप्त हुआ हो उनको समस्त जगत् ही चैतन्यरूप यदि दिखाई दे तो उसमें अचरज अथवा नवीनता ही क्या!

"चिदेव पञ्चभूतानि चिदेव भुवनत्रयम्।
एतज्ज्ञातमधुना सम्यगास्मि चिदेव हि ॥५॥

(योगवासिष्ठ. अध्याय ६.)

किसी एक कारेगर ने लकड़ी का हाथी बनाया. इस प्रकार से कि लकड़ी के छोटे, बड़े टुकड़े एक पर एक रचते हुए हाथी की आकृति बना डाली. यदि कोई समझदार आदमी उसे देख पाता तो उसकी ओर काष्ठ-रूप से ही देखता. उसमें उसको किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं रहता; परन्तु यदि कोई लड़का उसे देख पाता है तो वह उसे हाथी समज लेता है. हाथी की भ्रामकता अपनी अपनी समझ जैसी हुआ करती है उसके अनुसार होती रहती है. एक ही वस्तु द्विधा (दो प्रकार) रूप से क्योंकर दीख सकती है यह उपरोक्त दृष्टान्त पर से ध्यान में आ जायगा. अब चेतन पर जड़ का भास कैसा? ऐसी शङ्का उठाने वाले विचार करें कि, पानी पर सेवाल कैसे जमता है! आकाश में बादल कैसे घिर आते हैं? जैसा कि (लोह) चुम्बक के कारण लोहा चञ्चल भासता है, उसी प्रकार जिस पदार्थ में जितना और जैसा सामर्थ्य हो उसमें वहाँ वैसी ही व्यवस्था होनी ठीक है. यद्यपि माया अनिर्वचनीय कहलाती है तथापि "माया" नाम का वेदान्त में कोई पदार्थ ही नहीं है. केवल

सत्तामात्र, एकरूप, एक स्वभाव चिन्मात्र है. उसमें विजातीय सम्बन्ध कुछ भी नहीं है तो पृथक् माया कहाँ और कैसी!*
भाष्यकार लिखते हैं कि, एक ही पुरुष अपने सामर्थ्य द्वारा अनेक रूप बन जाता है, उस प्रकार आत्मा ही भूताकृति बना है. इसपर "यदि ऐसा है तो जड़ाजड़-विभाग-कथन की भी आवश्यकता ही क्यों? ऐसा तो न कहना चाहिए. क्यों कि परमार्थरूप से एक चेतन ही है, तो भी वह सत्तारूप है. उस सामर्थ्य से सृष्टि का कारखाना अखण्ड चलता रहेगा ही! उसमें उच्च, नीच, देवता, मनुष्य इत्यादिकों की रचना भी होगी ही. जो आकृति बनती है अथवा दीखती है वह तो केवल जड़रूप समझनी चाहिए. कारण, व्यवहार में कार्यकारण भाव कृति के द्वारा परिणामरूप-होता है. वह प्रकार ब्रह्म-रूप में नहीं, किन्तु सकल प्रतिभास उत्पन्न करने का सामर्थ्य चैतन्य में है. तथापि सृष्टि होती रहे अथवा न रहे यह हेतु और क्रम परब्रह्म में है ही नहीं. कहते हैं कि "एकाकी न रमते, द्वितीयमिच्छति" इस प्रकार की स्फूर्ति परमेश्वर को हुई. (यहाँ पर यह श्रुति ईश्वर के सम्बन्ध में है. केवल उपाधिरहित ब्रह्मविषयक नहीं.) देखिए! कि, जड़ अविद्या में, माया में व्यवहार के कारखाने की कितनी भी घट-बढ़ होती रहे तो भी सत्तारूप से कर्ता, भोक्ता सब कुछ ब्रह्म ही

टिप्पणी—१ जैसे अग्नि का उष्णत्व, जल का प्रवाहित्व, वैसे ही ईश्वर की जो शक्ति वही माया; परन्तु वह ईश्वर से भिन्न नहीं. कारण, शक्ति किसी पदार्थ से पृथक् नहीं दीखती; पर अत्यन्त अभिन्न भी नहीं है; कारण प्रत्येक पदार्थ शक्तिमान् है. अग्न्यादिकों में दाहकत्व इत्यादि शक्तियाँ रहा करती ही हैं ऐसा दीख पड़ता है.

(पञ्चदशी, अद्वैतानन्द, श्लोक ११, १७)

है. अब कर्म यानी कर्ता का इच्छा-फल जिस आकार का बनता है वह उस कर्ता का कर्म है. इसमें वृत्ति, प्रयत्न, इच्छा और व्यापार की आवश्यकता है. और केवल सत्ता-सामर्थ्य से जो घटना घटती है उसमें कर्ता को क्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती (लोह) चुम्बक अपनी जगह निश्चल रह लोहे को चलित करता है. उस प्रकार जिज्ञासु को गूढ़-गति का ज्ञान प्रदान करने वाली बुद्धि का जानना, मनोविकल्प होना, अन्तःकरण का स्फुरण इत्यादि सब कुछ चेतन-सत्ता से ही हुआ करते हैं. उन पदार्थों में जब कि स्वतः अस्तित्व अथवा सामर्थ्य है ही नहीं तब असङ्ग रहते हुए भी प्रेरकता, ईशितृत्व (परमेश्वरत्व), चालकता इत्यादि सभी का स्वामित्व चेतन को ही दिया जाना भूल नहीं है. तथा ऊपर जो कहा गया है कि "एकाकी न रमते द्वितीयमिच्छति" यह कल्पना केवल उपाधिरहित चेतन की नहीं, किन्तु सोपाधिक अर्थात् मायाप्रतिबिम्बित जो चेतन, ईश्वर उसको हुई, यह वेदान्त का तात्पर्य है. इसमें समझ पाने का भाग यह है कि, जो जो बनता है, दीखता है उसको स्वतः अस्तित्व नहीं है, किन्तु वह ब्रह्म के अस्तित्व से भासता है. जैसे यद्यपि रज्जु-सर्प का भास होता है तो भी सर्प का अस्तित्व रज्जु का ही है. इसमें विशेष यह है कि, एक ही पदार्थ भ्रम के कारण अनेक प्रकार से दिखाई देता है. उसीतरह जड़ का भी प्रकार है. तथापि जड़ाजड़-ज्ञान से बड़ा लाभ यह है कि दृश्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता (इसी को अनिर्वचनीय रूप कहते हैं) और एक अखण्ड, अचल ज्ञान रहते हुए बुद्धि के अनेकत्व के कारण और अनन्त विषयक ज्ञानाभ्यास दिखाई

होने के कारण जैसे घट-ज्ञान, पटज्ञानादिक अनेक विषय रहने के कारण ज्ञान भी अनेक सा भासता है. तथापि ज्ञान एक ही है. और माया-शक्ति से अनेक रूप दिखाई देना भी तो ठीक ही है. तो भी माया जड़ है, चेतन स्वतन्त्र है, स्वार्थ है और माया परतन्त्र, परार्थ है ये दो बातें चेत रखनी चाहिएँ. यह ज्ञान पूर्ण प्रकार जच जाय तो पूर्ण, सर्वतन्त्र चेतन-रूप मैं ही हूँ, मेरे सामर्थ्य से समस्त इन्द्रिय-व्यापार-क्रियाएँ होती रहती हैं, तथापि वे सकल विकल्प जब चेतन-रूप मुझ में आकर मिल जाते हैं और हृत्तन्त्री के तार बज उठते हैं, उस समय मुझ से उत्पन्न होने वाले माया-रूप मन में मलरहित, सुखदुःखाकृति-रहित होकर एकरूप हो जाते हैं. वैसी ही माया तो दृश्य-रूप केवल दीखने योग्य ही भिन्न है, वस्तुतः इसका अस्तित्व यानी चेतन! अर्थात् चेतन-विलास यानी माया!! जिस तरह तरङ्ग, लहरियाँ सभी समुद्र में मिल जाते हैं वैसा ही मायिक व्यापार मुझसे ही उत्पन्न होकर भासता है और मुझमें ही लीन होता है. मैं तो केवल सच्चिदानन्द-रूप, एक, अखण्ड ब्रह्मरूप हूँ यह सिद्धान्तरूप से पूरा-पूरा अनुभव में उतरता है. यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि, चेतन के विपरीत जड़ है; इसीलिए तो चेतन स्वतन्त्र कहलाता है और जड़ परतन्त्र! क्रिया करने वाला पदार्थ जड़ रहनेपर भी उसका स्वामित्व चेतन की ओर ही आता है और अनुभव भी ऐसा ही है. समस्त व्यापार मैं ही करता हूँ. यह चेतन की व्याख्या ध्यान में रखने योग्य है.

१२ जड़ाजड़-विचार में यह कितना उत्तम और कैसा महल्लाभ (बड़ा फायदा) है कि, हम केवल ज्ञप्तिरूप चेतन हैं.

उस चेतन में जो जानने की क्रिया होती है वह सब सत्तामात्र चेतन से जो अन्तःकरण उत्पन्न होता है, जिसके सम्बन्ध में मुकुन्दराज कहते हैं :-

" निर्विकल्पीं प्रथम स्फुरण । तेंचि गा अन्तःकरण "

-(विवेकसिंधु. लिंगदेहविवरण नाम पंचम प्रकरणम्)

[निर्विकल्प (परब्रह्म अथवा अवस्था) में जो प्रथम स्फुरण वही अन्तःकरण है.]

जो जो मायिक विचार बनता है उसमें चरण से लेकर चोटी तक चेतन भरा रहता है. वह अन्तःकरण चेतन से अभिन्न होकर जानकारी की क्रिया करता है. पदार्थ को आवरण डालता है. वहाँ ज्ञाततारूप ब्रह्म का स्फुरण रहता है. इसलिए स्वतः अन्तःकरण को ज्ञानधर्म नहीं है. इसका विशेष विचार आगे किया जायगा. उस अन्तःकरण से मल उत्पन्न होता है-जैसा कि, पानी से बुलबुले, फेन, तरङ्ग, ओले, नमक इत्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं. अनन्तर इस अन्तःकरण में स्फुरण होता है कि "मैं ब्रह्मरूप हूँ" जिस तरह चित्रपट प्रथमतः स्वच्छ रहते हुए भी उसमें पीच (काँजी) लगाने पर वह अनेक रङ्ग धारण करने योग्य बन जाता है, उसी प्रकार जो चेतन अखण्ड, एकरूप, निश्चल और ज्ञानरूप है, वह अन्तःकरण के योग से अनेक क्रिया करने को समर्थ होता है. और आगे चल कर जो तामस, राजस अथवा सात्विक गुण उत्पन्न होते हैं उनका चित्र पहले अन्तःकरण पर उत्तम प्रकार से उभरता है और इसके अनन्तर प्रकृति-के विकृति-रूप से जो परिणाम होता है, वह मायाविच्छिन्न अन्तःकरणोपहित चेतन पर होने से जैसा "मैं केवल ब्रह्म हूँ"

यह अनुभव आता है वैसा ही "मैं इच्छा, काम, सङ्कल्प, विकल्प, हेतु, सत्व, राग, द्वेषादि गुणवान् हूँ" इस प्रकार का विपरीत भाव होने लगता है. इसके लिए शुक्ति (सीपी) और रजत (चाँदी) का दृष्टान्त बहुत ही समर्पक है. सीपी रहते हुए जिस प्रकार वहाँ चाँदी का भास होता है उसी प्रकार स्वतः व्यापक, स्वतन्त्र, सत्ता-रूप जन्म-मरणरहित रहते हुए वृत्ति के कारण जन्म-मरणादिक जड़-भाव जो मान लेता है कि अपने को ही होते रहते हैं, यही विक्षेप कहलाता है. अस्तु; तथापि ज्ञानरूप-चेतन ईशरूप से अपने शक्ति के बल सबका प्रेरक होकर सकल व्यापार करता है तो भी आत्मविद्या अवगत न रहने के कारण "मैं कौन" इधर नहीं देखता, उस समय में मानसादिक पदार्थ यानी, वासनाएँ क्षीण होती हैं (साधनचतुष्टय-सम्पन्नता के लिए इतर ग्रन्थकार लिखते हैं, परन्तु हमारे मत से वे आपसे आप क्षीण हो जाते हैं- जैसी कि नींद) और वेदान्त-विचार शुरू होता है उस समय में मनुष्य विचार करने लगता है कि, यह सृष्टि किसने बनाई? और मैं कौन हूँ? इस विचार में यह सिद्ध होता है कि, जड़ और अजड़ ऐसे दो पदार्थ जो दीख पड़ते हैं उसमें सच देखें तो चेतन तो व्यापाररहित, नित्यमुक्त, अखण्ड, एक ही है. और जड़ को तो मूलतः अस्तित्व ही नहीं है! उसी प्रकार विषय जानना, उसका भोक्तापन भी नहीं है, किंबहुना वह कभी कोई कार्य नहीं कर सकता. इससे भी अधिक विचार यानी जड़ का रूप भी तो क्या है? इसका ठीक ठीक विचार करने पर वही सिद्ध होता है जैसा कि अन्धकार एक प्रकाश का ही रूपान्तर है. उसी तरह यह कहना पड़ेगा कि, "जड़ कोई अलग चीज है

ही नहीं" यहाँ आक्षेप आता है कि, ऐसी बात जो है ही नहीं उसका विचार ही क्यों? इसका उत्तर यह कि, जो नहीं वह दीखना और जैसा दीखता है वैसा न रहना यही अविद्या, यही माया है. यह माया तामस-रूप है. गुणागुणों का पृथक् स्वभाव है उसके कारण सत्वप्रधान विचारशक्ति से तमःप्रधान जो जो प्रतिभास हैं उनका लोप होकर सत्य मार्ग प्रकट होता है. इसी लिए यह "जड़ाजड़-विचार" अवश्य करना पड़ता है; इसका पूर्ण ज्ञान होनेपर जो जो जड़-धर्म अपने में दीखते हैं, जैसा कि- अन्धता, बधिरता जड़ देह के धर्म रहनेपर भी कोई मान ले कि, मैं ही काणा, बधिर, अन्ध, पंगु हूँ. उसी तरह मानस-धर्म भी आत्मा के ही धर्म मानते हैं और बुद्धि यानी विषय-प्रकाश करना, जानना इत्यादि धर्मों का आरोप भी अपने ही पर कहते हैं. आईना सदोष रहा तो अपना मुँह ही, टेढ़ा तिरछा दीखता है; परन्तु विचार-शक्ति से सर्वदोषरहित, एक, अद्वितीय, भूत-वर्तमान-भविष्य-काल में, जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में एक ज्ञानरूप तेज से भासमान ऐसा मैं ही ब्रह्म-रूप हूँ यह दृढ़ होता है. कारण, समस्त जड़ पर-प्रकाशित हैं, उनका उपयोग चेतन से हुआ करता है. जड़ स्वतः किसी उपयोग का नहीं. इसपर यह शङ्का उठाने का कोई कारण नहीं कि, चेतन स्वतन्त्र होने पर उसको परतन्त्रता कैसी? कारण, पारमार्थिक दृष्टि से कोई भी बद्ध मुक्त नहीं है. अपने जिस सामर्थ्य से यह दीखता है उसी सामर्थ्य से जड़ाजड़ का विचार पूर्णतः जच जाय तो व्यावहारिक सत्ता में भी अपना स्वातन्त्र्य और जड़ का पारतन्त्र्य कभी नष्ट नहीं होता.

१३ इसपर यदि सृष्टि आत्मा के सत्तासामर्थ्य से उत्पन्न होती है और उसका प्रवाह रुकने नहीं पाता, उसी प्रकार यदि चैतन्य ही सर्व-भोक्ता हो तो फिर ज्ञानी पुरुष को भी अनेक जन्म लेने पड़ेंगे और अच्छे, बुरे विषयों का भोग भी उन्हें होता रहेगा! ऐसी शङ्का सहजतया उद्भूत होगी. वैसा ही आत्मा सर्व-काल असङ्ग है तो भी जिस अधिकारी शरीर में यह ज्ञान उत्पन्न होता है वह फिर उत्पन्न नहीं होता ऐसा तो हमारा मत है ही नहीं. इसपर कोई ऐसी शङ्का न उठाएँ कि, ज्ञानार्जन से लाभ ही क्या? कारण आवरण-रहित चेतन तो पूर्ण स्वतन्त्र सुख-मात्र है. मायावच्छिन्न चेतन से जो कुछ क्रियाएँ होती हैं वे प्रमाणबद्ध रहती हैं. नियम को छोड़ कर सृष्टि उत्पन्न नहीं हुआ करती.

"धाता यथापूर्वमकल्पयत्"

(नारायणोपनिषत्.)

उस पक्ष में ब्रह्मज्ञान से जिसका अविद्या-मूलक अज्ञानांश दग्ध हो गया हो ऐसे अधिकारी पुरुष में देह के लय तक फिर अज्ञानांश की उत्पत्ति होने नहीं पाती. प्रमाणतः-

"इयं ज्ञानकला राम सकृज्जाताऽपि वर्धते"

यह ज्ञान जिस शरीर में उत्पन्न हुआ उस शरीर का ब्रह्म में लय हुए तक यह ज्ञान-ज्योति कभी बुझने नहीं पाती. अज्ञान नष्ट हो जानेसे अनेक जन्म लेने पर भी भ्रान्ति नहीं होने पाती. जिसका नाश होता है वह सृष्टि कहलाती है. हमें नाश नहीं इसलिए कि हम जड़ नहीं हैं; तो हमको जो वासनात्मक तैजस

देह और पञ्च कोशों का आवरण हुआ दीखता है, यह सब होने पर भी आत्मा के अस्तित्व का लोप नहीं होता. सब जड़ पदार्थों का भास हमको ही होता है और सकल विषयों के अस्तित्व का ज्ञान अपने अवगति-रूप ज्ञान-शक्ति के प्रभाव से होता है, समस्त जड़ पदार्थ प्रकाश की सत्ता से भासते हैं. अर्थात् जो अज्ञानंधकार के आतङ्क से छूट चुके हैं उन्हें ज्ञात होता है कि अपना सत्य स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता. यह दृश्य-रूप पञ्च-कोश विराट् रूप से देखने वाले हम ही ब्रह्मरूप हैं ऐसा भासता है. सारस्वपतः पञ्चकोश लघु रूप से अथवा विराट् रूप से दिखाई देना देखने वाले के शक्ति पर निर्भरित है. अब जो जड़ाजड़-विभाग दीखता है और देहेन्द्रियों के धर्मों की हमें बाधा होती है वह कुछ भी न होने पाय इसलिए यह विचार करना चाहिए तो जो और जितना बन पाए प्रयत्न पूर्वक जड़ाजड़ विषय में सम्यक् विचार करके आत्मोन्नति प्राप्त कर लें.

१४ बन्धन से जीव का छुटकारा होने के लिए यह जड़ाजड़-विचार लिखा गया है. इसमें विषय-भोक्ता और सर्व-भोक्ता ऐसे दो रूप बतलाये गये हैं उसका अर्थ यह है कि प्रकाशरूप आत्मा ही सकल विषय-प्रकाशक है. गुण जैसे हों वैसा ही विषयों का परस्पर विरोध दिखाई देता है, परन्तु भासक चैतन्य से विरोध नहीं दीखता. अब सर्व-भोक्ता लक्षण का विशेष अर्थ यह है कि, सब व्यवहार को-जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रियों के द्वारा जो व्यवहार होता है उसको-आत्मप्रकाश समसमान है यह बात बड़ी सावधानी और युक्ति द्वारा समझ लेनी चाहिए. कारण बिना एक निर्विकार चैतन्य के सब दृश्य जग भोग्य, भोक्ता,

क्रिया, भूतें, तत्त्वें, देह, इन्द्रियें इत्यादि सभी मिश्रणरूप हैं. यानी चाहे कोई पदार्थ हो-प्रपञ्च में तो एक ही स्वभाव से अखण्ड रहने वाला विना आत्मा के कोई दूसरा है ही नहीं. प्रत्यय, आकृति अथवा विषय चाहे मानसिक रहें चाहे व्यावहारिक, जो कुछ दिखाई देते हैं, जिनका भोग हुआ करता है वे सब मिश्रण हीं से बने हुए हैं. परमार्थरूप से आत्मा भोक्ता, ग्राहक अथवा कर्ता होता ही नहीं. इसलिए सकल विषयों में आत्म-प्रकाश पड़ने के लिए अन्धकार की आवश्यकता है. उजियाले को अन्धियारे की आवश्यकता बतलाई इस लिए कोई शङ्का न करें. कारण, अतिशय तीव्र प्रकाश में कोई पदार्थ दिखाई नहीं देगा. अल्प प्रकाश के द्वारा ही व्यावहारिक पदार्थ दीख पड़ते हैं. अति प्रखर प्रकाश में केवल प्रकाश ही प्रकाश रहता है, उसी तरह पारमार्थिक आत्म-तेज में विषय-स्फूर्ति, अवगति, विषय का भास करा देना यह आवरण-रहित आत्मा का लक्षण नहीं है, किन्तु आवरण-सहित जो आत्मा और तमःप्रधान जो माया उस माया-रूप अन्धकार में जो पदार्थ हों उनको प्रकट करने के लिए यह क्रम आवश्यक रहता है कि, आत्म-शक्ति से जो बुद्धि शक्तिमान् दीखती है वह विषयाकार होते समय में बुद्धि के प्रकाश से अज्ञान-रूप आवरण हट जाता है; परन्तु जितने प्रमाण से बुद्धि ने विषय को घेर लिया होगा उतना ही अन्धकार दूर हट कर ज्ञान का स्फुरण होता है. यहाँ यह मर्मपूर्ण रहस्य ध्यान में रखना चाहिए कि, हम जब विषयाकार स्फुरण पाते हैं उस समय विषयरूप में ही हूँ अथवा यह विषय मेरे ही हैं ऐसा जान पड़ता है, भासता है यानी समझ में आता है उसमें "मैं" और 'मेरा' इन दो भावनाओं की कल्पना होती

है, पर उस कल्पना को स्वतः स्फुरण न रहने के कारण कल्पना के अनुसार हम यानी आत्मा ही स्फुरण पाता है. इतना कहने का हेतु यह है कि "मैं कामी, क्रोधी, महन्त, भला, बुरा आदि कल्पनाएँ नष्ट हो जाएँ तो आत्मा चैतन्य अथवा हम स्वयम् विषय-राहित स्फुरते हैं. एक स्थान में वेद-पुरुष कहता है कि, आत्मा सर्वकाल कहाँ, कैसा और किस स्थिति में रहता है? इसका उत्तर "स्वमहिम्नि" यानी अपने महिमा ही में हम आनन्द-रूप रहते हैं. जिस समय में विषयाकार स्फुरण नहीं रहता उस समय आत्मा स्वतः आनन्दरूप यानी सुषुप्ति की तरह रहता है. बुद्धि अन्य विषयों की ओर चली जानेपर फिर से विषय तमा-च्छादित हो जाता है. ऐसी प्रक्रिया से विषयज्ञान होता है. अर्थात् मूलावरण रहे विना ज्ञाता, ज्ञेय आदि भेद नहीं होगा. यह भेद दिखाई देने के लिए अन्धकार की आवश्यकता है. पूर्व कथना-नुसार विशेष प्रकाश में कोई पदार्थ दिखाई न देने के कारण ज्ञान, ज्ञेय यह भावना उत्पन्न नहीं होती. जहाँ तहाँ आत्मप्रकाश ही फैला हुआ भासता है. अर्थात् अन्धकार की आवश्यकता है ऐसे व्यावहारिक विषय-ज्ञान में, समस्त व्यवहार में भी यह बात पहिचाननी चाहिए कि, कान शब्द सुनते हैं, आँखें रूप-विषय की ओर दौड़ते हैं, घ्राण सूँघ लेता है इस प्रकार इन्द्रिय द्वारा सर्वकाल व्यवहार चलता रहता है. इसमें विशेष विचार यह है कि, केवल इन्द्रियें पदार्थ-विज्ञान-विषय में समर्थ नहीं होतीं, इन्द्रियों को मन का साहाय्य चाहिए तब कहीं हमें पदार्थों का ज्ञान होता है. उस समय कौन कौन इन्द्रियों ने क्या क्या काम

किया यह पहचानना चाहिए. जैसे-विषय ने इन्द्रिय की ओर दौड़ ली, बुद्धि ने विषय का अन्धेरा दूर किया, मन ने ज्ञातता प्रकट करने का व्यापार किया यह सब कुछ होकर भी "मैं ने घट-रूप विषय को पहिचान लिया" (यहाँ "मैं" यह आत्म-स्फुरण है, "पहचान लिया" यह अन्तःकरणसहित है. कारण, जानने पहिचानने का व्यापार अन्तःकरण में होता है) ऐसा स्फुरण नहीं होता. तो जिस समय बुद्धि विषयाकार होकर जितनी कुछ आकृति स्वयम् धारण कर लेगी तद्विषयक ही अज्ञान दूर करती है. अनन्तर वहाँ यदि आत्म-रूप का स्फुरण हो जाय तभी 'मैंने घट को जाना' इस प्रकार का ज्ञान हुआ करता है.

१५ इधर लक्ष्य दीजिए! और खूब ध्यान में रखिए!! कि, सात्विक, राजस, तामस अहङ्कार के विना कोई वृत्ति नहीं रहती. सब वृत्तियों में अहङ्कार व्यापक है. अहङ्कारसहित बुद्धि विषयाकार होती है, उस समय आत्म-शक्ति से ही मैं विषयाकार हूँ इस प्रकार का अभिमान स्फुरता है, उस अभिमान का भी कूटस्थ चैतन्य भास कराता है. वृत्तिसंवलित (प्रतिबिम्बित) चैतन्य के आभास, प्रतिबिम्ब आदि नाम हैं. सकल व्यापार का जो प्रकाशक है वह कूटस्थ चैतन्य और घटमात्र को भासमान कराने वाला आभास-चैतन्य ऐसी शास्त्र-मर्यादा है. सच देखा जाय तो यह भी आरोप वृत्ति के द्वारा ही करना पड़ता है. चैतन्य के मूल रूप में कभी कोई बदल नहीं हुआ करता.

१६ वेदान्त का रहस्य यही है कि, विषयज्ञान, भ्रमज्ञान, सत्यज्ञान, आत्मज्ञान आदि कोई ज्ञान हो, ज्ञानप्रकाश तो अलग अलग नहीं रहता. वैसा ही ज्ञानरूप चैतन्य में क्रिया नहीं है,

परन्तु जिस प्रकार घटाकाश में घट के साथ साथ आकाश भी फिरता सा दीख पड़ता है, तद्वत् बुद्धि द्वारा विषय-प्रकाशक जो क्रिया होती रहती है उसके साथ साथ आत्मा अर्थात् हम ही क्रिया करते हैं ऐसा भ्रम होता है. यह भ्रम भी बुद्धि द्वारा ही उत्पन्न हुआ करता है. इसका स्पष्टार्थ यह है कि, स्फुरण रूप आत्मा को भ्रम नहीं होता किन्तु भ्रान्तिरूप बुद्धि के विकार का भास कराते समय जिस दशा में जान पड़ता है कि "विकार भी मैं ही हूँ" उसको जीव-दशा कहते हैं. यह वृत्ति जब ब्रह्माकार होती है उस समय आत्मा ही "मैं ब्रह्माकार हूँ" ऐसा स्फुरता है. आत्मा निर्विषय रहते हुए विषयाकार स्फुरता है. तो भी जड़ चेतन में विरुद्ध स्वभाव रहने के कारण आत्मा को जड़ क्रिया का स्पर्श भी नहीं होता. कारण, आत्मा स्वतः असङ्ग, एकरूप है, यह ज्वलन्त रहस्य कभी न भूलना चाहिए. अल्प-ज्ञान, विशेष-ज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि द्वैत भेद दिखाने वाली बुद्धि ही है. जो जो कुछ रागद्वेषादिक विषय स्फुरते हैं और विषय-भोक्ता मैं हूं अथवा विषयाकृति प्रकृति मैं हूं ऐसा जो जान पड़ता है यह सब बुद्धि का ही दोष है. जिस तरह "मैं देही हूँ" यह बुद्धि की कल्पना, उसी तरह "मैं विभु हूँ, सकल ब्रह्माण्ड को घेर लिया हूँ" इस प्रकार की कल्पना करने में आत्मा की यत्किञ्चित् भी रुकावट नहीं. बुद्धि में भी जड़ता, अल्पता, विपरीत भावना, भ्रमाकृति आदि दोष उत्पन्न होना अविद्यामूलक है और जिस बुद्धि में आत्मस्वरूप सर्वाङ्ग-सहित स्फुरता है वह अनुग्रहकारिणी और नित्यमुक्तिदायिनी है. इस विचार का तात्पर्य यह है कि विषय यानी जड़ का रूप भी आत्मा का ही रूपान्तर है.

कारण, विना आत्मा के कोई व्यवहार नहीं चल सकता. यह

विषय जड़ाजड़-विचार में हमने क्यों लिखा यह आगे स्पष्टतः कहकर यह प्रकरण समाप्त करेंगे.

१७ यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि, विषय-भोक्ता अल्प प्रकाश अवगतिरूप जीवात्मा और सर्वभोक्ता आवरण-रहित परमात्मा ऐसा इनका भेद है. दोनों अवस्थाओं में आत्मा एक ही है. यह दो आत्मा के ही नाम हैं. अवगति यानी आत्म-ज्योति यह न भूलना चाहिए. अस्तु; हमने जो आत्मा को सर्वभोक्ता ठहराया है उसका कारण यह है कि, विषयप्रकाश होते समय अथवा जागृति में पञ्च-महातत्त्वोंसहित सब जीवों का आकार धारण करने वाला, सबका भासक एक चैतन्य ही है. वह चैतन्य यानी मैं ही हूँ, मेरा विषयों से विरोध नहीं है, उलटा समस्त विषयों का प्रकाशक मैं ही हूँ, परन्तु केवल विषयों का भास कराते समय मुझपर विषय-भोक्ता का आरोप हुआ करता है. और अनन्त ब्रह्माण्डों का भास कराते समय सर्वभोक्ता का अपवाद आता है. (प्रायः भोग यह ज्ञानवाचक शब्द है, यानी विना ज्ञान के भोग नहीं होता) यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि, प्रमेय-प्रमाण, विषय-ज्ञाता यह दोनों भेद यद्यपि मायिक हैं, तो भी विषय जड़, अप्रकाश-रूप हैं; परन्तु उनको जानने वाली जो बुद्धि वह प्रकाश-रूपा है. यह दोनों भेद मायिक ही हैं. माया स्वच्छ रहती है और अविद्या मलिन रहा करती है, यह तो पहले स्पष्टतया कहा गया ही है. कारण, जिस समय में आत्मा का विषयाकृति-रूप स्फुरण होता है, "मैं कामी, मैं देही" कहता है, उस समय में चाहे सुखाकृति-दुःखाकृति कोई भी आकृति हो वह

अविद्या से बनता है, और जानने का व्यापार बुद्धि किया करती है. "मैं इस विषय को जाना" इस प्रकार का ज्ञान-स्फुरण बुद्धि का हुआ करता है. तथापि जिस तरह दाहक-शक्ति लोहे में न रहते हुए भी अग्नि के संयोग से वह अन्य को जला सकता है, उस प्रकार बुद्धि स्वयम् जड़ होकर भी बुद्धिस्थ आत्म-चैतन्य के सामर्थ्य से "मैं ने इस विषय को जाना" ऐसा स्फूर्ति का व्यापार बुद्धि में और सब प्रकार के ज्ञान का व्यापार आत्म-चैतन्य में लीन होता है. इस लिए आत्म-सत्ता से सब कुछ हुआ करता है. इसीलिए यह विधान पूर्णतः ध्यान में रखना चाहिए कि, जिस तरह आत्मा सकल विषयों को उत्पन्न करता है वैसा ही वह अपनी सत्ता से भोगता भी रहता है. तात्पर्य-सर्वभोक्ता यानी सब क्रियाओं में इन्द्रियें और मन अपना अपना काम किये किये जाते हैं; परन्तु विषय-प्रकाशन-शक्ति तो उनमें नहीं रहती. अर्थात् सबका उपलब्धा अवगति रूप कूटस्थ ऐसा एक आत्मा ही है, यह अटल सिद्धान्त है.

१८ यहाँ हमने इस प्रकरण को "जड़ाजड़-विचार" नाम देकर वेदान्त-विचार किया, पर अनेक जगह जो ऐसा उपपादन किया गया है कि जड़ यह चेतन नहीं है और चेतन यह जड़ नहीं, उसका भावार्थ यह है कि, "चेतन्य जड़ नहीं" यानी जड़ को भी चैतन्य का अस्तित्व आवश्यक ही है. जैसा-भ्रम हुआ भी तो वह अधिष्ठान-सत्ता बिना नहीं भासता, भ्रम में भी अधिष्ठानांश रहता ही है. उसी तरह जड़ में दिखाई देने वाला अस्ति, भाति, प्रिय यह अंश भी ब्रह्म के ही हैं. केवल नाम-रूपात्मक जो कुछ भास है वह अविद्या कहलाती है. अविद्या

अविद्या से बनता है, और जानने का व्यापार बुद्धि किया करती है. "मैं इस विषय को जाना" इस प्रकार का ज्ञान-स्वरूप बुद्धि में हुआ करता है. यद्यपि जिस तरह प्रकाश-शक्ति लोहे में न रहते हुए भी अग्नि के संयोग से वह अन्य को जला सकता है, उस प्रकार बुद्धि स्वयम् जड़ होकर भी बुद्धिस्थ आत्म-चैतन्य के सामर्थ्य से "मैं ने इस विषय को जाना" ऐसा स्फूर्ति का व्यापार बुद्धि में और इस प्रकार के ज्ञान का व्यापार आत्म-चैतन्य में लीन होता है. इस लिये आत्म-सत्ता से सब कुछ हुआ करता है. इसीलिये यह विधान पूर्णतः ध्यान में रखना चाहिए कि, जिस तरह आत्मा सकल विषयों को उत्पन्न करता है वैसा ही वह अपनी सत्ता से भोगता भी रहता है. तात्पर्य-सर्वभोक्ता यानी सब क्रियाओं में इन्द्रियें और मन अपना अपना काम किये किये जाते हैं; परन्तु विषय-प्रकाशन-शक्ति तो उनमें नहीं रहती. अर्थात् सबका उपलब्धा अवगति रूप कूटस्थ एक एक आत्मा ही है, यह अटल सिद्धान्त है.

१८ यहाँ हमने इस प्रकरण को "जड़ाजड़-विचार" नाम देकर वेदान्त-विचार किया, पर अनेक जगह जो ऐसा उपपादन किया गया है कि जड़ यह चेतन नहीं है और चेतन यह जड़ नहीं, उसका भावार्थ यह है कि, "चेतन्य जड़ नहीं" यानी जड़ को भी चैतन्य का अस्तित्व आवश्यक ही है. जैसा-भ्रम हुआ भी तो वह अधिष्ठान-सत्ता विना नहीं भासता, भ्रम में भी अधिष्ठानांश रहता ही है. उसी तरह जड़ में दिखाई देने वाला अस्ति, भाति, प्रिय यह अंश भी ब्रह्म के ही हैं. केवल नाम-रूपात्मक जो कुछ भास है वह अविद्या कहलाती है. अविद्या

और माया में तारतम्य के द्वारा भेद दिखाई देता है. उसमें भी जो स्वच्छता से भासती है वह माया और गदलापन से जो भासती है वह अविद्या है. चैतन्य सर्वत्र व्यापक रहे भी तो "अरुन्धति-दर्शन" न्याय के अनुसार स्थूल स्थूल प्रकार के तटस्थ और स्वरूप लक्षणों से आत्म-स्वरूप दिखलाते दिखलाते अन्त में एक असंहत, अक्रिय, सन्मात्र, स्वतः सिद्ध, निरपेक्ष, अनुभवरूप, सर्वकाल उपलब्धि-रूप ऐसे निर्विशेष आत्म-स्वरूप को वेद ने अपने वर्णन में दिखला दिया है.

१९ इसपर यदि कोई पूँछे कि, तुम्हारे कथनानुसार आत्म-रूप, सद्रूप कभी विकार को प्राप्त नहीं होता, तो फिर निर्विकार आत्म-रूप में सृष्टि भी तो क्यों निर्माण होनी चाहिए? इस प्रश्न को हम वेदान्तियों का यह उत्तर है कि, यदि तुम्हारे कथनानुसार कि, "सद्रूप कभी विकृत नहीं होता" ऐसा ही तुम्हारा निःस-न्देह अनुभव है तो तुम्हारा कहना ठीक है. "सृष्टि उत्पन्न होती है या हुई" ऐसा कहनें में हम न कोई अभिमान रखते अथवा नहीं किसी अटपटी और अनहोनी सी बात की ज़िद करते हमारा तो एसा सिद्धान्त ही है कि, जो कुछ है वह एक चैतन्य ही अस्तित्व में है. और यदि सच देखा जाय तो जड़ की वार्ता भी नहीं, तथापि जड़ का आभास होता है इसलिए इस प्रक-रण को "जड़ाजड़-विचार" यह नाम देकर इसका विचार करना पड़ा. अस्तु, तथापि वारंवार हमारा यही कहना है कि, विना चैतन्य के कोई भी अन्य पदार्थ नहीं है, किन्तु जड़ाकृति अथवा चञ्चलाकृति जो भासती है वह सामर्थ्य भी तो आत्म-सत्ता का ही है. और आत्मा इस शरीर में अपनी सामर्थ्य से

रहता है और सत्तारूप से निमित्तकरण होकर राजाज्ञा की तरह स्वयम् अक्रिय, व्यापक और पूर्ण रहकर भी सब व्यवहार चलाता रहता है. वैसे ही सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति भी अपने में ही (आत्मा में ही) रहने के कारण हम अपने ही शक्ति से उत्पन्न किए हुए पञ्चकोशों में आवृत्त होकर रहे हैं. अनेक जन्मों की संस्कार-परम्परा के सामर्थ्य से सात्विक अहङ्कार रूपी बुद्धि देह को आवरण करती है और जब आत्मा के आभास-सामर्थ्य से इस प्रकार स्फुरण पाने लगती है कि, "मैं केवल देह हूँ" उस समय "मैं देही" की समझ समा जाती है. इसमें यह बात सचेत रखनी चाहिए कि, केवल अस्तित्व का स्फुरण ही ब्रह्म की लक्षणा है और "मैं" कहना यह अहङ्कार की लक्षणा है. उसी प्रकार महदाकृति से अथवा अल्पाकृति से स्फुरण पाना यह बुद्धि का स्वभाव-दोष है. श्री शङ्कर गुरु कहते हैं कि, जो सदा सर्वकाल सकल व्यवहार में इस प्रकार से विचार करेगा वह सर्व काल मुक्त रहेगा. देखिए! कि, चैतन्यांश तो नित्यमुक्त है. जड़ाभास भी यदि देखा जाय, तो नाम रूप पिघल कर भास ही बचा रहता है. कारण, जहाँ तक विचार करें वहाँ तक जो जो विषय नामरूप-विचार में दिखाई देते हैं उनमें भी चैतन्य ही भासक है. अन्धेरा भी प्रकाश से ही भासता है, वैसा ही यद्यपि माया के आवेश से यदि चैतन्य के रूपान्तर का भास हुआ भी तो समस्त जड़ाभास देखते देखते नाम और रूप पिघल कर अन्त में केवल "देखना" ही उर्वरित रहता है और एक सत्य ज्ञान-रूप के विना अन्य कुछ भी नहीं भासता सा जान पड़ता है. यही जड़ाजड़-विचार का फल है. जब कि, जड़ पदार्थ और आत्मा स्वार्थ है तो जड़ के अस्तित्व का उपयोग भी आत्मा

को ही होना ठीक है, और वह होता भी है. इसीलिए मुक्त "अहमन्नमहन्नाद:" इस प्रकार से गायन करते रहते हैं. यानी सर्व विषय, जड़-रूप मैं ही हूँ, वैसा ही उनका भासक भी मैं ही हूँ, किंबहुना भास होता है यह भी मेरा ही सामर्थ्य है और उस भास का लय भी मुझ में ही होता है, लय कर लेने वाला भी मैं ही हूँ. इस गायन के अनुसार सिद्धान्त यही निकलता है कि,

आत्ममये महति पटे विविधजगच्चित्रमात्मना लिखितम्।
स्वयमेव केवलमसौ पश्यन् प्रमुदं प्रयाति परमात्मा ॥९५॥

(स्वात्मनिरूपण.)

अस्तु, तात्पर्य—यह है कि, जगदाकृति का भास होना ही आत्मा का विलास है. वस्तुतः उसको अन्य पदार्थ का स्पर्श भी नहीं होता.

२० अब हमारी अति नम्रता पूर्वक सूचना है कि, श्री विद्यारण्य मुनि ने भी वेदान्त-कथन करते समय में प्रसङ्गानुसार मुक्तों की अलग अलग लक्षणाएँ कहीं हैं. कहीं उनके स्वैर वर्तन की निन्दा में —

बुद्धाऽद्वैततत्त्वस्य येथेष्टाचरणं यदि ॥
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥५॥

(पञ्चदशी द्वैतविवेक)

यानी यदि मुक्त सर्वभक्षक हो जाएँगे तो श्वान (कुत्ता) और मुक्त में फरक ही क्या रहा? इतना तक कह दिया है और आगे ऐसा भी कहा है कि,—

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥२८८॥
(पञ्चदशी, चित्रदीप.)

मुक्त किसी ढँग से भी वर्ताव करें भी तो उनकी मुक्त-स्थिति किञ्चिन्मात्र भी बिगड़ने नहीं पाती. तात्पर्य प्रसङ्गानुरूप कथन में, संभाषण में और प्रतिपादन में यदि न्यूनाधिक फ़रक दीख पड़े तथापि सिद्धान्त तो सदैव एक ही है. उसमें यत्किञ्चित् भी बदल नहीं हो सकता.

२१ अस्तु; समस्त व्यवहार में सर्वज्ञ, चैतन्य-रूप हम (आत्मा) एक ही हैं, यह सबों के हृदय में पूर्णतः धँस जाय इस हेतु यह विषय पहले कहा और आगे भी प्रसङ्ग के अनुरोध से समय समय पर कहते रहेंगे. इतनी सूचना देकर "यह शब्द ब्रह्मार्पण हो जायँ" इस कथन के साथ विराम लेते हैं.

* इति शम् *

चौथा प्रकरण

त्रिपाद–ब्रह्म–विवरण.

श्री समर्थ रामदास कहते हैं– "एक दृष्टान्त से संशय बढ़ता है, तो एक दृष्टान्त संशय हटाता है." अतः साधकों के चित्त में कोई शङ्का जगह न करने पाय इस हेतु, केवल उपकार–बुद्धि से हम उपर्युक्त प्रकरण का खुलासा कर रहे हैं. महा मुनि श्री विद्यारण्यस्वामी ने कहा है कि, –

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किन्त्वेकदेशभाक् ।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ॥५४॥
(पञ्चदशी. महाभूत–विवेक.)

ब्रह्म चतुष्पाद है. उसके एक भाग में यह सृष्टि होती रहती है. जिस प्रकार भूमि के गीले मिटी में घट बनाने की शक्ति रहती है उसी प्रकार सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति भी ब्रह्म के कुछ भाग में रहती है. ऐसा कहके आगे तत्काल आक्षेप का निरसन भी किया है.

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः ।
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषणी ॥५८॥
(पञ्चदशी, महाभूत–विवेक.)

यानी ब्रह्म निरन्तर निरंश ही है, तो भी केवल शिष्य–शिक्षणार्थ उसपर यह आरोप है. इसपर भी किसी को तनिक भी संशय की बाधा न होने पाय, इस कारण हम ऐसा कहते हैं कि, सहज आत्म–रूप सर्वव्यापी, पूर्ण छिद्ररहित, नित्य सिद्ध है ही है. सच्छिद्र रहना यह भूत (तत्त्व) का धर्म है. जितना

कुछ दृश्य पदार्थ, द्रव्य है वह सब सच्छिद्र रहकर आत्म-रूप से भरा हुआ और अवकाश से युक्त ऐसा भासता है. यहाँ पञ्च-महाभूतों को सच्छिद्र का विशेषण देने का कारण यह है कि, छिद्ररहित एक आत्म-रूप ही है, परन्तु ऊर्णनाभ, अग्निज्वाला, विस्फुलिङ्ग, समुद्रफेन, आकाश, मेघ इत्यादि अनेक दृष्टान्त देकर यह सब सृष्टि आत्मा से ही बनी हैं, यह सिद्ध किया गया है. बहुतसे ग्रन्थों में ऐसा भी विवरण दिखाई देता है कि, शक्ति ब्रह्म से पृथक् है, परन्तु हमारे मत से तो वह वैसी नहीं है.

२ आत्मा सन्मात्र है. यहाँ "सर्वं वेत्ति स्वभावत:" इस अवधूत-गीतान्तर्गत वाक्य के अनुसार वायु आकाश में ही उत्पन्न होता है, शैवाल पानी में से ही उत्पन्न होता है, उस प्रकार सृष्टि बनाने का सामर्थ्य आत्मा में ही रहने के कारण त्रिपुटि-सहित यह सृष्टि उत्पन्न हुई. परमार्थ-दृष्टि से देखने पर अन्त में शक्ति और शक्तिमान यह भेद उठ जाता है. इसलिए उसका यहाँ विचार नहीं किया गया. कारण, पहले अनिर्वचनीय ख्याति में यह व्यवहारात्मक सृष्टि मायिक है ऐसा कहा गया है. अस्तु,

टिप्पणी:-१ असत्ख्याति, आत्मख्याति अन्यथा-ख्याति, सत्ख्याति और अनिर्वचनीय-ख्याति के छः प्रकार हैं वह :—

१ असत्ख्याति :—(शून्यवादीयों की) रज्जु-स्थान में सर्प असत् है ऐसा नहीं. किन्तु जगत् में के सभी पदार्थ वन्ध्या-पुत्र की भाँति अत्यन्त असद्रूप ही हैं. जैसा कि असत् जगद्रूप से शून्य परमतत्त्व का भास होता है उसी प्रकार रज्जु में अत्यन्त असत् सर्प की प्रतीति होती है.

२ आत्मख्याति :—(बौद्धों की रज्जु की जगह अथवा अन्यत्र सर्प नहीं, परन्तु जितने पदार्थ प्रतीत होते हैं उन सबके आकार बुद्धि ही धारण करती है. क्षणिक विज्ञान-रूप आत्मा की—बुद्धि की सर्प-रूप से प्रतीति होती है.

सृष्टि उत्पन्न करने का सामर्थ्य आत्मा के विना अन्य में नहीं रहता यह सिद्ध हुआ. अब "एकांशेन स्थितोऽस्म्यहम्" "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" अथवा "अत्यतिष्ठ–द्दशांङ्गुलम्" ऐसा कहने का

---

३ **अन्यथाख्याति** :–(न्यायवैशेषिकों की) इसमें प्राच्य नैयायिक और नव्य नैयायिक ऐसे दो प्रकार हैं वे थोड़े भेद से अन्यथाख्याति ही मानते हैं. सत्य सर्प के ज्ञान का स्थल, वल्मीक (बाँबी) रहते हुए नेत्र दोष से सत्य सर्प ज्ञान का स्थान रज्जु बनती है, यह प्राच्य नैयायिक का मत है तो नव्य नैयायिक मानते हैं कि, नेत्र-दोष के कारण ज्ञेयरूप रज्जु का ही अन्य प्रकार से अर्थात् सर्परूप से ज्ञान होता है.

४ **आख्याति** :-(सांख्य प्रभाकर मत से) जिस समय रज्जु–स्थान में सर्पभ्रम होता है तब नेत्र द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति बाहर निकल कर रज्जु तक पहुँचती है. वहाँ रज्जु के साथ वृत्ति का सम्बन्ध हो कर "यहाँ कुछ पड़ा हुआ है" इस प्रकार का सामान्यरूप से ज्ञान होता है और उसी समय पूर्व देखे हुए सर्प की स्मृति जाग्रत होती है. यानी रज्जु का सामान्य ज्ञान, पर प्रत्यक्ष और सर्पांश में स्मृति, ऐसे दो प्रकार के ज्ञान मिलकर "यह सर्प है" ऐसा एक ही ज्ञान भासता है. कारण, देखने वाले (प्रमाता) में भय–कम्पादि दोष और (प्रमाण) नेत्र की जगह मन्दान्धकार–दोष के कारण रज्जु–अंश का सामान्य प्रत्यक्ष और सर्पांश में स्मृति, इस प्रकार के दो ज्ञान हैं, यह विवेक उस समय में नहीं होता.

५ **सत्ख्याति** :–(जगत्–सत्यत्व–वादीयों की) सकल पदार्थ पञ्चीकृत हैं, यानी उनके अवयव पञ्चमहाभूतों में हैं. शुक्ति–स्थान में अवयवों के साथ रजत (चाँदी) के भी अवयव सदोदित रहते हैं. जिस तरह शुक्ति के अवयव सत्य हैं वैसे रजत के भी अवयव सत्य हैं. उससे सत्य रजत उत्पन्न होकर उसकी प्रतीति आती है. शुक्ति का ज्ञान हुआ तो रजत का नाश उसके अवयवों में होता है. इस प्रकार से रज्जु–सर्प में सत्य सर्प की प्रतीति होती है.

६ **अनिर्वचनीय–ख्याति** :–(वेदान्त–मत की) इसके सम्बन्ध में पूर्वार्ध पृष्ठ (१४) देख लीजिए.

तात्पर्य यह है कि, ब्रह्म अनन्त है तो सृष्टि सान्त है, बस इतना ही इसका अर्थ लेना चाहिए. पर यहाँ ऐसा न कोई समझ बैठें कि जिस प्रकार भूमि में एकदेशीय मृदुता रहती है तद्वत् ब्रह्म के एक भाग में ही सृष्टि उत्पन्न करने का सामर्थ्य है! ब्रह्म-स्वरूप एक-रूप रहते हुए सर्वाङ्ग सर्व सामर्थ्य से पूर्ण भरा हुआ है, मुकुन्दराज भी ऐसा ही कहते हैं और वसिष्ठ जी का भी वैसा ही अभिप्राय है.

सर्वशक्तिपरं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ।
यथोल्लसति शक्त्याऽसौ प्रकाशमधिगच्छति ॥१५॥

{ पञ्चदशी, अद्वैतानन्द श्लोकार्ध १४, १५
योगवासिष्ठ, तृतीयं प्रकरणम् }

३ अब पुरुष-सूक्त में विराट्-रूप का वर्णन रहने के कारण यदि विभाग कल्पना सार्थ मान ले भी तो कोई दोष नहीं, परन्तु आत्मा ब्रह्मरूप, चैतन्य आदि नामों से सम्बोधन किया जाने वाला जो अविनाशी सर्वावभासक तत्त्व है वही सत्य आत्मरूप रहने के कारण उस स्वरूप में अंशत्व, निरंशत्व, महत्त्व ऐसा भेद रहने का संशय भी कभी उत्पन्न नहीं होने पाय, इसलिए यह विचार दिग्दर्शन मात्र यहाँ कहा है. यदि इसपर विभाग कल्पनात्मक क्रमशः प्रमाणपुष्ट आलोचना की जाय तो अनुमान होता है कि यह लेख मानो कि एक विशाल काय पोथे का तक स्वरूप धारण कर लेगा.

पाँचवाँ प्रकरण.

अभ्यास-प्रकरण.

बहुत दिनों से ऐसा जो एक हमारा प्रबल हेतु था कि, वेदान्त-सिद्धान्त थोड़े में लिखकर यह छोटा सा ग्रन्थ समाप्त करें, वह श्री जी ने सफल किया. अतः अन्तिम मङ्गलरूप-द्योतक आत्मविद्याभ्यास कथन करके अब हम इस ग्रन्थ की पूर्णता कर रहे हैं. श्रीमद्भगवद्गीता, भारत-संहिता, उपनिषदों में, तथा श्रीमच्छङ्कराचार्य कृत प्रसंख्यान प्रकरण इत्यादि बहुत स्थलों में आत्मविद्याभ्यास विस्तार पूर्वक कहा गया है—

" आत्मानं चेद्विजानीयादहमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ १ ॥

(पञ्चदशी, तृप्तिदीप.)

इस प्रमाणपर से यह स्पष्ट है कि, निःसन्देह आत्म-ज्ञान हुए बिना अखण्ड तृप्ति, निरिच्छ-वृत्ति और ब्रह्मानन्द-सुख का लाभ नहीं होगा इसलिए वह आत्मविद्या दृढ़ होने के हेतु यह उपक्रम किया गया है.

२ अभ्यास-विषय में यहाँ हम एक विलक्षण सिद्धान्त कहने वाले हैं. इसलिए कि, बहुधा किसी ग्रन्थ में इस विषय की

समन्वय पूर्वक सयुक्तिक रीति से सज-धज की हुई दिखाई नहीं देती. वास्तविक देखें तो अनन्त वेद और अनन्त सिद्धान्त कहे गये हैं, तथापि सर्व-सिद्धान्त और वेद-रहस्य अविद्या से आवृत्त लोगों की समझ में आना कठिन है, इसलिए विश्वरूपी परमात्मा की सेवा और जनता विषयक उपकार-बुद्धि के हेतु हम यह खुलासा कर रहे हैं.

३ बहुधा ऐसा ही कहा गया है कि, शरीर-कष्ट और इन्द्रिय-निग्रह करने वाले को भी मन की एकाग्रता सुलभ नहीं किन्तु बड़ी ही दुर्लभ है, परन्तु हम प्रतिज्ञा-पूर्वक कहते हैं कि उत्तम विचार, यही चञ्चलता दूर करने का सुलभ साधन है. इस कथन में मर्मपूर्ण रहस्य यह है कि, विना मन की सहायता के प्राण, शरीर और इन्द्रियों की हलचल तक नहीं होने पाती. मन का आधिभौतिक रूप यानी मन वायु-तत्त्व से बना हुआ है. सत्वांश लोप हो जाने से जड़ता यानी तामस गुण बढ़ने के कारण यद्यपि निद्रा-काल में मन की ओर से ज्ञानयुक्त क्रिया नहीं हुआ करती, तथापि चञ्चलतादि क्रिया-रूप कर्म, शरीर की हलचल होती ही रहती है. इस चतुर्विध सृष्टि में वृक्ष-पाषाणादिक अत्यन्त जड़ कहलाने वाले पदार्थ हैं, उन में भी मन आधि-भौतिक-रूप से व्यापक रहने के कारण सकल पदार्थों की हलचल हुआ करती है. इतना ही नहीं, किन्तु निद्रा अवस्था की तरह जड़ में भी आत्मा व्यापक रहता है. केवल अन्तःकरण

द्वारा जिसमें जड़ांश अल्प रहा करता है इस कारण मनुष्य-व्यवहार में पहिचान प्रकट होती है. आत्मा पूर्ण ज्ञान-रूप और सब के लिए समान है, तथापि ज्ञातृत्व, पहचान यह मनो-व्यापार के विना उत्पन्न नहीं हो सकती. यह मनुष्य-देह पशु-पक्षि आदिकों से महान् अधिकारी कहलाता है. विराट्-देह में के पञ्च-तत्त्वों से जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और लय हुआ करते हैं. हिरण्य-गर्भ के शरीर से जितने अधिकारी शरीर पूर्व काल में बने हैं उनमें सुर, असुर, मुनि, मनुष्य आदि तारतम्य स्पष्ट दिखाई देता है, तथापि यहाँ यह भी कहना आवश्यकीय है कि, केवल मनुष्य-शरीर में ही कर्म-सञ्चय हुआ करता है और अन्य शरीर शेष पाप-पुण्य भोगने के लिए ही प्राप्त होते हैं इसी लिए मत्स्य (मछली) पर कीटक-भक्षण का दोष नहीं लद सकता. इसी न्याय से हिंसक पशु-पक्षी आदिकों की जीवनी इतर प्राणियों पर हुआ करती है.

"जीवो जीवस्य जीवनम्"

-(तेजोबिंदूपनिषत्)

अस्तु, यह विषय बृहदारण्यकोपानिषद् में कहा ही गया है. सारांश, बद्धता, मुक्तता और आत्मविद्या-प्राप्ति का अधिकार मुख्यतः मानुष-शरीर में ही है.

४ ऊपर जो कहा गया है कि, समस्त प्रकर के व्यवहारों में मन की व्यापकता रहती है चाहे वह ज्ञान सहित अवस्था रहे अथवा ज्ञान रहित, उसपर से सिद्ध होता है कि शरीर, प्राण और इन्द्रियों से जो जो क्रियाएँ होती हैं उनका आघात मन पर

होता है. सकल तत्त्वों में शक्तिप्रद और अवकाश-रूप आकाश व्यापक रहने से सभी व्यवहारों में मानस-सञ्चार मानना ही चाहिए. कोई ऐसा न समझ बैठे कि, सांख्य-शास्त्र और योग-शास्त्र के सिद्धान्त अलग अलग हैं. श्रीकृष्ण कहते हैं-

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ५.)

[संन्यास और निष्काम कर्मयोग को मूर्ख लोग अलग अलग (फलवाले) कहते हैं न कि पण्डितजन ! (क्योंकि दोनों में से) किसी एक में भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ (पुरुष) दोनों के फलरूप परमात्मा को प्राप्त होता है.] अवसर मिले तो इस विषय पर हम स्वतन्त्र एक सविस्तर लेख लिखने वाले हैं. तुरन्त इतना ही कह देते हैं कि, मनुष्य जब कभी मन से कोई काम करने तत्पर होता है तब वह क्रिया समाप्त हुए तक सहज ही उसके मन की एकाग्रता होती ही रहती है. कैवल्योपनिषद् के कथनानुसार ज्ञानमथन, आत्मविद्या की जिसको अच्छी पहिचान है उसको इतर साधनों की न आवश्यकता ही रहती न इच्छा ही -

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥५॥

(उपदेशसाहस्री, तत्त्वज्ञानस्वभाव प्रकरणम्)

(देहात्मविषयक ज्ञान की तरह आत्मविषय में ही देहात्मज्ञान का बाध करने वाला ज्ञान जिसको प्राप्त हो जाता है वह इच्छा न रखता हो तो भी मुक्त हो जाता है.)

इस सिद्धान्त का विचार करने पर अज्ञानी लोगों का यह कहना कि, "ज्ञानी भी विषय-बन्धन से दुःख भोगते हैं" कहाँ तक यथार्थ है? पाठक ही अच्छी तरह समझ लें! एक, अजित, दृष्टान्तरहित अपूर्व जैसे आत्मविद्या का अभ्यास जिन्हों ने किया है उनको कोई भय नहीं रहता. इस आत्मविद्याभ्यास के अनन्त प्रकार वेदान्त में कहे गये हैं. उनमें से सुगम अभ्यास हम बतलाते हैं कि, "एकान्त में विचार करना" यही मुख्य अभ्यास है. "यथात्कल्पितासनः" इस कथनानुसार साधक सुखासन पर बैठकर निम्न लिखित विचार करें, तथा इस प्रकार अभ्यास का अपने चित्त को दृढ़ परिचय देते रहें.

५ सब वेदान्त-ग्रन्थों में अध्यात्मरूप सच्चिदानन्द के नाम से श्रीदत्तात्रय का वर्णन है. भले, बुरे सब प्रकार के मानसिक इन्द्रिय-व्यवहार में उस सच्चिदानन्द-रूप के प्रत्यक्षता का निश्चय जमा लें. प्रथमतः आत्मरूप आत्माकाश मन में पैठाकर उसमें पञ्चमहाभूतों का लय करना चाहिए, यह एकान्त-दशा में के अभ्यासविषय में कहा गया. उसी प्रकार व्यवहार में भी विषय और कारण-रूप इन्द्रियें और सबमें स्थित आत्मशक्ति का प्रभाव हर घड़ी अनुभव पूर्वक पैठाना चाहिए.' वास्तविक विचार किया जाय तो कैसे भी दृश्य पदार्थों में काम-क्रोधादिक

टिप्पणीः-१ "आत्मशक्ति का प्रभाव" ऐसा जो कहा गया है उसमें ग्रन्थकार का आशय यह है कि, आत्मा के अनेक नाम श्रुत हैं. इतना ही नहीं, किन्तु सभी शब्द आत्मा का ही निर्देश करते हैं. उसमें मन, बुद्धि, अन्तःकरण यह शब्द भी आत्मवाचक ही हैं यह न भूलना चाहिए. श्री अवधूतगीता में वचन आया है कि-

तामस–अथवा भक्ति, भाव, प्रेमादिक राजस–विकारों में किम्वा ज्ञान आत्मनिष्ठा और आत्म–विद्यादि सात्विक विकारों मे जो जो कुछ विकार रूप मानस–प्रत्यय उत्पन्न होते हैं और भोगप्रद बने सुख देते हैं उन सबों में सच्चिदानन्द–स्वरूप पूर्णतः व्यापक हैं. मानो कि, कोई विषय चाहे स्रक्चन्दनादि भोग्य पदार्थ हो चाहे षड्रसात्मक खाद्य रहे, उन जड़ पदार्थों में सत्यता, प्रकाश और प्रेम नहीं रहता, किन्तु उन पदार्थों में भी सत, चित, आनन्द और अस्ति, भाति, प्रिय लक्षणाओं से युक्त आत्मा भर-कर बचा हुआ हैं, उसके शक्ति से ही सकल विषय भोगने के योग्य बनते हैं. चाहे कोई खाद्य पदार्थ क्यों न हो, उसमें प्रथमतः अज्ञान के कारण ऐसा भासता है कि "यह रुचि पदार्थ की है" परन्तु स्वतः पदार्थ में रुचि और सुख है ही नहीं, तथापि रोच-कता जो जान पड़ती है उसका क्रम :– इच्छित विषय पल्ले पड़ जाने पर मन को सुख होता है, परन्तु वह गुण और वह सामर्थ्य पदार्थ में रहता ही नहीं. केवल अपने अपने इच्छाविषयक विषय-ग्रहण–व्यापार में स्वसमानाश्रित अन्तःकरण–पञ्चक पर आघात होकर जिन जिन विषयों की ओर जिस जिस इन्द्रिय का आक-र्षण होता है, वह आकर्षण गुणसामान्यानुरूप होता है. यानी शब्द गुण आकार का है, इसलिए तदंशभूत श्रोत्रेन्द्रिय शब्द की

मनो वै गगनाकारं मनो वै सर्वतोमुखम् ।
मनो वै परमात्मा च न मनः परमार्थतः ॥

(अवधूतगीता, प्रथमाध्याय, श्लोक ९.)

[मन ही गगनाकार, सर्वव्यापी और सकल दृश्य वस्तुओं से परे है. परमार्थतः (विचार कर देखा जाय तो) मन ही परमात्मा है.] समुद्र जब ज़ोर से उछाल मारता है उस समय उसीको लहरी, फेन, जल, हिलोरा इत्यादि नाम प्राप्त होते हैं, उसी तरह—

ओर दौड़ता है, उसी न्याय से मन स्पर्श की ओर, चित्त रस की ओर और अहङ्कार गन्ध की ओर दौड़ते रहते हैं. विरुद्धपक्ष में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विषय भी अपने अपने इन्द्रियों की ओर मुड़ते हैं. यानी उन विषयों का आघात उन उन इन्द्रियों पर होता है. अस्तु.

"आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि । ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि । योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि । अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि । अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा ॥१५॥

(नारायणोपनिषद्.)

इस प्रकार के अनेक उपनिषद्वाक्यों पर से चेतन में ही सर्व-सामर्थ्य रहा हुआ सिद्ध होता है. देखिए ! कि, अवगति यह आत्म-ज्योति रहते हुए सर्व-विषय-भासक है. समस्त प्राणिमात्रों को, और तो क्या, योगी, ज्ञानी, देव, गन्धर्व, ऋषि, मुनियों को मनोनामक आत्म-ज्योति के विना और कोई पदार्थ है ऐसा नहीं कहा जायगा. और सक्रिय आत्मा का 'मानस' यह नाम रहते हुए उससे उत्पन्न होने वाले काम-क्रोधादिक विषय ही भिन्न-रूप से अनुभव में आते हैं. विषयों से सम्बन्ध रहने के कारण अच्छा, बुरा, मूढ, कुतर्की, सुज्ञ, कुशल आदि मन के ही विशेषणाएँ माननी पड़ती हैं. मुकुन्दराज ने जो स्वरूप-स्फुरण दीख पड़े उसे अन्तःकरण, मन और स्थिर तेजोमय आत्मा को ब्रह्म कहना चाहिए यह कपास, डोरी के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है. अर्थात् साधक गण ऐसा न समझ लें कि, विना आत्म-चिन्तन के मन को शान्त रखने वाला कोई अन्य साधन है. कारण, खूब ध्यान में रखें कि "आत्मा" यह एक का ही नाम है. इसमें आत्मा अक्रिय और मन सक्रिय ऐसा सन्देह नहीं करना. इस-लिए कि, जिस समय में आत्मा मायाशक्तिविशिष्ट रहता है उस समय इसको "मन" यह नाम प्राप्त होता है. यह विचार हमने बहुत जगह लिखा है, वहाँ वहाँ साधक जन दृढ़ ध्यान देकर पढ़ें.

६ विषयों का इन्द्रियों पर आघात कैसा होता है यह सब शास्त्रों में कहा ही गया है. जब "मैं कामी, मैं क्रोधी, मैं लोभी" ऐसा प्रत्यय हमें आता है, उस समय जड़ को तो कुछ भी स्फुरण नहीं होता, तब क्रोधरूप, कामरूप, लोभरूप और मोहरूप आदि विकल्पाकृतियां धारण करना, प्रतिक्षण में वासनारूप सङ्कल्प-विकल्पाकृति बनना और आवेश उत्पन्न करना, यह काम मन का है. परन्तु उस आकृति का भास कराना अथवा ज्ञान का उजियाला डाल कर ज्ञातृत्व (जानकारी) उत्पन्न करना और मन पर ज्ञातृत्व-प्रकाश डालना, यह शक्ति आत्मा में ही है, अन्य में नहीं. यहाँ साधकों को कठिनाई न जान पड़े इस हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विशेष विवेचन न करते थोड़े में कहा जाता है. प्रत्यक्ष होना यानी प्रमाण, प्रमाता और विषय यह सब चैतन्य की अभेदता[1] है. संक्षेप से कहें तो, प्रमातृ-चैतन्य, प्रमाण-चैतन्य और विषयचैतन्य के द्वारा जो अभेद उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं. अस्तु, ऊपर जो प्रतिज्ञा की गयी है उसका स्पष्टार्थ यह है कि, कोई भी व्यवहार चाहे विषय रहे चाहे प्रत्यय, वे स्वतः अपने शक्ति से प्रिय नहीं रहते किन्तु उनमें सत्चित्-आनन्दरूप स्पष्ट हुए बिना उन विषयों का सुख नहीं

टिप्पणीः—१ अभेद यह विशेषण चैतन्य को दिया गया है, तथापि यह औपचारिक है. वास्तविक देखें तो विषय, इन्द्रियें और अन्तःकरण इनकी एकता यानी अन्तःकरण इन्द्रिय द्वारा विषयों से ऐक्यता को प्राप्त हो जाय तब ही कहा जाता है कि, प्रत्यक्षता प्राप्त हुई. व्यवहार में तो जिस व्यापार में इन्द्रियों की आवश्यकता है, उसको केवल प्रत्यक्ष कहने की परिपाटी है. इस प्रत्यक्ष-ज्ञान में इन्द्रियों का महत्त्व कितना है इसकी विस्मृति न होने पाय.

मिल सकता. विशेषतः प्रशान्त बुद्धि में यह लक्षणाएँ अधिक स्पष्ट होती हैं. स्वेच्छित विषयलाभ उठाने पर मन शान्त होता है. उस समय में भी जैसा कि विद्यारण्यमुनि ने तारतम्य कहा है सत-चित्-आनन्द का प्रभाव पदार्थ के ग्राहक-शक्ति के अनुसार दीख पड़ता है. सुस्वर शब्द से, सुखप्रद स्पर्श से, सुन्दर रूप से, सुरस खाद्य-पदार्थों से अथवा सुगन्ध से उस उस विषयप्राप्ति निमित्तक जो आनन्द और जो सुख होता है, वह सब चिदानन्द-रूप आत्मा का महिम महिमा समझना चाहिए. यह दृढ़ता से धँस जानेपर विषय में रुचि और उस सम्बन्ध की आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती. कारण, जिस वस्तु में वास्तविक सुख नहीं यह यदि समझ में आजाय तो उस वस्तु की ओर मन की फिर कभी प्रवृत्ति नहीं होने पाती.

७ ऊपर जो प्रतिज्ञा की गयी है उसमें का मुख्य हेतु इतना ही है कि, आत्मविद्या से सब प्रकार का लाभ होता है, यह पैठाना चाहिए. उसके लिए पृथक् साधन-सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं. विद्या के साधनीभूत होने वाले जो शमदमादिक हैं वे व्यावहारिकविद्या में भी आपसे आप स्पष्टतया अनभव में आते हैं. जैसे सरकश में तारपर से चलने वाले को उस विषय का अभ्यास करते समय उसको उस विद्या की अनुकूल मर्यादा तक शमदम-तितिक्षा यानी आन्तरेन्द्रियों और बाह्येन्द्रियों का निग्रह, पथ्य परिपालन, नियमितता इत्यादि गुण आपसे आप सिद्ध होते रहते हैं. वैसे ही मूर्ख मनुष्य में जो उजड्डपन (उद्धत स्वभाव) वह ज्ञानी पुरुषों में नहीं रहता. कोई विद्वान् यदि व्यसनी रहे

तथापि उसने जो जो विद्या और गुण सम्पादन किये हों उसमें यत्किञ्चित् भी न्यूनता आने नहीं पाती. किन्तु वह आगे चलकर श्रवण मनन करता हुआ अपने आप ही आत्मज्ञान की ओर अग्रसर हो जाता है. और भी व्यवहार कैसा है यह अब देखें! आधुनिक विद्वान् तो गणित, भूगोल इतिहास, विज्ञान इत्यादि विषयों में प्राविण्य (निपुणाई) प्राप्त करने के लिए द्वीपान्तर चले जाते हैं और वहाँसे बड़ी बड़ी पदवियाँ प्राप्त कर लौटते हैं, वे प्राप्त करते समय उन्हें तितिक्षा, वैराग्य इत्यादि धारण करना ही पड़ता है. पर वे ऐसा तो नहीं समझते कि वह एक स्वतन्त्र साधन है यानी वैराग्यादिकों का कोई पृथक् अभ्यास नहीं करते. कारण, उस विद्या के अनुकूल इन्द्रिय-निग्रह, काम-क्रोधादि विषयों का पथ्य और उस विद्याप्राप्ति में रुकावटें पैदा करने वाले जो जो भोग-वृत्तियाँ हैं उनके सम्बन्ध में द्वेषबुद्धि आपसे आप ही उत्पन्न होती है. अर्थात् विद्या-सम्पादन की चाट लग जाय, और मन की दौड़, प्रवृत्ति जिधर जोर खाए उधर ज्ञानेन्द्रियें भी आपसे आप ही मुड़ जाती हैं. अलग साधन-सम्पत्ति प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं पड़ती. अस्तु.

८ वैराग्य प्राप्त कर लेना ही चाहिए. ऐसा यदि आग्रह ही धरें तो भी उसपर दोष आता ही है. कारण, निग्रह से इन्द्रिय-दमन करना यानी कहना पड़ेगा कि तामस वृत्ति को बढ़ाना ही है. इस विषय में अनेक ग्रन्थों में दूषणाएँ बतलाई गई हैं. आधु-निक जगद्विख्यात महन्त बाबा काली कमली वाले पक्षपात-

रहित "अनुभवप्रकाश" नामक ग्रन्थ में पदार्थों की क्षणिकता, मिथ्याबुद्धि पूर्णता से पैठे विना मन को शान्ति और विषय, पदार्थ सम्बन्ध में वासनात्याग नहीं होगा ऐसा स्पष्टता से प्रतिपादन किया है. इसके अनन्तर हम आगे यही प्रतिज्ञा पूर्वक दिखा देते हैं कि, चाहे कोई भी व्यवहार हो, वह चिद्रानन्दरूप आत्म-शक्ति विना नहीं होने पाता.

९ ऐसे पण्डितों को जो कहते हैं कि, केवल मानसिक व्यापार से ही इन्द्रियें वश में नहीं आतीं, उनका दमन होने के लिए निराहारादिक अन्यान्य श्रम उठाने पड़ेंगे ही, इसपर हमारा यह कहना कि "विचार से ही इन्द्रियदमन होता है" मान्य नहीं होगा, परन्तु विचार करनेपर समझ पड़ेगी कि, ज्ञानाभ्यास और आत्म-विद्या ही समस्त साधनों का फल, इन्द्रियदमनादि सिद्धि और योग सामर्थ्य प्राप्त कर देने वाली है. कितने ही ग्रन्थों में पूर्वपक्ष-रूप से वचन आये हैं अथवा वे सिद्धान्तरूप हैं इसका विचार न करने के कारण पाठक भ्रम में पड़ जाते हैं जैसा कि समर्थ कहते हैं—

"शिष्यासी न लावी साधन। न करवी इन्द्रियदमन॥
ऐसे गुरु अडक्याचे तीन। मिळाले तरी त्यजावे ॥२१॥

(दासबोध, दशक ५, समास २.)

(ऐसे गुरु जो कि शिष्य को साधन में नहीं लगाते, उनसे इन्द्रियदमन नहीं कराते (संसार की बाजार में) यद्यपि दमड़ी के तीन तीन बिकते हों तो भी त्याग देना चाहिए.)

अथवा "कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव" पाठक गण!

ऐसे कहने वाले अधिकतर (कौड़ी के तीन तीन, चार चार भी) दीख पड़ेंगे; परन्तु विद्याभ्यास की जिसको पूर्णता से चाट लगी हो, उसको इन्द्रियदमन-सिद्धि सुलभता से प्राप्त होकर साथ ही साथ ज्ञान इत्यादि बातें भी स्वयम् होकर उसकी ओर मुड़ने लगती हैं, यही इस ग्रन्थ में हमने प्रतिज्ञा के साथ कहा है. समर्थ के ग्रन्थ के "गोसावी" प्रकरण में सिद्ध की जो निन्दा की गई है वह वहाँ सविस्तर उल्लेखित है, तो भी उसकी मुख्य टक (ताक) जो कोई ज्ञान-रहित हो और केवल सिद्धि के कारण झञ्झट में पड़ा हुआ हो उसकी ओर ही है. इसलिए उसका अर्थ ऐसा नहीं होता कि, ज्ञानी को सब भोग नहीं प्राप्त होते और उसके लिए स्वतन्त्र साधन की आवश्यकता है. कारण, जो अकामहत भाग्यवान् है उसको मानुषानन्द से लेकर स्वर्गादि समस्त लोकों का सुख और अन्त में ब्रह्मानन्द की प्राप्ति सहज होती है, ऐसा श्रुति का डङ्का चहुँ ओर बज रहा है—

" सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति (३) "

(तैत्तिरीयोपनिषत्–शीक्षाध्यायः, प्रथमा वल्ली ॥ पञ्चमोऽनुवाकः।)

इस वाक्य में सकल देव भी ज्ञानी पुरुष को बलि अर्पण करते हैं, यानी सकल भोग और ऐश्वर्य ज्ञानी पुरुष के दास बन जाते हैं, ऐसा कहा है. कैसे भी पूर्ण भोग को ज्ञान-विना अन्य कोई साधन ही चाहिए, ऐसा कहने वाले कितनी योग्यता और अधिकार के हों सो हों! अब मूर्ख अथवा जिनकी प्रवृत्ति विषयों की ओर ही है ऐसे लोगों को श्रेष्ठ पुरुषों ने जो यमानियमादि साधनों का मार्ग बतला रखा है उसमें उनकी उपकार-बुद्धि ही प्रकट होती रहने से उन्हों ने यद्यपि साधनों की आवश्यकता है ऐसा कहा भी हो तो उससे उनमें कोई न्यूनता नहीं आती. अब

इसपर कोई प्रश्न उठाएँगे कि:-यदि ऐसा है तो फिर साधन-सम्पत्ति पर तुम्हारा इतना कटाक्ष, इतनी घनिष्ठता क्यों और किसलिए? उसका यह उत्तर है कि, किसी बटुक का जब उपनयन होता है उस समय में ही उसको "अथातो धर्मजिज्ञासा" "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रकार का उपदेश दिया जाता है, परन्तु उसी समय वह ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी नहीं रहा करता! पर उस ओर किसीका चित्त भी नहीं खिंचता. इसपर भी कोई कह बैठेंगे कि, ऐसा उपदेश केवल ब्राह्मणों को ही दिया जाता है, इतरों को उसका अधिकार नहीं. हमारा कहना तो ऐसा है कि, सभी मनुष्यमात्र को आत्मविद्याभ्यास करने की योग्यता (अधिकार) प्राप्त है और यह पहिले स्पष्टता से कहा ही गया है. अस्तु, अब इसके आगे हम आत्मा की व्यापकता कैसी है यह प्रसङ्ग के अनुसार कह देते हैं.

१० जिस समय में कि मनुष्य को अमेध्य पदार्थ विषयक प्रबल इच्छा हो जाती है उस समय प्रिय विषय की ओर मन का जो आकर्षण होता है उसमें केवल आत्मा का प्रियरूप स्पष्ट दीख पड़ता है. इस सम्बन्ध में यावनी भाषा में "परम प्रिय" अर्थ दर्शक "इश्क" शब्द से सत्य आत्मरूप का वर्णन किया गया है. यह विशेषण आत्मा को देने का कारण यह है कि, प्रेम-स्नेह रहे विना घनिष्ट आकर्षण-शक्ति उत्पन्न नहीं होगी. इन्द्रियें विषयों की ओर दौड़ती हैं यह भी प्रेम का ही आकर्षण समझना चाहिए. बिजली, हवा, पाषाणादिक सभी पदार्थों में प्रियरूप आत्मा ही भरा हुआ है. इस प्रकार प्रेम (इश्क) -मनोमुग्धकारी प्रियतम की व्यापकता कही गई. उसी तरह जानकारी में भी

अल्प-ज्ञान, पूर्णज्ञान सा भेद यद्यपि स्पष्ट दिखाई देता हो तो भी प्रकाशरूप ज्ञानाकाश एक ही रहते हुए उपाधि-तारतम्य के कारण न्यूनाधिक प्रकाश पड़ता है. यह ज्ञानविषयक व्यापार का दृष्टान्त हुआ. सत्, चित्, आनन्द और अस्ति, भाति, प्रिय इनकी व्याप्ति भी ऐसी ही सर्वव्यापक-स्वरूप की है. इच्छा के न्यूनाधिकत्व के दृष्टि से प्रेम भी न्यून, अधिक दिखाई देता है, परन्तु वस्तुतः प्रेमरूप में न्यूनाधिकता कुछ भी नहीं रहती किन्तु केवल वैसा भास होता है. जैसे पुरुष को स्त्री की चाह और स्त्री को पुरुष की चाव रहती है, पर प्रेम यह कुछ उन स्त्री पुरुषों के आकृति में ही आकर्षित नहीं रहता. वह रूप-रज्जु से बद्ध होने वाला नहीं. किन्तु आकाश की भाँति सर्वव्यापक है; परन्तु वह जिस उपाधि के कारण उमड़ कर आता है, उस उस आकृति के अनुरोध से ही उसमें अल्पत्व अथवा बाहुल्य (अधिकत्व) दिखाई देता है. वास्तविक देखा जाय तो स्त्री पुरुष इन दोनों में परस्पराकृष्ट परमप्रेम तो एक ही एक है! उसमें स्त्री.लिङ्ग, पुलिङ्ग यह भेद है ही नहीं. कारण, प्रेम यह केवल आत्सरूप' ही है. इस प्रेम-शक्ति के कारण से ही सब अच्छे बुरे इन्द्रिय-व्यापार होते रहते हैं. साधक गण यह पहचान कर विषय-निन्दा की ओर अथवा विषय-रुचि की ओर न मुड़ते हुए विषयप्रकाशक कौन है

टिप्पणीः-१ मनुष्य प्रेम से जिस विषय का भोग लेता रहता है उस विषय से आत्मा अभेदरूप होकर भासता रहता है. "मैं कामी, मैं क्रोधी" आदिक स्फुरणों में भी वह रहता ही है; परन्तु उस कारण वस्तुतः आत्मापर कोई दूषण आने नहीं पाता, किन्तु उससे तो उलटा आत्मा का सर्वत्र भरा हुआ अस्तित्व ही प्रकट होता है. इसलिए सर्वव्यापक ऐसा जो चेतन वह मैं ही हूँ यह अनुभव हृदय में गड़ लेना चाहिए.

इधर पूर्ण चित्त लगाएँ तो प्रिय वस्तु की ओर ही मन की दौड़ बढ़ती जायगी और विषयों-परति, शमदमादि साधनाएँ आपसे आप ही साध्य होने लग जायेंगी इसीलिए ज्ञान-सम्पादन ही एक मुख्य साधन है उसके विना किसी अन्य साधनों की कोई आवश्यकता नहीं ऐसा यहाँ कह रखने में हम ज़रा भी नहीं हिचकिचाते.

११ इसके आगे मन की चञ्चलतापर भी ऐसा ही एक उपाय बतलाया है. मन, अन्तःकरण यह ज्योतिरूप आत्मा का ज्वलन अथवा आकाश की गर्जना है. अनिमित्त सहज-सामर्थ्य बतलाने वाले समुद्र के लहरियाँ जिस प्रकार उछाल मारती हैं उसी तरह यह मन सर्वदा स्फुरता ही रहता है. निरन्तर सङ्कल्प-विकल्पादिकों का ऐसा तांता लग जाता है कि एक क्षण के लिए भी टूटने नहीं पाता. जब कभी उसे देखो वह किसी न किसी सङ्कल्प-रज्जु में बंधा का बंधा दिखाई देगा! इसमें जड़ांश रहते हुए भी अन्तःकरण, मन, चित्त बुद्धि, अहङ्कार यह जड़रूप दृश्यों को चैतन्यरूप से भास कराने वाले होते हैं. जैसा ब्रह्म-तेज पर जगदाभास होता है उसको समष्टि कहते हैं, उसी प्रकार कूटस्थ-तेज पर मनोविकल्प का आभास होता है. अस्तु, श्रीप्रभु यदि कार्यसिद्धि कराएँ तो बड़े उल्हास के साथ आगे हम इस विषय में स्वतन्त्र लेखरूप से विस्तृत विचार करेंगे.

१२ उपनिषद् और वसिष्ठ-याज्ञवल्क्य इत्यादिकों के ग्रन्थों में योग्य-मार्ग से ही बड़े युक्ति के साथ मनोनिग्रह साध्य

करना चाहिए ऐसा जगह जगह प्रतिपादन किया गया है, परन्तु हम तो उस मन को कहते हैं कि, ब्रह्मसामर्थ्य बतलाने वाला वह एक आत्मा का ही लक्षण है. जैसे कि सत् चित्, आनन्द, प्रकाश और स्वरूप ये तटस्थ और स्वरूप-लक्षणाएँ कहलाती हैं, वैसा ही जगदाकार भास कराना भी तो एक ब्रह्म-लक्षण ही है. इस सम्बन्ध में वासिष्ठ मुनि ने—

"सर्व शक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ।
ययोल्लसति शक्याऽसौ प्रकाशमधिगच्छति ।

{ पञ्चदशी, अद्वैतानन्द, श्लोकार्ध १४, १५.
योगवासिष्ठ, तृतीय प्रकरणम् }

"ब्रह्म-तेज सर्वशक्तिमान् हैं. सकल सामर्थ्य चैतन्य में ही रहते, देवादिक भी उसके आज्ञाधारक हैं" यही स्पष्टता पूर्वक कहा है. सर्वशक्तिमान् चैतन्य-तेज से समष्टिरूप सृष्टि का भास होता है, उस प्रकार व्यष्टि-रूप कूटस्थपर मानसाभास होता है, यह समझ पाने पर भी जिनको सृष्टि का द्वेष करना हो तो वे जी भरके मन का द्वेष करें.

दन्तिनि दारुविकारे दारु तिरोभवति सोऽपि तत्रैव ।
जगति तथा परमात्मा परमात्मन्यपि जगत्तिरोधत्ते ॥९४॥

—(स्वात्मनिरूपण.)

इस श्रीमदाचार्योक्तिनुरूप देखा जाय तो अपनी सहजशक्ति अपनेही को विलास-शक्ति से कैसी और क्योंकर बाधित होगी! जो साधारण सिद्धि सम्पादन करता है, वह अभ्युदयेच्छु कहलाता है. उसको जो अणिमादि सिद्धियों का लाभ होता है

उसमें आठवीं वशित्वासिद्धि यानी पाप-पुण्य में अलिप्त-असङ्ग रहना यह है. आत्मरूप तो अनन्त शक्तिसम्पन्न रहने के कारण जिस तरह कि लहरियाँ कितना क्यों न उँचा उछलने लग जायँ तो भी उससे समुद्र में विभाग होता ही नहीं, उस प्रकार मन भी केवल लहरी की तरह रहने के कारण वह ब्रह्माभिन्न है. उस मानस-शक्ति के प्रभाव से अनेक प्रत्यय, दृश्य उत्पन्न होते हैं. उस समय वह मन मलिन, विकारी भासता है. इस सम्बन्ध में श्री मुकुंद राज ने उत्तम प्रकार से विचार किया है. कहते हैंः-

"जैसा कापुसापासून निघे दोरा। तोचि तया भास दूसरा।
तैसे मनबुद्धिचित्तअहंकारा। होणें स्वरूपासूनी ॥१४॥
तो पीळ नुकलितां दोरा। म्हणावा परी कापूस खरा।
उकलितां नुकलितां दुसरा। भाग नाहीं ॥१५॥
नातरी उदकाचा तरंग। तेथें दुसरा नाहीं भाग।
तो विरालिया चांग। उदक उदकीं ॥१६॥
परी जळातरंगांचेनी कांहीं। आणिक विजातीय नाहीं।
तैसे मन माघारे आत्मयाचे ठायीं। तंव तें नाहींच होय ॥१७॥

-(परमामृत. लिङ्गदेह-निरसन, पञ्चम प्रकरण.)

(जिस तरह कि कपास से धागा निकलता है वही उसका दूसरा भास है, उस प्रकार स्वरूप से पृथक् मन, बुद्धि, चित्त अहङ्कार का बनना कहलाता है ॥

बल दिया हुआ न अलगानेपर उसे तन्तु (तागा) कहते तो हैं, पर वस्तुतः रुई ही रुई है. बट खोलते या न खोलते कोई अन्य अवस्था उसकी है ही नहीं ॥

अथवा, उदक और तरङ्ग में कोई भेद नहीं। लहरियों के घुल-मिल जानेपर पानी बना का बना रहता ही है॥

विना पानी के कोई अन्य विजातीय उसमें है ही नहीं। उसी प्रकार मन लौट कर आत्मा में मिल जाय तब मन "मन" ही नहीं रहता॥)

इसपर से विशेष देखा जाय तो मन में स्थित चञ्चल आभास, नाम-रूप नष्ट होकर केवल चैतन्य का अनुभव आता है. अर्थात् सहजस्थिति, "मैं आत्मा हूँ" यह देखने लग जायँ तो सभी विकार आपसे आप नष्ट हो जाते हैं. वेदश्रुति में "अहंग्रहोपासना" यह नाम आत्मज्ञान को देकर स्पष्टार्थ कहा गया है कि, आत्मा समस्त लक्षणाओं से जाना जाय तो वह इच्छा रहित होता है और उसको सकल सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं. इसमें यह सिद्धान्त है कि, कैलासादि लोक जो शुद्ध तेजोमय हुआ करते हैं. वहाँ रहने वालों को सहज ही ज्ञान-प्राप्ति और मोक्ष-सिद्धि होती है, ऐसा लिङ्ग-पुराणादि अनेक ग्रन्थ कहते हैं. जब कि वहाँ के निवासी ज्ञानी हैं और उस स्थान में आत्मविद्या सुलभता से प्राप्त होती है तब तो यह सिद्ध ही है कि, ज्ञान नित्यसिद्ध होते सबमें अनुस्यूत (आर पार भरा हुआ) वह आत्म-रूप ही है. संन्यासी, वैराग्यशील, परमहंस इनके केवल वेष में आत्म-ज्ञान नहीं रहता, किन्तु जो पुरुष आत्मज्ञानी है, उसको ही उपर्युक्त विशेषणाएँ लागू होती और फबती भी हैं, ऐसा अनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है.

"प्रवृत्तिलक्षणो योगी ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥
—(अनुस्मृति.)

हमने तो राजस, तामस, सात्विक वृत्तियों में विषयभोग को प्रतिज्ञा पूर्वक आत्म-स्वरूप ही बतलाया है. दुःखनाश और सुख-प्राप्ति को ही मोक्ष कहने वाले षड्दर्शनशास्त्रों में कई दिखाई देंगे, परन्तु हमने तो पहले ही सिद्ध कर दिखलाया है कि, कहीं भी दुःख का नाम तक नहीं, हर्ष-आनन्द यह भी एक दिखाऊ (तमाशा) दृश्य है. उदाहरणार्थ-शिशु (बच्चा) जब रोता है, उस समय रोने में ही उसको आनन्द होता है इसलिए वह रोता है. 'रोने से दुःख हलका होता है.' (यह कहावत तो प्रसिद्ध ही है!) अब सब प्रकार के अभ्यास करने वाले ऋषि, मुनि, गन्धर्व, योगी, अधिकारीयों को सम्बोध कर यह सूचित कर रखते हैं कि, सब कुछ प्राप्त हो जाता है. उसको आश्रम-धर्म, वय, काल समय की कुछ भी आवश्यकता नहीं है. सर्वदर्शनसिद्धान्तशास्त्र में भी आत्मज्ञान, वेदान्त यही एक सही है ऐसा कहा गया है. वही आत्मा हमारा सारा कायिक व्यापार करता और कराता है, वैसा ही वह सर्व सिद्धिमान, पूर्ण और नित्य है. सिद्धि-सामर्थ्य हमें नया प्राप्त करना नहीं पड़ता, यह स्वप्न-विचार (पूर्वार्ध २६) में स्पष्टतया पहिले कहा ही गया है. अर्थात् हम सहजमुक्त, सार्वभौम, नित्यतृप्त, अखण्ड एकरूप हैं ही हैं, यह अच्छी तरह छान कर मन में पैठाना चाहिए. यदि यह न हो सके तो सकल अभ्युदय और निश्रेयस-फल देने वाली क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिए. उस विषय में प्रस्तुत ग्रन्थकार का कोई प्रतिबन्ध,, विकल्प अथवा किसी मार्ग से क्यों न हो जो आत्मोन्नति कर लेता है उसके सम्बन्ध में अनादर, निन्दा अथवा विपरीत भावना किञ्चिन्मात्र भी नहीं है. कारण, योगाभ्यास में भी आत्मोपासना, आत्मस्तवन और आत्मप्राप्ति ही

तो मुख्य है और वेदान्त का तो संशयरहित ज्ञान, यानी "मैं ही आत्मा" यह अटल सिद्धान्त है. जड़ को किसी प्रकार का कुछ भी अधिकार नहीं. है. समाधि में भी वही आत्मा है. कर्मकाण्डी का भी चालक वही आत्मा है. इतना ही क्या, पर-निन्दा, स्तवन, अभ्यास, पाप-पुण्यादि सब में अनुभव से और प्रमाण से प्रमाण, प्रमाता, कर्ता, भोक्ता, व्यापक आत्मा ही है. जो जो घटना घटती है वह सब आत्मा को ही अर्पण होती रहती है.

"देवार्चनस्नानशौचादिभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥२६९॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥२७०॥
—(पञ्चदशी, तृप्तिदीप.)

उपर्युक्त दो श्लोकों में विद्यारण्यस्वामी जी ने जो और जैसा कहा है उसपर से स्पष्ट है कि, यह वाणी जप करे अथवा ज्ञानी जड़भरत की भाँति नग्न, दिगम्बर, अवधूतचर्या से रहे, सकल दृश्यमात्र जगत् आत्मस्वरूप से भरा हुआ है, इस विचार से मानुषानन्द से लेकर ब्रह्मानन्द तक सभी आनन्दों की प्राप्ति होती है. समस्त क्रियाओं में भी प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता के क्रमः विना किसी अवस्था अथवा प्रत्यय की अवगति, ज्ञानोपलब्धि नहीं होती, यानी विषयप्रकाश नहीं होता. अर्थात् मनन, इन्द्रिय-व्यापार, बोलना, चलना, सुनना इत्यादि सब में प्रमाणक्रिया बतलाई गई है. वैसी क्रिया आपसे आप होती रहती है. समाधि, सुषुप्ति अवस्थाओं में भी सूक्ष्म व्यापार रहता ही है.

इसीलिए जागृति में सुषुप्ति और समाधि-सुख का वृत्तान्त कहा जा सकता है. यह सक्रिय आत्मविषयक विचार यानी सोपाधिक आत्मा समझना चाहिए. अब निरुपाधिक सहजस्थिति में रहने वाला जो आत्मा वह अक्रिय, क्रियारहित, एकरूप रहा करता है.

"अहं ब्रह्मास्मि कर्ता च भोक्ता चास्मीति ये विदुः।
ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां नास्तिकाः स्युर्न संशयः[1] ॥८॥

—(उपदेशसाहस्री, ईक्षितृत्व-प्रकरण.)

(मुझ ब्रह्मरूप को जो कोई कर्ता और भोक्ता मानते हैं वे ज्ञान और कर्म इन दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाते हैं. इसमें कोई सन्देह नहीं कि, वे अविश्वासी और नास्तिक हैं.)

इसपर से देखें तो सहजस्थिति तो अखण्ड, अक्रिय, विशेषरहित, सर्वदा अनुभवगम्य है. ही! इसका अलग अनुभव अवगत कर लेने की आवश्यकता नहीं.

१३ अब आत्मा प्रत्यक्ष कैसा होता है! वह अपरोक्ष है यह हृदय में धँस जानेके लिए जो और जैसा ज्ञान चाहिए वह किस प्रकार उत्पन्न होता है! इस विषय में सविस्तर खुलासा वार्तिक, शारीरक भाष्यादि ग्रन्थों में है. इस सम्बन्ध में हमारा कहना यह है कि, आत्मज्ञान-स्पष्टीकरणार्थ अथवा अन्तःकरण विमल होने के लिए—

टिप्पणी:—१ समझना बूझना यह भी वृत्ति की ही ज्ञानक्रिया है. अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व शुद्ध पूर्ण आत्म-स्वरूप में नहीं इस विषय में उपर्युक्त श्लोक प्रमाणरूप से दिखा गया है.

"आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः ॥११॥
—(कैवल्योपनिषद्, प्रथमः खण्डः॥)

इसमें कथन किए अनुसार विचार-शक्ति बढ़ानी चाहिए तो सर्वप्राप्ति हो जाती है. अब कितेक ग्रन्थकार ज्ञानरहित उपासना की निन्दा ही करते हैं, पर सच देखा जाय तो तत्त्व, सिद्धान्त यह है कि,

"परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वन्हिवत् ॥६३॥
—(पञ्चदशी, तत्त्वविवेक.)

इस श्लोक में कहा गया है कि, "देशिकपूर्वक (गुरुमुख से प्राप्त शाब्दिक) तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य परोक्ष-ज्ञान भी बुद्धिपूर्वक किए हुए समस्त पापों को अग्नि के भाँति भस्मीभूत कर डालने को समर्थ है" अपरोक्ष ज्ञान-दशा में तो पाप पुण्य बचा रहता ही नहीं. कारण हम ही सर्वरूप बने रहते हैं. इसपर कोई ऐसा भी कहेंगे कि, यदि एक विचार-शक्ति से ही सर्वप्राप्ति होती है और आत्मज्ञानी पुरुष सर्वभोक्ता, सार्वभौम, घनिष्ट-सुखी होता है तो जितने कुछ ज्ञानी हैं उनमें सकल महापुरुष, ईश्वर यानी ईश्वरीय सामर्थ्यवान् क्यों नहीं हैं? आत्मज्ञानी ईश्वर के समान क्यो नहीं माने जाते? यदि ज्ञान से ही सकल सामर्थ्य प्राप्त होता है, तो ज्ञानी ईश्वर ही क्यों नहीं बन बैठते? इस प्रकार की शङ्का प्रायः विद्वानों की ओर से उठाई नहीं जाती, किन्तु अल्पश्रुत जिज्ञासुओं के अपरिपक्व बुद्धि की उपज समझनी चाहिए! कारण, ज्ञानी उपाधि से ज़रा भी द्वेष नहीं रखते. वे कैसे ही

अवस्था में स्वच्छन्दी और आनन्दभरित रहते हैं. इस सामर्थ्य का तारतम्य सृष्टिविषयक है, ऐसा हम मानते हैं, तथापि सृष्टि-वैचित्र्य दिखलाने का सामर्थ्य आत्मा में ही है, इसलिए यह न समझना चाहिए कि, ज्ञाता निर्बल, मायावश रहता है. माया की करणी कैसी अद्भुत विलक्षण है, देखिए! ऐसी शङ्का कितनी तुच्छ है कि यह वस्तुतः परमेश्वर रहते हुए वेषान्तर करने से कहीं हीन, दीन बनता है! भगवान् ने मत्स्य-कच्छपादिक रूप धारण किया तो क्या उस रूप को त्याग कर फिर ईश्वर होनेके लिए कुछ विपत्ति के कष्ट उसे उठाने पड़ते हैं या क्या!! वेशान्तर करना यह भी एक उसकी लीला है. तैत्तिरीयोपनिषद् में की भृगुवल्ली ठीक ध्यान देकर पढ़ने से समझ पड़ेगी कि, ज्ञानी-पुरुष सिद्धसङ्कल्प रहा करता है.

" इमाँल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् " ॥५॥

-(तैत्तिरीयोपनिषद्, दशमोऽनुवाकः ॥)

वह पाहिले ही से सर्वरूपी आत्मा ही है. कुछ देर जीव रूप दिखला कर पञ्चमहाभूतों के स्वरूप से सृष्टिसञ्चार करता है. इतनाही नहीं, किन्तु "कामान्नी" -स्वच्छन्द, स्वेच्छानुरूप अण्डजादि अनेक रूप प्रकट करके विलास करता है. अर्थात् ईश्वर जीव से पृथक् है, ऐसी शङ्का उठानी ही व्यर्थ है. पातञ्जलादिक जो द्वैतवादी हैं वे यद्यपि मानते होंगे कि, मुक्ति यानी सम्पन्न-संस्कार से जैसा कि ताँबे का सोना बन जाता है तद्वत् जीव भी ईश्वर बनता है, परन्तु वह हमें ग्राह्य नहीं. हम अद्वैत-मती तो ईश्वर से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं मानते. रूपान्तर के साथ जीव ईश्वर ही हो जाता है. जैसे घट फूटनेपर घटाकाश को ही

महाकाशत्व प्राप्त होता है, यह प्रक्रिया अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए. ईश्वरने ही समस्त रूप धारण किया है. "अहमन्न-महमन्नाद: " इसका ऐसा ही अर्थ श्रुति-माता बतलाती है. तब तो ऐसे क्षुद्र और व्यर्थ शङ्का-कुशङ्काओं का समाधान मानो कि निष्फल और व्यर्थ काल व्यतीत करना है. मुक्त पुरुष तो इस दृश्य को त्यागे अदृश्य सृष्टि में सञ्चार करते रहते हैं और उनका कोई सङ्कल्प ही नहीं रहता. इस शङ्का का निर्मूलन उपनिषदों पर से हुआ ही हैं. अध्यात्माधिकारी ज्ञाता पुरुष चाहे जैसा वर्तन करे तो भी वह सर्वशक्तिमान् रहता है. यूँ भी देखा जाय तो सम्पूर्ण और महान् अधिकार का यह स्वभाव प्रसङ्गवशात् दीख पड़ता भी है कि, वह अपनी मर्यादा लांघता आया है, अतः ज्ञानी किसी प्रकार के क्रिया से बद्ध नहीं होता.

" यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

-(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १८.)

(जिस पुरुष के (अन्तःकरण में) मैं कर्ता हूँ (ऐसा) भाव नहीं है (तथा) जिसकी बुद्धि (सांसारिक पदार्थों में और सम्पूर्ण कर्मों में) लिपायमान नहीं होती वह पुरुष इन सब लोगों को मारकर भी (वास्तव में) न (तो) मारता है और न पाप से बन्धता है.)

यदि सब सामर्थ्य मानस-शक्ति में पूर्णतः स्वाभाविक ही है और सकल रूप ईश्वरने ही धारण किया है, तो स्वाभाविक पदार्थों के विषय में इच्छा और प्रयत्न करने का कारण ही क्या! तो फिर विचार और मुमुक्षा भी क्योंकर? ऐसा आक्षेप

करने वालों को हमारा यह कहना है कि, वास्तविक देखें तो गुरु-शुश्रूषा और विचार का कोई प्रयोजन नहीं. कारण आत्म-तत्त्व सम्पादन करने में कुछ नवीनता तो है ही नहीं. वह स्वतः सिद्ध है; परन्तु यही बात दृढ़ता पूर्वक जचाना ही इस ग्रन्थ-रचयिता का हेतु है. "उपदेशसाहस्री के भेषजप्रयोग-प्रकरण में कहा गया है कि-

" ध्रुवा ह्यनित्याश्च न चान्ययोगिनो
मिथश्च कार्यं न च तेषु युज्यते।
अतो न कस्यापि हि किञ्चिदिष्यते
स्वयं च तत्त्वं न निरुक्तिगोचरम् ॥२४॥

-(उपदेशसाहस्री, भेषजप्रयोग प्रकरणम्.)

(शाश्वत (जो आत्मा) और अशाश्वत (जो इतर जगदित्यादिक) उनमें परस्पर-सम्बन्ध होना ही शक्य नहीं, अतः यह कहना यथार्थ नहीं है कि, उनसे (उनके सम्बन्ध से) कोई क्रिया होने पाती है. इस कारण (परमार्थ दृष्टि से) किसी का भी किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है. तत्त्व तो स्वतः वाणी के वश में है ही नहीं.)

आत्मा नित्य है, परन्तु अन्तःकरण का मल दूर होकर उसका स्पष्ट और पूर्ण ज्ञान होने के लिए-

" आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ॥५॥

-(बृहदारण्यकोपनिषद्, चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥)

ऐसा श्रुति-वचन है. कोई विद्या, अनुष्ठान, व्यवहार, यम-नियम अथवा एकतान-वृत्ति विना धारणा के नहीं होने पाती.

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में श्री कृष्ण भगवान् ने उद्धव जी को उपदेश दिया है कि, सब इन्द्रियों सहित शरीर को स्वेच्छानुरूप वशमें कर रखने में मनोव्यापार पूर्ण समर्थ है, इसलिए शरीर, इन्द्रियसमूह और प्राणों को स्वाधीन कर लेनेके लिए अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं. केवल विचार-दृष्टि से वे स्वाधीन रखे जा सकते हैं. यद्यपि श्रीमदाचार्य जी ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र में का "अथ" शब्द आवश्यक ऐसे साधन-क्रिया के अर्थ में लिया है और जहाँ जहाँ-

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।"

-(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ३, श्लोकार्ध २०)

(जनकादि ज्ञानीजन भी कर्मद्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं.) इस अर्थके वाक्य आये हैं उसमें का रहस्य यह है कि, आत्म-प्राप्ति -आत्मविद्या की इतनी ही इतिकर्तव्यता है कि, अन्तःकरण में पूर्ण आत्मस्फुरण हो जाय, यह योग्यता अन्तःकरण को क्रियाद्वारा प्राप्त होती है इसलिए "अथ" शब्द से साधनक्रिया की आवश्यकता बतलाई है. आत्मप्राप्ति-आत्मलाभ तो सबको सहज और नित्यसिद्ध है. अर्थात् विचारसमय में अन्तःकरण पर ही आघात होता है. इन्द्रियों के व्यापार में अन्तःकरण प्रधान कहलाता है. यमनियमादिक भी क्रियारूप कर्म रहने से विशेष सम्पादनीय होने के कारण सत्वाघात से अन्तःकरण-मल झड़ जाने के लिए प्रथमतः साधन को ही मुख्यता दी गई है. यही वेदान्त का ज्वलन्त रहस्य पाठकों की समझ में अच्छी प्रकार पैठ जाने के हेतु यहाँ स्पष्टतर किया गया है.

१४ अब पूर्व-भाग में साधनों का जो अनादर बतलाया गया उसका गूढ़ यही है, कि, आत्मा तो नित्यसिद्ध है और साधन-श्रम आत्मप्राप्ति के लिए नहीं, किन्तु केवल अन्तःकरण-शुद्धि के हेतु है, यह समझ में आनेके लिए आत्म-प्राप्तिविषयक साधनों का अनादर दिखलाया गया. ऐसा भी अब आग्रह नहीं है कि, सकल वेदान्तों में पुनर्जन्म नहीं यह सिद्ध करें, किन्तु निर्भयता, सकल सुख, सामर्थ्य-प्राप्ति, आत्मरूप होना, भोग-सीमा, सुख-सीमा गांठना यह केवल एक आत्म-विद्यासे ही होने वाली घटनाएँ हैं. इसलिए हर कोई यह विद्या प्राप्त कर ले. कारण, यह सकल फल देने वाली है. इसको संन्यास अथवा वैराग्य ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं. याज्ञवल्क्य, जैमिनी, नारद, सनत्कुमार और श्रीकृष्ण-संवादों में जो प्रश्न आया है वह "जन्म न चाहिए" इस हेतु से नहीं, किन्तु सुख प्राप्त होवे, शान्ति मिल जाय यही उसका मुख्य आशय है. इसके पूर्व अभ्यास-विचार में जो ऐसा कहा है कि "सभी व्यवहारों में आत्म-रूप देखा जा सकता है (इसीको तुर्या-अवस्था कहते हैं) ऐसा देखने वाले ज्ञानी, आत्मविद्याभ्यासी अन्यान्य वेष, व्यवहार, जाति, कुल में रहने के कारण कई लोग उनकी निन्दा भी करते हैं. उसी प्रकार "परीक्षा करके ज्ञान का उपदेश देना चाहिए" ऐसा श्रुति ने कहा है, तथापि ऐसे अनन्त साधनाएँ, निर्बन्ध और शिष्य-लक्षणाएँ कहने का हेतु इतना ही है कि, किसी प्रकार जी पर ठेस न लगते समस्त समस्याओं पर सोचने, उन्हें सुलझाने का पर्याप्त समय पाकर अधिकार और ज्ञान प्राप्त हो जाय. कारण, ज्ञान सबमें अनुस्यूत रहने से किस व्यक्ति में कब

उसका प्रकाश होगा इसका निश्चित निर्णय कर, बतलाने में ब्रह्मदेव भी समर्थ नहीं. ज्ञानी पुरुष का वर्तन किस प्रकार का रहा करता है इसके सम्बन्ध में श्री शङ्कराचार्य जी ने "जीवन्मुक्तानन्दलहरी" में जो स्पष्ट विवेचन किया है वह पाठक-गण अक्षरशः पढ़ें. अस्तु.

१५ ऊपर जो कहा गया कि, एकान्त में विचार करना यही महा तप है. स्मृति में भी–

"मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।
तज्जायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥२४॥
–(उपदेशसाहस्री, सम्यङ्मति प्रकरणम्)

ऐसा वचन आया है. एक ही काल में सब शीक्षण नहीं मिल सकता. बुद्धि की अल्पता के कारण कोई एक शास्त्र, कला अथवा यन्त्रज्ञान का एकबार ग्रहण नहीं होता. उसी तरह आत्मा की सर्वाङ्गपूर्ण लक्षणाएँ स्फुरण पाने को बहुत काल की अवधि व्यतीत करने पर भी वारंवार अभ्यास यानी विचार करते रहने की पूरी चिन्ता रखनी पड़ती है, यह जँचा लेना चाहिए. इस कथन का अर्थ, वैसे ही ऊपर जो प्रतिज्ञा की गई है उसका भी निचोड़ यह है कि, अमुक ही आसन से सिद्धि प्राप्त होती है, (पातञ्जल-योगसूत्रों में कहा गया है कि, "स्थिरं सुखमासनम्" यानी समाधि लगाने के समय में जो स्थिर और सुखकारक हो ऐसा ही आसन रहना चाहिये) खाद्य पेय में अमुक ही पथ्य पालन करने से, योगाभ्यास से अथवा विषय-त्याग से आत्मलाभ होता है यह केवल उपकार-बुद्धि से कहना समझना

चाहिए. वास्तविक देखें तो ज्ञानाभ्यासी साधक के लिए किसी प्रकार की रुकावट नहीं, फिर ज्ञाता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या! इसको तुलनात्मक दृष्टि से यदि कोई तौलना चाहे भी तो ध्यान देकर तौलनेपर उसे हानि की अपेक्षा लाभ का पलड़ा कुछ अधिक झुका हुआ दिखाई देगा. जिस किसी में सुख जान पड़े, चाहे वह विषय हो अथवा व्यवहार, सब में आत्म-प्रकाश, आत्म-चिन्तन होता रहना यह महा पुण्य का फल है. जड़ को स्फुरण नहीं. आत्मा कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता और चालक है. सहज स्थिति खुली प्रकार नित्यसिद्ध है. जिस समय में आत्मा पञ्च-कोशों से घिरा रहता है उस समय आत्म-लक्षणा के साथ अन्तःकरण नहीं स्फुरता. यानी व्यापक, अनन्त, एक, अद्वितीय, परमप्रिय, नित्यतृप्त, अखण्ड सिद्ध यह अपना (आत्मा का) लक्षण सदोदित है ही! पर ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय यह त्रिपुटी कल्पना में आ जाय तब वैसा जानकर मन की तृप्ति होनी चाहिए. उसी प्रकार आत्मा सबकेलिए नित्यप्राप्त रहते हुए उपर्युक्त लक्षणाओं का स्फुरण क्यों नहीं होता? मैं शरीरी, संसारी, देही ऐसा ही स्फुरण क्यों होना चाहिए? तो उसका कारण यह है कि, आत्म-शक्ति केवल स्फुरणरूप है, पर वह स्फुरण जिस विषय के निमित्त से होता है, उस विषय के अनुसार मन की आकृति बनती है. "मैं शरीरी" कहते ही मन दीनवत् आकृति धारण करके उसके अनुसार व्यवहार करते समय उस विषय को स्पष्ट करने वाला, दिखाने वाला आत्मस्फुरण भी उसी आकृति में होता रहता है, यह इसके पहले सविस्तर कहा ही गया है. उसी तरह विभु, उच्च प्रकाशरूप जो जो भावना वह वह आत्म-सामर्थ्य से ही होती है, यह जान लेना ही ज्ञान का साध्य समझना चाहिए. श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने उपदेशसाहस्री में कहा है कि,

" देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥५॥
-(उपदेशसाहस्री, तत्त्वज्ञानस्वभाव-प्रकरणम्)

इसपर से स्पष्ट होता है कि, जो इच्छारहित है और जिसको लौकिक पुरुषों के भाँति देहात्मबुद्धि के अज्ञान को हटाने वाला आत्मविषयक ज्ञान प्राप्त हुआ हो यदि वह न चाहे भी तो मुक्त हो जायगा. ज्ञान से यदि पदार्थ-ज्ञान हो जाय, उदाहरणार्थ -आकाश भीगता नहीं, जलता नहीं, टूटता-फूटता नहीं इस प्रकार वस्तु का उत्तम ज्ञान हो जाय तो वह ज्ञान किसी अवस्था में कोई बाधा नहीं करता. "आत्मा अलिप्त है और वह अनन्त रूपों का नित्य-निकेतन है" ऐसा यदि निश्चय हो जाय तब 'मैं बद्ध ही रहूँ" अथवा "जन्म-मरण के फेरे में पड़ जाऊं" इस प्रकार का उलटा आग्रह करे भी तो आत्म-स्वरूप के ज्ञान-प्रभाव से "मुझे जन्म ही नहीं" ऐसा पहिले ही से निश्चय हो जाने के कारण मानना ही पड़ता है कि, जन्म-मरण यह तो शरीर-धर्म हैं. अर्थात् इच्छा न रखते भी ज्ञान हो जाता है. तब तो कहना ही पड़ेगा कि, जो मनुष्य यदि ऐसी इच्छा धारण करने लग जाय, तो उसके साथ ही साधन-सम्पत्ति, वैराग्य, संन्यास, विषयत्याग आदि उसको लिपट जाते हैं. कारण, यदि ऐसा न मानें तो-

" आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते "
- (उपदेशसाहस्री, चतुर्थ प्रकरण, श्लोकार्ध) ॥५॥

(जिसे आत्मज्ञान हो जाय वह न चाहता हो भी तो मुक्त होगा) यह वचन व्यर्थ होगा. अस्तु, यह विचार यहाँ पर्याप्त है. कारण,

"प्रज्ञानं ब्रह्म" ऐसा वेदान्तडिण्डिम है इसलिए ज्ञान सब को आवश्यक है.

अब यह विधान यहीं समाप्त कर आत्मा की लक्षणाएँ वर्णन करें.

१६ "अहम्" यानी "मैं" का स्फुरण होना, एकान्त-सेवन की उत्सुकता, निद्रा-सुख, विषय-सेवन द्वारा होने वाला आनन्द, अज्ञानी जनों का व्यावहारिक प्रेम, मानसिक चञ्चलता का ज्ञान, अपने अविनाशी अस्तित्व का निश्चित ज्ञान, कौन सी भी अवस्था हो उसमें स्वात्म-दर्शन बने रहना, मनसोल्हास का मूल सङ्कल्प स्पष्ट होना आदिक लक्षणाओं से आत्म-तेज का स्फुरण होना ये सब ही सब के अनुभव से सिद्ध है. आत्मीयता रहे विना प्रेम उत्पन्न नहीं होता. इसीलिए श्री शङ्कराचार्य जी नें आत्मा का बोध कर देते समय आत्मा को "अस्मत्प्रत्ययगोचरः" यह विशेषण दिया है. मन शान्त हुए अतिरिक्त यानी आत्मा उस विषय में जब तक सर्वाङ्ग नहीं स्फुरता तब तक विषय-तृप्ति में सुख होने नहीं पाता. "मैं सुनता हूँ, मुझे भोग होता है" इसमें अहंवृत्ति (आपा) भोग में अथवा सब प्रकार के व्यवहार में, समस्त विषयों में प्रकाशक बने प्रेम उत्पन्न करती है. तभी तो इच्छाएँ विषयों की ओर लोलुप दृष्टिसे ताकती रहती है! जहाँ "अहम्" शब्द का त्याग बतलाया है वहाँ केवल स्फुरणात्मक अहम् शब्द मानें तो वह ब्रह्मस्फूर्ति अस्तित्व दर्शाने वाली, समस्त दृश्यों में व्याप्त रहने वाली है. केवल जड़ वाच्यार्थ ही वतलाने वाला अहङ्कार त्याज्य है. जबतक विषय में आत्मीयता न हो, सत्तात्मक स्फुरण नहीं होता तब तक निश्चित-ज्ञान और समाधान भी नहीं होने पाता. सकल विषयों में आत्म-प्रकाश

सहज ही स्फुरण पाता है. सुख अपना (आत्मा का) रूप है कारण, प्रेम यह आत्मा का लक्षण है, जड़ का नहीं. अर्थात् आत्मा ही चिरवाञ्छित प्रियतम है. उसी प्रकार चैतन्य कभी न मृत्युवश होता और न कभी जन्म पाता है. वह अपने को "मैं मैं" के प्रत्यय से सदा दर्शाता रहता है. "क्या वहाँ कोई नहीं है?" इस प्रश्न पर "मैं हूँ" यह उत्तर जो हम देते हैं इससे सहज ही सिद्ध है कि "मैं स्फुरणरूप आत्मा ही हूँ" परमार्थ-सत्ता को अज्ञेयवादी के प्रक्रिया से वास्तविक देखा जाय तो द्वैत का स्पर्श ही नहीं है और न कभी होने पायगा. हमें अपनी सकल पुरुषार्थ-सिद्धि प्राप्त हो जाने के लिए ही आत्मज्ञान सम्पादन करने में एड़ी चोटी का पसीना एक करना चाहिए. स्पष्टार्थ यह कि, आत्मा नित्यसिद्ध, अखण्ड, एकरूप है, अन्तःकरण का मल दूर होकर सर्वाङ्ग आत्मस्फुरण होने के लिए ही सकल वेदान्त की प्रवृत्ति है. यही माया का वैचित्र्य है कि, हम नित्यशुद्ध होते भी उस प्रकार का स्फुरण नहीं होता. यहाँ एक विलक्षणता ध्यान धरने योग्य ऐसी है कि, एकदेशीय सङ्कोच से अपने को "साढ़े तीन हाथ का देही हूँ" ऐसा माने विदेह-मुक्ति की प्रशंसा करते हैं. अङ्गुष्ठमात्र लिङ्ग-देह से छुटकारा पाकर ग्रन्थिभेद होते ही कृतकृत्यता समझ बैठते हैं, परन्तु यह अपनी कितनी न्यूनता है इसका विचार करना चाहिए! कारण, हम विराट्रूप होते हुए उस विराट् हिरण्यगर्भ-कृति में कई जीव उत्पन्न होते और मरते जाते हैं. अज्ञानी विषय-भोग और ज्ञानी समाधि-सुख लेते हैं. इस प्रकार का व्यापार-चक्र अखण्ड घूतमे रहते हुए यह माया आत्म-शक्ति रहने के कारण इसका खेल कहीं गुप्त, कभी, प्रकट, आविर्भाव-तिरोभाव आदिक अनेक रूपों से अव्याहत चल रहा है.

"अस्य सत्वमसत्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ।
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥१३१॥
-(पञ्चदशी चित्रदीप.)

(जिस प्रकार से कि चित्रपट फैलाने पर और लपेटने पर (वह चित्र) अपना सत्व और असत्व (अस्तित्व और अभाव) दिखला देता है, यह माया उसी प्रकार इस जगत् को दिखलाती और छिपाती है.)

परन्तु इस प्रकार की क्रिया में भी आत्मा अलिप्त, असंहत. अखण्ड, सकृद्विभात और मलरहित ही बनी की बनी रहती है, ऐसे हिरण्यगर्भ विराट्रूपी शरीर में अनन्त व्यापार होते भी आत्मा पद्मपत्र-समान अलिप्त और नित्यमुक्त है और वही आत्मा मैं हूँ. कारण अहंवृत्ति (आपा) का स्वयंस्फुरण विना आत्मा के इतर जड़ पदार्थ में नहीं है. इसलिए विदेहादि मुक्तियों की इतनी कुछ प्रतिष्ठा न चाहिए. यही गूढ़ार्थ श्रुति-माता ने "यस्यामतं तस्य मतम्" इस वचन में स्पष्ट कहा है. अर्थात् हम सहज नित्यमुक्त हैं, यह पूर्णता से जँचने पर मानो कि कृतकृत्यता प्राप्त हो गई.

१७ ज्ञानी तो स्वच्छन्दी रहते हैं ऐसा पहिले कहा ही गया है. विकार जो मन का धर्म है उसके वशात् यह कहना कि, "मैं विकारी, मैं देही" अन्तःकरणोपाधि-मूलक है. अर्थात् आत्म-सुख में अथवा बिषय-सुख में निमग्न होना यदि दोष मानें भी तो अन्तःकरण का ही मानना पड़ेगा. दोषरूप विषय-स्फूर्ति नष्ट हुई भी तो समाधि में, निद्रा में आत्मा अखण्डरूप रहता है.

यथासंतुष्ट-मन को जो जो विषय प्रिय होंगे उनमें तन्निष्ठ होकर आत्म-विचार करना चाहिए ऐसा इस ग्रन्थ में कहा गया है बहुशः-

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ "

-(ब्रह्मसूत्रभाष्य, अध्याय ४, अधिकरण ७.)

इस सूत्र के भाष्य में भी मन अपने अपने गुण-लेशानुरूप विषयों की ओर दौड़ने लगता है, और जहाँ अपना प्रिय विषय प्राप्त हो जाय वहीं स्थिर होता है, उसी स्थान में आनन्दरूप परमेश्वर प्रकट होता है; उस आनन्द का सङ्केत पूर्णतः पहचान लेना चाहिए; अच्छे, बुरे स्थल-विषयक आग्रह नहीं रहना चाहिए इस प्रकार का भावार्थ है. पण्डित उसका विचार करें. निरोध का श्रम मनको नहीं देना चाहिए यह विधान पूर्व साधु सन्तों को मालूम था. इसीलिए "तुकाराम" महाराज ने ऐसाही मार्ग सबको दिखला दिया है कि जिसमें नाचते, कूदते, गान करते "आनन्दरूप ब्रह्म की सेवा भी होती रहे. धारणा जो की जाती है वह सुख से की जाय, सदा आनन्द में निमग्न रहना चाहिए." खंडोबा (मल्लारि मार्तण्ड), विठोबा, बहिरोबा आदिक किसी नाम से भी चैतन्याकृति का ही भजन, पूजन होता रहता है. कारण, विना चैतन्य के विषय-भास, नहीं होता. देखने वाला भी विना चैतन्य-प्रकाश के नहीं देख सकता. यह पहिले अनेक बार कहा गया है कि, कोई नाम से, किसी रूप पर भी मन स्थिर किया जाय तो वह आत्म-चिन्तन ही कहलाता है. यह आत्म-पूजा-

" यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम् "

-(शिवमानसपूजा, श्लोकार्ध ४.)

इस अर्थ के अनुसार सहज और सरलता से होने वाली, यह अजपा गायत्री की तरह फल देने वाली है और विषयासक्त विचारों की उधेड़-बुन में लगे हुए जीव के नकली या आडम्बर भक्ति की यहाँ तक पहुँच नहीं; परन्तु आश्चर्य है कि, जो सुख, जो उपासना स्वतः सिद्ध है उस विषय में कोई विशेष विचार नहीं करता. नान्दिकेश्वर ने बड़े ही प्रयास से "कामसूत्र-भाष्य" लिखा है. पर, हरएक की इसमें सहज प्रवृत्ति रहने से उस ओर ध्यान न देने तक की उदासीनता प्राप्त हो गई है. कारण, यूँ कहने में कोई प्रत्यवाय नहीं कि, यह औदासीन्य नित्यसिद्ध वस्तु का एक लक्षण ही है. इसका विशेष स्पष्टार्थ यह कि, संसार भर में सकल वस्तु अस्ति, जायते इत्यादि विकारों से युक्त, यानी उत्पन्न और नाश होने वाले ही सर्वत्र दिखाई देते हैं. अतः जिनकी ऐसी विपरीत समझ हो बैठी है कि, स्वतःसिद्ध वस्तु ही कहीं नहीं है. वे यदि अपना व्यवहार विचार पूर्वक खोज कर देखें तो यह बातें अनुभव करने लग जायँगे कि, अन्तः-करण शब्द की ओर, मन स्पर्श की ओर, बुद्धि रूप की ओर और चित्त रस की ओर आप ही आप दौड़ता है. निद्रा में सब भोगसम्भार, मानसिक इन्द्रियें आत्मस्वरूप में लीन होती हैं. अर्थात् स्वभावसिद्ध व्यापार जो होता हो उसमें भी आत्मा स्वतःसिद्ध, नित्य स्फुरद्रूप है. यह आत्मा की श्रेष्ठता (बड़प्पन) यह आत्मा की आकर्षण-शक्ति मनुष्य, कीट, पतङ्ग, स्थावर-जङ्गमादि समस्त पदार्थों में स्पष्ट दीख पड़ती है.

१८ इसमें भी सोपाधिक सान्तःकरण (अन्तःकरणसहित) आत्मा "मैं" की आकृति से स्फुरण पाते समय विषयाकृति अल्प, विभु कामक्रोधादिकों से विकार को प्राप्त हुए अन्तःकरण

के विकाराकृति से जो आत्मा इस प्रकार स्फुरण पाता है कि, "मैं कामी, क्रोधी, लोभी" का प्रत्यय आता है अथवा "आकाश, वायु, अग्नि, विराट्, ईशरूप मैं ही हूँ" इस स्फुरण में यानी प्रौढान्तःकरण मल-रहित होकर विभु-भावना से अन्तःकरणोपाधि सहित जो आत्मा स्फुरता है उसमें केवल स्फुरणमात्र यह आत्मस्वभाव है और भले बुरे, विभु, अल्प सी आकृतियाँ बनना यह अन्तःकरण का स्वभाव है, यह न भूलना चाहिए. विषय का अनुभव प्रत्येक क्षण में होता सा जान कर आत्मविद्या की ओर जो लक्ष्य नहीं लगाते उनको विषय-सुख का स्फुरण जो तैजसान्तःकरण-वृत्ति, वह विषयाकार रहे तक विषय-चालक ब्रह्म-सुख का भास सुखदायक होता है. तत्रापि विषय क्षणिक रहने के कारण उससे विपरीत भाव-रूप दुःख होने लगता है. अब, यह दुःख किस कारण? इसका विचार अवश्य करना चाहिए कि, विषयाकार अन्तःकरण-रूप तैजस-वृत्ति का व्यापार नष्ट हुआ तो व्यापक, आनन्द-रूप, सुख-रूप जो ब्रह्मतेज है वह अज्ञान से आच्छादित होने के कारण विशेष यानी अहंकृति-रूप से नहीं स्फुरता. इसलिए मनुष्य मानसिक शान्ति के लिए पुनः पुनः विषय-सेवन किए विना आनन्दप्रकाश नहीं होता सा मान कर विषय अखण्ड प्राप्त करने के झँझट में पड़ जाता है. अन्त में विषय क्षणिक रहने के कारण वह थक जाता है और उसके उपरान्त कहीं ऐसा विचार उसमें उत्पन्न होता है कि, यह आनन्द विषय का है या आत्म-स्वरूप का? और जब कि "मुझे विषय-

व्यापार-रहित अखण्ड आनन्द, सुख प्राप्त हो जाय" ऐसी उत्कण्ठा उद्भूत होती है तब कहीं साधक "शुभेच्छा" रूप प्रथम[1] भूमिका पर आरूढ़ हुआ सा समझना चाहिए. उसके अनन्तर "विषय में सुख नामक कुछ है ही नहीं; प्रकाश, अस्तित्व आदिक धर्म इतर किसी पदार्थ में नहीं है. यह धर्म आत्मा के ही हैं और वह आत्मा यानी हम स्वयम् ही हैं" यह विचार दृढ़ होता जाय तो अमुक ही विषय में आनन्द है, अमुक ही में रुचि है ऐसा न जान पड़ते विषय में जड़त्व रहने से उसमें सुख ही नहीं ऐसा निश्चय हो जाता है और वह साधक सुखरूप ब्रह्मानन्द: अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डव्यापक होते अविनाशी रहने का निश्चय-पूर्वक समझ लेने के यत्न में पड़ जाता है. अनन्तर शास्त्रदृष्टि, गुरुवाक्य और आत्मनिश्चय के योग से उचित कर्तव्य पूर्ण हुआ समझकर साधक निर्भय और स्वच्छन्द बना विचरता है. किञ्चित्काल तक आरम्भक कर्म के कारण और मन को जिस विषय का अधिक अभ्यास होगा वह यदि प्राप्त न हो, अथवा उसके नाश होने का सम्भव जानकर दुःखी भी होता है. परन्तु अज्ञानांश-रहित आत्म-विद्या की पहचान उत्पन्न होने से तत्काल हृदय दुःख नष्ट होकर सहज आत्मानन्द की ओर मुड़ जाता है, और "मैं आत्मा हूँ" ऐसा निश्चय हो जाने से वर्तमान-भूत-भविष्य-काल में "मैं अखण्ड एक हूँ" यह ज्ञान सप्रमाण जँचने के कारण ऐसा साधक, भक्त जिसने अपना सारा सम्बन्ध

टिप्पणी:—१ भूमिका सात हैं:—१ शुभेच्छा, २ विचारणा, ३ तनुमानसा, ४ सत्वापत्ति, ५ असंसक्ति, ६ पदार्थाविभाविनी, ७ तुर्यगा. (इसका स्पष्टीकरण वापटशास्त्री रचित "जीवन्मुक्तिविवेकसार" ग्रन्थ में किया गया है.)

केवल आत्मा-परमात्मा से जोड़ा हो और यह लगाव उसके चोटीले हृदय की एक कसक हो तो इस ऊँचाई से वह ज़रा भी नहीं डिगता. इस प्रकार के श्रेष्ठ पद को पहुँचाने वाले, सर्व विषयावलम्बी रहते हुए सबका अखण्ड व्यापकत्व प्रत्यक्ष अनुभव कराने वाले और किसी दृश्य पदार्थ में भी परमेश्वर का अस्तित्व पैठाकर सबमें प्रविष्ट ईश्वर की ओर झुकाने वाले जो कोई महा पुरुष हैं उन की भक्तकामकल्पद्रुम विरुदावली अनुभव से सत्य निश्चित होती है. जो कोई सुज्ञानी, सज्जन, साधुरूप से सबका हित करते हैं. उनको ही सकलमती, केवल चैतन्य-उपासक, महान् अधिकारी, उपकारी समझ कर मनोभावना से वन्दना करनी चाहिए.

१९ अस्तु, ऊपर हमने जो अभ्यास बतलाया है उसका पहला साधन यानी आत्म-स्वरूप-ज्ञान संशय रहित और निश्चित प्रकार से सम्पादन करना ही मुख्य है. हम पञ्च-कोश से वेष्टित हैं. यद्यपि आकाशतत्त्व भूत में ही गिना जाता है तो भी भूत-गुण का आघात आकाश पर नहीं होता, यानी हवा उसको उड़ा नहीं सकती, तेज जला नहीं सकता, इसलिए समस्त पदार्थों में रहकर भी असंहत, अलिप्त आत्म-सत्ता से स्फुरित होने वाले आकाश की तरह आत्मा है ऐसा निश्चय होना यह प्रथमाभ्यास है. व्यवहार में भी जैसा, कि "एक" में कोई व्यवहार होने नहीं पाता उस प्रकार "मैं" एकरूप आत्मा हूँ" इस अनुभव में ज्ञाता-ज्ञान यह भेद न रहने के कारण स्वतः हमको ही ज्ञानी, भोक्ता, यजमान, नियन्ता बनना चाहिए. स्पष्टार्थ यह कि, यदि हम मायोपाधि रहित कैसे? यह देखना चाहें तो देखना ही गुम हो जाता है और जानना चाहें तो जानकारी का कपूर

बनकर उड़ जाना भी सहज ही है! इसमें कठिनाई भी तो कौनसी? समस्त पदार्थ मृत्तिका दृष्टि से और अलङ्कार सुवर्ण दृष्टि से देखना चाहें तो घट-पटादि पदार्थ और अलङ्कार नहीं दीख पड़ेंगे. ऐसा अनुभव तो व्यवहार में भी आता है. जैसे कि सुवर्ण के महत्त्व से अलङ्कार में भी महति समा जाती है, उस प्रकार आत्मा के ही अस्तित्व से मायिक पदार्थों का अस्तित्व रहा करता है, परन्तु मेघ की तरह आत्मशक्ति से दीखने वाला जो मन उससे बनने वाले विषयाकृतियों का भास कराने वाला आत्मा जिस समय विषय जानने की क्रिया करता है उस समय में माया-शक्ति का अङ्गिकार कर सोपाधिक बन जाता है, इसीलिए उसको व्यवहार-दक्ष बनना पड़ता है. ऐसे आत्मरूप का वर्णन यानी "हम सब कुछ जानते हैं" यह है" यद्यपि हमारा सत्य ज्ञान हमें न होने पाया भी तो "मैं अज्ञ हूँ" इस प्रकार के अनुभव में भी "मैं मैं" के प्रत्यय से ब्रह्म का स्फुरण केवल जड़-रूप अज्ञान का लक्षण नहीं, किन्तु हम सर्वकाल स्वतः सिद्ध अखण्ड, पूर्ण, एकरूप रहने और जानना यह बुद्धि का व्यवहार होने के कारण "मैं अज्ञ हूँ" के स्फुरण में भी अहंवृत्ति (आपा) का स्फुरण आत्मरूप का ही स्फुरण है. स्पष्टार्थ यह कि, "अज्ञ" कहना भी तो बुद्धि की विपरीत भावना और "मैं अज्ञ" ऐसा कहने में भी मैं (अहंवृत्ति) का यह ब्रह्म-लक्षण, आत्मरूप अखण्ड है, यह हरेक के मन में धँस जाना चाहिए. इसलिए प्रथमतः "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस महावाक्य का उपदेश दिया गया. इसमें ज्ञानी, अज्ञानी, कीट-पतङ्गादि सर्वाकृतियों में प्रज्ञान ब्रह्म

है यह सिद्ध हुआ. यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि लोहे में अग्नि-प्रवेश हो जाने से जैसा कि लोहा अनेकाकृतियाँ धारण कर अनेक काम करने योग्य बन जाता है; परन्तु यद्यपि लोहा अनेकाकृति बन बैठा भी तो अग्नि की एकरूपता किञ्चिन्मात्र भी बिगड़ने नहीं पाती, वैसे ही हम बुद्ध्यारूढ, बुद्ध्युपाधिक होने के कारण बुद्धि सकल रूपों की भूमिका लेने और जानने को समर्थ होती है. इसमें भी "यह बुद्धि रजांश से पदार्थाकृतियाँ बनकर सत्वांश से जानती है" ऐसा भी कहीं कहीं लिखा गया है. तथापि हम ऐसा साफ़ साफ़ जानते हैं कि, यह बुद्धिगत क्रिया है. हम सबको जानते हैं, पर अपने में अपनी पहचान (जानकारी) मात्र स्वतः सिद्ध है. यानी हमको देखने वाला अन्य कोई भी नहीं है. यह सिद्धान्त "हम" इस विशेषण पर से स्पष्ट होता है. मनोमल हटाने के लिए और भी अनेक ग्रन्थों में "अहंग्रहो-पासना" "प्रतीकोपासना" पञ्चीकरण प्रसंख्यान, मुद्रा, धारणा इत्यादि कहे गये हैं, परन्तु हमारे कथन में मुख्य यह है कि, बाल, तरुण अथवा वृद्ध, गृहस्थ सभी आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लें और उसमें भी विशेष यह कि, हठ निग्रह का आग्रह अथवा पीड़ा न करते सहज सर्वयोग साध लें. वास्तविक सब नित्यमुक्त हैं ही; परन्तु अधिकारी पुरुष का मोक्षरूप पुरुषार्थ, निःश्रेयस आनन्द-फल प्राप्त करना हो तो हम प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं कि, विना आत्मविद्या के किसी और विद्या से पूर्णता नहीं होगी, तस्मात् इस मार्ग को ही अपनावें.

२० कई जगह तो ज्ञान-साधन को "राजयोग" भी कहते हैं. इस ग्रन्थ में वेदान्त-रहस्य की सब बातें लिखी गयीं हैं. अनुभव चाहने वालों को अन्य ग्रन्थों का आधार खोजने का कारण

ही नहीं. अस्तु; ग्रन्थतात्पर्य यह है कि, आत्मा नित्यसिद्ध है, सहजमुक्त है. अब ऐसा जो प्रायः कहा जाता है कि, सञ्चित क्रियमाण जल कर भस्म हो जाते हैं और केवल प्रारब्ध ही बचा रहता है, परन्तु अन्तःकरण में ज्ञानोदय हुआ तो वह अखण्ड आनन्दरूप समाधि में रहता है, व्यवहार की जञ्जाल में नहीं फँसने पाता, ऐसा कहना हो तो प्रारब्धवशात् भिक्षा, जप, ध्यान, तप आदिक ज्ञानी-जनों का व्यवहार दीख पड़ता है. ज्ञानी कर्म नहीं करते, किन्तु करते से जान पड़ते हैं. तथापि जैसे भर्जित बीज अङ्कुर नहीं लाता उस प्रकार ज्ञानियों के कर्म जन्मप्राप्ति के कारण नहीं बनते.

" देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः ।
अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः ॥९७॥

—(अपरोक्षानुभूति.)

(अहो ! यह देह भी तो प्रपञ्च ही है ! तब प्रपञ्च-विनाश के उपरान्त-प्रारब्ध रहेगा कहाँ ? सारांश, श्रुति जो प्रारब्ध का निर्देश करती है वह केवल अविचारी जनों के लिए एक समझावा है.)

इन्द्रियप्राणबुद्धिकृत जो कुछ सहजकर्म होते रहते हैं उन सबका आधार, भासक और चालक आत्मा ही है. जैसे अन्धियारा और उजियारा दोनों मिलकर पुनर्जन्मादिक खेल छाया-रूप से दिखलाते हैं वैसा दृश्य भी ब्रह्म-तेज से ही दीखता है. मानासिक क्रिया से भासक-चैतन्य बद्ध नहीं होता. इसलिए प्रारब्ध क्षय होते ही आवरण रहित चैतन्य अखण्ड रहता है. जो अपने को बद्ध मानता था वह अखण्ड चैतन्यरूप बना रहता है, यह कहना भी साधक के लिए उपयोगी है. इससे भी आगे

विचार करने पर आत्मा नित्य सहजमुक्त है. भोगशेष, तारतम्य-भाव से सिद्ध करके विदेहमुक्ति की प्रशंसा करनेको, आज्ञानि जनों में विशेष रुचि उत्पन्न हो जाने के हेतु की हुई फलरूप प्रशंसा समझनी चाहिए. सहजमुक्ति तो सहजसिद्ध है. इसमें गुरुसुश्रूषा, वाक्यबोध यद्यपि आवश्यक है तथापि गुरु का वर्णन सुनिए -

"चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरञ्जनम् ।
नादबिन्दुकलातीतं तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३७॥
अचरं स्थावरं शान्तं जंगमं चरमेव च ।
व्याप्तं येन जगत्सर्वं तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३८॥
ज्ञानशक्तिसमारूढं तत्त्वमालाविभूषितम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं वन्दे ज्ञानैकविग्रहम् ॥३९॥

-(गु रु गी ता.)

[उसको वन्दना जो चैतन्य, शाश्वत, शान्त है, निरञ्जन व्योम (आकाश भी) जिसमें समा जाता है, नाद-बिन्दु-कला का लाग भी जहाँ नहीं लगता -

जितना कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् है उसमें व्याप्त (फैला हुआ) रहते हुए व्याप्य-व्यापकता जिसे छू नहीं सकती-

ज्ञान-शक्ति (रूप सिंहासन) पर जो आरूढ़ (विराजमान और) तत्त्व (कुसुमों) से गूँथी हुई माला जिसके गले में लटकी हुई शोभित हो रही है उस भुक्ति-मुक्ति के दाता, ज्ञानरूप श्रीगुरु (को नमन) है.]

सत्य दृष्टि से देखा जाय तो चैतन्य, आनन्द आत्मरूप को ही 'गुरु" कहते हैं. इसलिए वासिष्ठमुनि कहते हैं-

"उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रबोधकः।
ज्ञप्तेस्तु कारणं सिद्धः शिष्यःप्रज्ञैव केवलम् ॥१२॥
-(योगवासिष्ठ, अध्याय १)

(हे राम! उपदेश की परिपाटी मर्यादा-पालन की ही बोधक है, यदि सिद्धान्त देखा जाय तो शिष्य की केवल प्रज्ञा ही ज्ञान-प्राप्ति का (मूल) कारण है.)

तात्पर्य- शिष्य, गुरु, उपदेश आदिक उपायों को सृष्टि-व्यापार के अनुकूल रहने के कारण महत्त्व प्राप्त हुआ है इसलिए यह व्यवस्था अवश्य माननी चाहिए. समर्थ कहते हैं:-

गर्वें गाणें गाऊं नये ॥ गातां गातां गळों नये ॥
गौप्य गुज गर्जों नये। गुण गावे ॥३॥
-(दासबोध. दशक १४, समास ४)

(दम्भयुक्त होकर नहिं गाना। गाते गाते नहीं खिसकना॥
गोप्य गुह्य गर्जना न करना। गुण गाते रहना!॥)

अस्तु, शिष्य यदि समझ पाने की तीव्र अपेक्षा करे तो वसिष्ठ जी के कथनानुसार "शिष्यप्रज्ञा" विचार-दक्षता जैसी जिसकी हो वैसी उसे जान पड़ती ही है. यथार्थ में देखिए! आत्मरूप का अखण्ड स्फुरण नित्य सबको प्रत्यक्ष रहने के कारण विचारदीक्षा लेने पर समस्त शङ्काएँ आप से आप मिट जाती हैं. यदि विचारशक्तिसह बुद्धि की जाड्यता पिघलती जाय तो उच्च पद, व्यापकता, ईश्वरीय विभूति भोगने के लिए चित्तप्रसन्नता प्राप्त कर आकाशादिक महत्तत्त्वरूप जानने के हेतु से यह बुद्धि यह मन ब्रह्माण्ड को घेरकर विभुरूप परम तत्त्व में व्याप्त होकर

रहने की और सर्वकाल अपना व्यापार चलाती रहती है. तब मन का सङ्कोच, भय, खण्डज्ञान नष्ट होकर "मैं अनन्त, अपार हूँ" ऐसा स्फुरण होने लगता है. सूक्ष्म विचार यह है कि, ज्ञानस्फुरण, चैतन्यज्योति, ब्रह्मरूप-ज्वाला सहजता से सर्वव्यापक है ही. बिना स्फूर्ति के जगत् दिखाई नहीं दे सकता. इसीलिए घट-ज्ञान, पट-ज्ञान आदिक इन सब में प्रमाण वृत्ति और सोपाधिक प्रमाता ऐसी त्रिपुटी बिना जानने का व्यापार नहीं होता. जाड्य, तम, सक्रिया, मालिन, शुद्ध, तैल, घृत, वेणु-बुद्धि, तीव्र, दक्ष, प्रकाश, मेधा, धृति, धारणा आदिक सब विशेषणाएँ बुद्धि को ही लागू होती हैं. इसमें विचारकुशल, मेधावान् इस विषयगत चैतन्य को तत्काल जानता है और तत्पर होता है. ज्ञान अज्ञान यह तारतम्य, अथवा हेरफेर जैसा बुद्धिविषयक दीख पड़ता है, वह प्रकार चैतन्य-रूप में नहीं माना जा सकता यह श्री शङ्कराचार्य जी ने अनेक युक्तियों से सिद्ध किया है. चैतन्य अखण्ड, एकरूप स्वसामर्थ्य से विषयप्रकाशक नित्य सिद्ध रहता है. चैतन्य का सङ्कोच, विकास, जन्म-नाश देखने वाला अन्य चैतन्य नहीं है. इसलिए उसको एक, अद्वितीय कहते हैं. चैतन्य में क्रिया नहीं, किन्तु केवल स्फुरण है. उस स्फुरण को

व्यवहार में लाने वाले बुद्धि ने यदि अभ्यास से ब्रह्माण्ड भर व्यापक ऐसे विराट् रूप आकृति का वेश धारण किया तो "मैं आत्मा बृहत् ब्रह्मरूप हूँ" ऐसा स्फुरण होता है. अर्थात् स्वात्मस्फुरण अनन्त गोल व्यापक रहते बुद्धि के सङ्कोच-विकास-धर्म से मैं छोटा, बड़ा ऐसा समझ लेता है. इसमें जो अखण्ड प्रकाश अनुभवरूप, चैतन्यरूप परमात्मा है वही सबका आदि गुरु कहलाता है और वह तो अखण्ड है ही, परन्तु यदि शिष्य को

सादिच्छा प्राप्त हो जाय तो संशय का निरसन करके वह व्यापक रूप से स्फुरता है. ऐसा सुखकर स्फुरण होने को शिष्य-प्रज्ञा ही कारणीभूत है, इस रहस्य की भूल न पड़ने की चिन्ता रखनी चाहिए! अब सगुण-वर्णन में भी विभूतियों की लक्षणाएँ कहते हैं:- मैं ही सर्वगत हूँ ऐसा श्रीकृष्ण जी ने कहा है. उसी प्रकार ब्रह्म-चिन्तन समझना चाहिए और वेद, शास्त्र, पुराण, संस्कृत अथवा प्राकृत कोई वाणी हो, जो अज्ञान दूर करने वाली हो वह चैतन्य-वाणी ईश्वर की आज्ञा समझनी चाहिए. निश्चल-दास जी स्पष्ट कहते हैं:-

ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित् ताकी बानी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत करत भेदभ्रमछेद ॥१०॥

-(विचारसागर, तृतीयस्तरङ्ग)

अस्तु; इस गुरुवर्णन में यह भी एक बड़ा लाभ हुआ कि, हमारे इस ग्रन्थ में कई वाचकों को जो जो संशय उत्पन्न होंगे, उनका परिहार हमारे चैतन्य-गुरु आप ही आप कर रहे हैं. हमारे इस ग्रन्थ में समाप्तिरूप मङ्गल करना निष्फल है. कारण, अनेक प्रसङ्गों में ग्रन्थ पढ़ते समय ग्रन्थरचयिता समक्ष नहीं रहते. यदि पश्चात् कोई शङ्का उत्पन्न हो जाय और पाठक इस चिन्ता में पड़ जाएँ कि, हमारा यह संशय सद्गुरुविना कौन मिटायगा और क्योंकर दूर होने पायगा! तो इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी. कारण, यह संशय उपस्थित करने वालों को हम पूँछते हैं कि, वसिष्ठादिकों ने जो निर्मल, संशयरहित कहा है वह भी स्फुरण चैतन्य का ही है. उनका शरीर हमारे सामने रहे न रहे, पर उन्हों ने आत्मविषयक जो बोध किया है, वह

आत्मा तो सर्वकाल अमृतरूप प्रत्यक्ष रहता ही है, यह भी इस गुरु-वर्णन में सहज ही स्पष्ट हो गया. इसलिए अब इसके अनन्तर कोई शङ्का उपस्थित करने का कारण ही नहीं. युग-रचना ग्रन्थ, ब्रह्माण्ड अनेक वार वनते और मिट जाते हैं, तो भी समष्टि ईश्वर की "अहंब्रह्म-स्फूर्ति" और व्यष्टिरूप आत्मा की 'मैं' यह स्फूर्ति कभी नष्ट नहीं होती. कारण, यद्यपि हठात् नाश मानें तो वह देखा किसनें? तो फिर चैतन्य को नाश है ही नहीं. परम्परा—मुक्तपदवीस्थित ऐसे गुरु ने जो उपदेश दिया वह सदाकाल प्रत्यक्ष रहते उसका फल भी अज्ञान-नाशरूपी रहने से अभ्युदय और निःश्रेयस सभी फल देने वाली यह आत्मविद्या और वह आत्मा सद्गुरु-रूप से सर्वदा उपदेश देने सर्वत्र खड़ा ही है! यह भक्तकार्यकल्पद्रुम चैतन्यदेव कभी जीर्ण नहीं होता, यह तत्त्व अजर, अमर, अमृतरूप, सबको नित्यप्राप्त, सुलभ, सकल विषयों को भासमान कराने वाला, प्राणों के व्यापार को अखण्ड शक्ति देने वाला, प्रत्यक्ष और नित्यप्राप्त है.

२१ इसपर भी बहुतसे कहेंगे कि, यदि विश्वास फलदायक है, तो सब ब्रह्मरूप ही है, आत्मा अलिप्त, व्यापक है और यह जगत् मिथ्या है इन वचनोंपर हमारा पूर्ण विश्वास है. फिर तुह्मारा यह उपदेश और यह शास्त्रप्रयास क्यों? उसी प्रकार कतिपय पण्डित कहते हैं कि, शब्दज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता इत्यादि तर्कवाद उठ खड़े होते हैं, परन्तु उनको हमारा कहना इतना ही है कि, वार्तिक वेदान्त-परिपाटी ऐसी है:—

"ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षता।
स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥९२॥

-(पञ्चदशी, तृप्तिदीप.)

(अज्ञान-नाश के हेतु ब्रह्म में वृत्तिव्याप्ति (बुद्धिवृत्ति) अपेक्षित है; परन्तु वह स्वतः स्फुरण-रूप रहने के कारण वहाँ आभास का कोई उपयोग नहीं.)

व्यवहार-दशा में सोपाधिक आत्मा ही रहता है. आत्मा को आवरण करने वाला जो अज्ञान है उसको घेरकर यह बुद्धि अज्ञान दूर करती है- अज्ञान पर बुद्धि का आघात होता है. कारण, नाश करने का सामर्थ्य बुद्धि में है; परन्तु जैसा वेदों ने औपचारिक रीति से कहा है कि, "आत्मा देखता है, बोलता है, जानता है उस प्रकार वृत्ति ब्रह्मरूप को घेरती है यह कहना भी औपचारिक ही समझना चाहिए. कारण, अध्यारोप-अपवाद रूप से ही वेदान्त-वर्णन हुआ करता है. उसके विना गत्यन्तर नहीं. अस्तु; विषय-ज्ञान होने के लिए वृत्तिव्याप्ति की आवश्यकता है, इसलिए ब्रह्म है और आत्मा यानी "हम ब्रह्म हैं" ऐसा केवल सुन भी लें तो उस समय उन शब्दों को ही वृत्ति घेरकर रहती है और शाब्द-बोध होता है. विषयव्यापक-वृत्ति न हुई तो आत्मज्ञान मोक्षप्रद नहीं होता. जिस समय कि वृत्ति यानी क्या? व्यापक यह लक्षण किसका? और तदङ्गभुत आत्म-स्फुरण कौनसा? यह निःसंशय और निश्चय पूर्वक समझ में आजाय तो उसीको आत्मज्ञान कहना चाहिए. इसमें भी सर्वाङ्ग, समस्त

लक्षणाओं से युक्त मुक्ति-विषयक अज्ञान नष्ट हुए विना आनन्द का स्फुरण नहीं होता. ऐसा प्रकार श्रेष्ठ, बड़े व्यक्तियों में भी दिखाई देता है. ऊपर "सर्वाङ्ग" जो कहा उसका कारण, बहुतसे साधु कुछ कुछ लक्षणाओं का ही उपदेश देते हैं. समस्त लक्षणाओं से भरपूर एक आत्मा ही होते चमत्कार देखिए! कि, स्वरूप, चैतन्य, आनन्द, प्रकाश, एक, ज्योति, जगद्योनि, जगत्कारण यह सब नाम आत्मा के ही रहते हुए भी सम्प्रदाय-वैषम्य दीख पड़ता ही है!! यानी स्वरूप-बोधक, चैतन्य-बोधक प्रकाशबोधक ग्रन्थों में कोई कोई साम्प्रदायिक भेद मानते हैं!!!

२२ आओ! अब हम उनके कथन में क्या और कैसा हेरफेर है इसका विचार करें. समर्थ (रामदास जी) ने चौदा ब्रह्मों का निरास कहा है, परन्तु वह प्रकार अन्य ग्रन्थों में नहीं है. अदलबदल (फेरफार) दीखता है यह जो ऊपर कहा गया वह हमारा स्वयम् कथन नहीं है, किन्तु पद्मपाद, मण्डणमिश्र इनके ग्रन्थों में उलटफेर रहा हुआ निश्चलदास जी ने स्पष्ट कहा है. हमारे मत से यह उनका कलह अथवा आग्रह अनेक साधकों को उपकारक ही है. कारण, एक वस्तु का ज्ञान अनेक मार्गों से करा दिया जाता है. तात्पर्य यह कि, अन्यान्य गुण, स्वभाव और रुचि आदिक अनन्त भेदों से युक्त ऐसे अधिकारी रहा करते हैं. उनमें जिसको जो मार्ग प्रिय और रोचक होगा वह उसका स्वीकार करें, परन्तु अन्त में फलतः सबका सिद्धान्त एक ही रहने के कारण सभी मार्ग उपकारक हैं यह न भूलना चाहिए. आत्मा की जो जो लक्षणाएँ हैं तद्विषयक सकल लक्षणाओं से युक्त आत्मज्ञान क्रम से होते होते तद्विषयक अज्ञान का

समूल नाश हुए विना ज्ञान की पूर्णता नहीं होती. अब ऐसा भी दीखता है कि, व्यवहार में आत्मविद्याप्रवीण ज्ञानी भी अतिशय प्रपञ्च-साहस करते हैं. इसमें भी प्रवीणता जन्मरहित हो जाने की इच्छा से नहीं, किन्तु केवल विद्या की पूर्णता होने के लिए! यानी यद्यपि ज्ञान सम्पादन किया जाय तो भी उदर विना सुखप्राप्ति के और महत्त्वाकाङ्क्षा रहे विना मन की प्रवृत्ति नहीं होती इसलिए दिनरात निश्चय पूर्वक आत्मज्ञान हृदय में अच्छी प्रकार गड़ लेना चाहिए. बाह्य विषय-सुखसामग्री केवल ढकोसलामात्र है. "मोक्ष-काम तो क्या; विद्याकौशल्य-प्राप्ति के उद्देश से भी क्यों न हो यदि आत्म-रूप धँस जाय तो भी वह मुक्त होता है" ऐसा श्रीमदाचार्य जी ने "अनिच्छन्नपि" इस वचन से कहा है, इसमें भी कायरता, संशय, विपरीत भावना ऐसे बहुत से दोष कुछ काल तक अखण्डानन्द का अनुभव करने में रुकावटें पैदा करते हैं और कितेक अन्यान्य अडङ्गे भी साधकों के पीछे दौड़ पड़ते हैं; परन्तु फलतः अन्त में सिद्धान्त का निश्चय हो जाने से-यद्यपि कुछ कालावधि क्यों न लगे, पर-पूर्णानन्द का लाभ होगा ही होगा. कारण, हमारे मत से मुक्ति तो नित्य है, वह प्राप्य-रूप नहीं और न किसीके हटाये हटती है! यानी ऐसी नहीं कि, पहले वह नहीं थी, किन्तु अब उसकी नये सिर से प्राप्ति कर लेनी है. यह सब कुछ कहने का तात्पर्य इतना ही है कि, आत्मविद्या ही मनुष्यमात्र का मुख्य ध्येय, प्रमुख कर्तव्य है, यही धन है और इसीको सफलता समझनी चाहिए.

२३ ऊपर समस्त लक्षणाओं से आत्मज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए यह कहा है. तो सत्, आनन्द यह स्वरूपलक्षण अथवा

उत्पन्न करना, पालन करना यह तटस्थलक्षण इस प्रकार विशेष भेद शास्त्रों ने दिखलाया है, परन्तु सत्य दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा सङ्कुचित भी नहीं और विभु भी नहीं है. विषय-प्रकाशक भी नहीं न आच्छादित भी. किम्बहुना मूलभूत शुद्धसत्वात्मक आदिमाया का विकास करने वाला जो ईश उसीकी यह लक्षणाएँ समझनी चाहिएँ. ब्रह्म तो ह्रस्व है न दीर्घ ही. वह "जड़" नहीं यह बतलाने के लिए उसे "चेतन" कहा, दुःखरूप नहीं इस हेतु आनन्दरूप, असत् नहीं इस कारण सत्, अल्प नहीं इसलिए विभु, संघात-योग से विकारी नहीं होता इस दृष्टि से उसे निर्विकारी कहा है. बस इतनाही! इस रीति से जितनी कुछ ब्रह्म-बोध करा देने वाली लक्षणाएँ हैं वह सब अन्य-व्यावर्तक, अविद्या-अज्ञाननाश करने वाली हैं, इसलिए उन लक्षणाओं से तत्त्वों की गहराई में उतरना चाहिए और आत्मा चित्त में अच्छी प्रकार पैठाना चाहिए. जहाँ वाणी का उच्चार होता है, वहाँ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ सी व्यवस्था करनी पड़ती है. इसलिए चैतन्य, आनन्द आदिक शब्दों की भी ऐसी ही व्युत्पत्ति मानी गई है. जैसे-"चैतन्य" इस विशेषण में व्यावहारिक और पारमार्थिक ऐसे दो प्रकार हैं. सबको चेतावने वाला जो चैतन्य वह "वाच्य" समझना चाहिए और सकल-उपाधि-रहित, निर्व्यापार, अखण्ड, पूर्ण चैतन्य यह "लक्ष्य" समझ लेना चाहिए. उसी तरह सब वृत्तियों को सुख देने वाला यह आनन्द शब्द का "वाच्यार्थ" और जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान नहीं वह सुख "लक्ष्यार्थ" समझना चाहिए. साररूपतः अविद्या का नाश माया से होता है. प्रकाश अन्धकार को हटाता है, तब भी सामान्य प्रकाश यह उसका विरोधी नहीं है. उलटा अन्धकार भी तो

एक प्रकार का प्रकाश ही है. पर, विशेष-प्रकाशहि एक ऐसा हैं जो अन्धकार का पूर्ण विरोधी कहलाता है, यह पूर्व प्रकरण में कहा ही है. निर्विकार आत्मा किसीका भी विरोधी नहीं. इसीलिए केवल आत्मस्वरूप लक्षण रहित, स्वसंवेद्य है. इसमें मूल-माया जो चिच्छक्ति उसके कृपा-प्रसाद से अज्ञान नष्ट होता है. इसमें भी मायाधीशता, स्वामित्व यह ब्रह्म का भूषण ही है. सच देखें तो, मूलमाया, चित्स्वरूपिणी, संविद्रूप से विषयावगतिः चित्कला उपाधि भी नहीं कही जा सकती. कारण, उलटा ब्रह्म का आस्तित्व, ब्रह्म की पूर्णता, आनन्दरूपता दिखलाने वाली शक्ति यही रहती हुई जैसे पानी की लहरियाँ, अग्नि की ज्वालाएँ, फूलों का सुगन्ध यह पदार्थ-स्वभाव हैं, उस प्रकार यह शक्ति ब्रह्म का महत्त्व, आस्तित्व बतलाने वाली, अभेदरूप, अखण्ड स्फुरद्रूप विलास करने वाली है. इसमें भेद-दृष्टि जिस अज्ञान के कारण भासती है, संसार के दैनिक घटनाओं में जड़-चेतन, सुख-दुःख, ईश-जीव आदिक भेदभाव जिस अज्ञान के कारण दिखाई देता है उसको नष्ट करने वाली भी यही शक्ति है यह न भूलना चाहिए. यह शक्ति अपने सामर्थ्य से इस जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करती है अन्त में सब ब्रह्माकार दिखला कर स्वयम् अखण्ड, अभेद एक ब्रह्म बने रहती है. देखिए! कि एक ही ब्रह्म को माया, आत्मा, ब्रह्म ऐसी विशेषणाएँ दी गई हैं. इसीके प्रसाद से सकल मनोमय मल नष्ट होकर सदोदित अखण्ड आत्मा स्फुरद्रूप, मल-रहित रहता है. "मैं हूँ" इस प्रकार जो स्फुरता है उसमें अहंप्रत्यय सत्तावाचक है. सारांश सर्वकाल पूर्णतः अखण्ड निश्चल रहने वाला और व्यव-

द्वार में समस्त विषय बतलाने वाला, स्वप्न का साक्षीभूत, नित्य सहजमुक्त, श्रीगुरुस्वरूप परब्रह्म अखण्ड है ही है. इसके सन्मुख नित्यमुक्त पुरुष गायन करते हुए, स्वच्छन्द, आनन्दरूप रहते हैं, तब तो हम (ग्रन्थरचयिता) किसका गायन करते हैं और हमारा सही अनुभव, सच्चा तत्त्व, सत्य प्रेम वास्तव उपासना कौनसी, यह शिष्यपरम्परा उपदेश में बतलाना है. उसमें पूर्वेतिहास ऐसा है कि, आदि गुरु श्रीदत्तात्रेय के रूप का वर्णन पहले किया गया ही है. उनके चतुर्थ अवतार श्री माणिकप्रभु का उत्सवविग्रह ऐसी जो "नरसिंहदेवता" वह हमारे परमगुरु कहलाते हैं और श्री श्री मोक्षप्रद "मनोहरमुनि" हमारे उपदेशगुरु (श्री सद्गुरु माणिकप्रभु-उत्सवविग्रह-नृसिंह-देवता यह अनुवादक "सुधांशु" ग्रन्थरचयिता के परात्परगुरु, श्रीमन्मनोहरमुनि यह परमगुरु और श्री श्री मोक्षप्रद श्रीमन्मार्तण्डमाणिकमुनिवर्य यह उपदेशगुरु) इन सबको नमन करके साम्प्रदायिकों के विश्वासार्थ सौगन्द खाकर हम सत्य रहस्य कह रहे हैं.

२४ श्रीशुकाचार्य जी को पुराणश्रवणोत्तर महामुनियों ने जब प्रश्न किया था कि, आपकी उपास्यदेवता कौनसी? सत्य अनुभव कैसा रहता है यह हमें बतलाइए. इसपर श्री शुक जी ने कहा कि, उपासक जब कभी अपने उपास्यदेवता का नामोच्चार कर चुकता है, उसके उपरान्त कुछ बड़ी देर तक एक अक्षर भी उससे नहीं कहा जायगा! इसलिए प्रथम हमारा अनुभव क्या है यह कहता हूँ. उसको आप कभी न भूलें:- ब्रह्म को अन्य पदार्थ का स्पर्श तक न पहले कभी हुआ न कभी होगा. हमारा ध्यान ऐसा कि, ज्ञानी पुरुष अखण्ड, एक अवकाश और कालरूप ईश्वर है. यानी वर्तमान, भूत और भविष्यत्काल में भी

आत्मा समान ही रहता है. विचार करो! सौ वर्ष पहले तुम्हारा यह शरीर नहीं था और अनन्तर भी नहीं रहेगा. तुम यदि अटल एक काल मानोगे तो प्रस्तुत भी वैसे ही तेजोमय हम हैं, निःसङ्ग हैं ऐसा सहज ही जान पड़ेगा. हम सूक्ष्म, अनन्त व्यापक, तेजोरूप हैं और उसमें यह पञ्चमहाभूतें शब्द-स्पर्श-विषयरूप इन्द्रिय-गोलक इत्यादि समस्त पदार्थों की आकृति पानी का फेन, अथवा बुदबुदों की तरह बन जाती है. जैसा कि उत्पत्ति का क्रम है उसी प्रकार फेन, बुडबुडा हो कर पानी में पिघलता है. उसी प्रकार ये पञ्चमहाभूतें जगत् सहित नाम रूप त्याग कर ब्रह्मज्योति में पिघलते हैं. व्यवहार में भी अग्नि-क्रीडा (चन्द्रज्योति, तारामण्डल आदिक आतशबाजी) देखते समय एक ही अग्निज्वाला काले, पीले, नीले ऐसे अनेक रङ्गों के आकृतियों से प्रेक्षकों को भासती है. तद्वत् एक ही चैतन्यप्रकाशवृत्ति नील-पीतादिक विषयाकृतिरूप से ब्रह्मज्योति में अखण्ड प्रतीत होती है. संसारभर में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जिसमें आत्मप्रकाश न हो. इस मोक्षदायक मुख्य तत्त्व का हमने तुमको उपदेश दिया. तुम प्रश्न करने वाले आनन्दरूप, मैं उत्तर देने वाला आनन्दरूप और बोध भी आनन्दरूप ही - इतना ही क्या-संशय, तर्क, उपदेश, ज्ञानी, मूर्ख, बद्ध, साधक इत्यादि ब्रह्मादिस्तंबपर्यन्त सभी आनन्दरूप, स्वसंवेद्यरूप से व्यवहार करते हैं.

शिवः सर्वं शिवः सर्वं शिवः सर्वं पुनःपुनः ।
वचः शिवमयं ज्ञेयं वक्ता वाच्य च तन्मयं ॥१॥
(योगवासिष्ठ, अध्याय १०)

आत्मा को दुःख का छुआछूत तक नहीं होता. यद्यपि अन्तःकरण-वृत्ति कभी कभी तमोगुण के उत्कर्ष से दुःखाकार स्वाँग भरती है तो भी थोड़ा ही समय बीतने पर सबका समारोप ब्रह्मानन्द में ही होता है. इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं कि, निखिल विश्व में जहाँ तहाँ नाम-रूपात्मक सृष्ट वस्तुओं से भरा हुआ सारा पसारा जो भासमान होता है, जड़-चेतनात्मक समस्त पदार्थों की जितनी और जैसी कुछ विविध प्रकार की आकृतियाँ आँखों को प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं उन सभों का मूल रूप यदि पूछो तो एक चैतन्य ब्रह्मरूप ही है. अर्थात् सृष्टिपूर्व का ही एक-रूप आदि अन्त में अखण्ड, सम्पूर्ण आनन्दरूप है ही.

इसके अनन्तर अष्ट-भाव उठे हुए पुलकित-तनु अवस्था में श्री शुकदेव जी महामुनि लोकविलक्षण प्रेमपरिप्लावित अन्तःकरण से बोल उठे कि, "अब हम अपनी उपास्य-देवता का सप्रेम उच्चार करते हैं" और उनकी उपास्य देवता जो श्री महादेवी कृष्णप्रिया "राधा" थीं उसका अपने हृदय में सम्पूर्ण ध्यान जमा कर श्री शुकाचार्य जी ने बड़े उल्हास भेरे उच्च रव से "रा" इस प्रथमाक्षर का उच्चार किया, अनन्तर "धा" अक्षर कहने के पहिले ही वे परवश समाधिमग्न हो कर उसी आवेश में पर्यटण करने के लिए स्वच्छन्द गति से चल पड़े.

अब हम उपरिनिर्दिष्ट कथन के अनुसार सकल सिद्धान्त-सार तत्त्वभूत, सकलमत-आधारभूत ऐसा हमारा सच्चा अनुभव, सच्चे उद्गार, सच्ची निष्ठा बड़े ही आनन्द भरे हृदय से कह देने के उल्हास में अत्यन्त हर्षनिर्भर हो कर गाते हैं. यह सकल

सत्व सार, यह हमारा गायन :- "शिवोऽहम्, — श्री गुरु माणिक, जय गुरु माणिक, जय जय माणिक !"

श्री
भक्तकार्य
कल्पद्रुम
गुरु सार्वभौम
श्रीमद्राजाधि
राज योगी महाराज
त्रिभुवनानन्द अद्वैत अभेद निरञ्जन
निर्गुण निरालम्ब परिपूर्ण सदोदित
सकलमतस्थापित
सद्गुरु माणिक प्रभु
महाराज की जय!

सकलमत साम्प्रदायिकों का अखण्ड विजय होवे!

— इति शम् —

पहला-परिशिष्ट

(रहस्य)

श्री प्रभु के उल्हास--सामर्थ्य से "स ईक्षत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय" इस श्रुति के अनुसार यह जगत दिखाई देने लगा. उसमें ही जीव-शिव, उच्च-नीच, बन्ध मोक्ष, स्वर्ग-नरक यह प्रतिभास भासते हैं. आत्मा स्वयम् यद्यपि निर्विशेष अनुभवरूप है तो भी मनोविकल्प के अनुरोध से जो जो विकल्प होते और उनके अनुसार जो सुखानुभव अथवा दुःखानुभव हुआ करते हैं उसके अनुसार "सुख अथवा दुःख का भोक्ता मैं ही हूँ" ऐसा माने अभिमान धारण करता है. उसपर जीवचैतन्य का आरोप आता है. वस्तुतः सात्विक अहङ्कार से युक्त अन्तःकरण में आत्म-तेज के प्रभाव से स्फूर्ति होने के कारण "मैं ही सुखी अथवा दुःखी हूँ" ऐसा भास होने लगता है. यानी यह क्रिया आत्मा की नहीं, किन्तु अन्तःकरण की है ऐसा विवेक मनुष्य को न होते हुए वह मानता है कि "मैं (आत्मा) ही सुखी अथवा दुःखी हूं" यह मानना भी तो अन्तःकरण का ही स्वभाव है! मानासिक व्यापार भी आत्म-तेज से ही भासता है. वही अपने सामर्थ्य से विचारों का भास कराता रहता है; तथापि वह स्वतः केवल अलिप्त रहता है. विकारवान् नहीं होता. सबको जो अपने

अस्तित्व "हम हैं" का अभिमान स्फुरण पाता है वह आत्मसामर्थ्य से ही. आत्मा के विना इतर समस्त पदार्थ जड़ हैं. जड़ में तो न अपने को दर्शानेका सामर्थ्य है न ही अन्य विषय का भास कराने की शक्ति! आत्मा ही सकल अवस्थाओं में सबका भासक है. वह आकाश जैसा स्वभावतः निर्लेप मलरहित, पूर्ण और अखण्ड है. वह न कभी जन्म पाया था और न पैदा होता है न ही कभी जन्म लेगा. वह अनाद्यनन्त है. इस प्रकार का यह आत्मज्ञान सबको स्पष्ट और उत्तम प्रकार से हो जाय और इसकी उपयोगिता का पता चल जाय, इसलिए हम आत्मविद्याकथन का प्रयास कर रहे हैं. इस आत्मविद्या से समस्त जीव मोक्ष-प्राप्ति कर लें, यही हमारी मनोवाञ्छा है. जिनको इस आत्म-विद्याप्राप्ति की उत्कट इच्छा हुई हो उनके हित के लिए ऐसे विषयों का हम मुख्यतः खुलासा कर रहे हैं कि, जिन विषयों के सम्बन्ध में वेदान्त-शास्त्र में बड़ा भ्रम उत्पन्न होता है और जो जो विषय सन्देहयुक्त, किन्तु उलटा संशय बढ़ाने वाले हैं.

२ जो यों कहते हैं कि, यह जगत् अज्ञान के कारण विपरीत दिखाई देता है, उनके मत से नेत्र-रोग के कारण जैसे एक पदार्थ के अनेक दीखते हैं उस प्रकार अज्ञान के कारण न रहता हुआ जगत् हमें दीखता है. अर्थात् जगत् का दीखना नष्ट होकर सर्वत्र ब्रह्मरूप ही दिखाई देने के लिए इस अज्ञान का, अविद्या का नाश ही होना चाहिए यहाँ यह प्रक्रिया ध्यान में रखने योग्य है कि, पारमार्थिक सत्ता से एक ही चैतन्य रहते हुए दृश्य, द्रष्टा, दर्शन आदिकों का उसके साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं है; परन्तु सदाकाल पारमार्थिक ही देखना हमारे लिए बड़े ही कष्ट और कठिनाई का सामना है. उसी तरह व्यवहार का

अनुभव तो सभी करते हैं, हमारा तो यह कहना है कि, समस्त व्यवहार में भी व्यापक आत्मानन्द भरपूर है ऐसी दृष्टि रख आचरण करना चाहिए, यह सर्वथा योग्य ही है. विशेषतः जिनकी केवल मोक्ष की इच्छा हो उनको तो ऐसी दृष्टि अवश्य रखनी चाहिए. हमारे मत से सामर्थ्य, सुख, आनन्द, ज्ञान सब कुछ देने वाला आत्मा ही है. तब वह कैसा दीखता है यह बतलाना आवश्यक हुआ. ऊपर कहा गया था कि, अविद्या के कारण एक के अनेक पदार्थ दीख पड़ते हैं परन्तु-

"भासाकरितां भास भासे ॥ निराभासीं कांहींच नसे" ॥९॥

-(दासबोध, दशक ८, समास ३)

(भास केवल भास के कारण भासता है, निराभास में कुछ भी नहीं)

यह लिखने वाले समर्थ रामदास जी अजातवादी हैं. उनका कहना यह है कि, विषयज्ञान होने के लिए प्रमाता की आवश्यकता है. अविद्या के योग से दृश्य विषय कैसे ही क्यों न भासमान हों, तथापि उन्हें देखनेवाला तो कोई चाहिए न? तो वह कौन है? इस प्रकार की शङ्का उत्पन्न न होने पाय, इसलिए, हमने यह विस्तार लिखा है. तात्पर्य निर्विशेष चेतन में सामर्थ्य है तब ही तो वह चेतन कहलाता है और इसीलिए उपाधियाँ दिखाई देती हैं. निरन्तर रहने वाली जो आत्म-स्फूर्ति उसका जो प्रथम विकाररूप वह है महामाया! यही चेतन की पहिली उपाधि है. इसमें स्थित चेतन को "ब्रह्म" कहते हैं. ब्रह्म को यदि यह रूप प्राप्त हो जाय, उससे यह उपाधि जड़ जाय तो उसीको कर्ता, भोक्ता, ईश्वर आदिक नामें प्राप्त हो जाती हैं. इस सम्बन्ध के प्रक्रिया का उल्लेख तो ग्रन्थ में किया ही गया है कि, उस ईश्वर को "बहुस्याम" ऐसी स्फूर्ति होकर वह सृष्टि उत्पन्न होती है. उसी

प्रकार यह भी कहा गया है कि, चेतन की इच्छा के अनुसार अनेक वेश, अनन्त रूप उत्पन्न होते हैं और इस प्रकारका समूचा दृश्य द्रष्टा के बल पर दिखाई देता है.

३ साधन-सम्पत्ति की आवश्यकता तारतम्य से माननी चाहिए. इसके सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य मुख्य सिद्धान्त यह है कि, जब तक भोग का अवशेष ज़ोर खाता रहता है तब तक आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्ति ही नहीं होती.

न काम्यप्रतिषिद्धाभिः क्रियाभिर्मोक्षवासना ।
ईश्वरानुग्रहात्सा स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ॥७०॥
-(वेदान्तडिण्डिमः).

जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है, चैतन्य-प्रसाद से ही चित्त की प्रसन्नता होती है और उसके अनन्तर "मैं कौन हूँ" यह ज्ञान सम्पादन करनेकी ओर मनुष्य प्रवृत्त होता है. यहाँ यह विचार आवश्यकीय है कि, सकल भोग, साधनाएँ, पञ्चभूतें ईश्वर की इच्छा से ही उत्पन्न होती हैं. अर्थात् समस्त क्रियाओं में इच्छा ही एक मुख्य माननी पड़ती है. तो फिर ऐसा क्यों न मानना चाहिए कि, अधिकारी शरीर के प्राप्त होने को भी ईशेच्छा ही कारण है? इस प्रश्न पर हमारा यह उत्तर है कि, वास्तविक देखा जाय तो आत्मा सर्वव्यापक रहने के कारण सभी अधिकारी हैं. केवल मोक्ष की इच्छा रखने वाले प्रकृत जन्म में भी साधन-सम्पत्ति प्राप्त कर लें, परन्तु आत्मज्ञान केवल मोक्षसुख ही देने वाला नहीं, किन्तु इस आत्मविद्या से सकल सुख, उन्नति, विजय आदिकों की भी सहज प्राप्ति होती है.

यह वेदविद्या कहलाती है. वेद की व्याख्या यहाँ इतनी ही कहनी है कि, जिस उपदेश में संशयरहित ज्ञान होगा वह वेद-वाणी समझनी चाहिए. दृष्टान्ततः -कोई मन्त्र हो, जिस मन्त्र से तत्काल गुण प्रतीत होता है वह उसका मन्त्र कहलाता है. जिससे सर्प का विष उतरता है वह "सर्प का मन्त्र" कहा जाता है. उस मन्त्र की भाषा संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, तैलङ्ग कोई क्यों न हो, उसमें यदि वीर्य, सामर्थ्य उत्पन्न हो जाय तो उसको "मन्त्र" यह संज्ञा प्राप्त होती है उपर्युक्त दृष्टान्त की तरह बोध-दृष्टि से जिस वाणी में निःसंशय बोध हृदय में धँसाने का सामर्थ्य है उसको "वेदवाणी" कहनी चाहिए, ऐसा पण्डित निश्चलदास जी स्पष्टतः कहते हैं. यहाँ वेद शब्द का अर्थ ज्ञानविषयक लेना चाहिए. इसीमें सामञ्जस्य है. अस्तु, जब कि हम वेद शब्द का अर्थ ज्ञानविषयक करते हैं तब वेदार्थ जानने के लिए जो साधन, जो अभ्यास और जो तप बतलाया गया है उससे भी विशेष कोई अन्य साधन- वैराग्य-सम्पत्ति बतलाने की आवश्यकता नहीं है. इसका खुलासा इस प्रकार कि, मौञ्जीबन्धन, वेदाधिकार-ग्रहण आदिकों को जो सामग्री चाहिए, वही उत्तर मीमांसा, वेदान्तविचार को पर्याप्त (बस) है. अब स्त्री, शूद्रों के लिए क्या किया जाय ? तो, उनको मौञ्जीबन्धन नहीं ऐसा कोई न समझे उनके लिए भी प्रकारान्तर से मौञ्जीबन्धन कहा गया है. इससे भी विशेष स्पष्टार्थ यह है कि, संन्यासयोग हुए विना वेदान्त सफल नहीं होता. श्रीमच्छङ्कराचार्य-रचित पञ्चरत्नमालिका-स्तोत्र के इस कथनानुसार-

" वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम् ।

तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ॥
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसंधीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥१॥
—(श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचित साधनपञ्चक.)

यह बात कि संन्यास लेना ही चाहिए सही भी है. इसलिए हम संन्यास-दीक्षा ग्रहण करने वालों को आग्रहपूर्वक कहते हैं कि, साधन-सम्पत्ति प्राप्त रहे विना संन्यास लेना ही नहीं चाहिए यह अत्यन्त वास्तविक है. नहीं तो वह उसकी केवल विडम्बना कहलायगी. श्री शङ्करगुरु ने जगह जगह साधनविधान, वैराग्य, संन्यासयोग की जो बड़ी ही प्रशंसा की है, उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि, एक ऐसा काल भी आया था जिस समय में कि जनता "मोक्ष यह पुरुषार्थ नहीं" ऐसा कहने लगी और

"निमेषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना"
—(अपरोक्षानुभूति, श्लोकार्ध ॥१३४॥)

इस प्रकार के अत्युत्तम निर्विकल्प समाधि की भी निन्दा करने लगी, उस समय यह विशेषतः कहना आवश्यक था कि, "ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष-पुरुषार्थ प्राप्त होता है" इसलिए उन्हों ने विषयनिन्दा और साधन-सम्पत्ति की आवश्यकता जो बतलाई वह लोकोपकारी है. परन्तु इसपर से ऐसा कहना कि, "गृहस्थों के लिए ज्ञानप्राप्ति का दरवाज़ा बन्द है, ज्ञानियों को भोग ही नहीं हुआ करते, श्रीकृष्ण, जनकराजा इत्यादिकों का जो विलास-वर्णन पुराण-ग्रन्थों में आया है वह केवल अर्थवाद है" अनुभव में ज़रा भी नहीं जचता. ज्ञान से मृत्यु-भय भाग जाता

है, निरंकुश तृप्ति गले लगाती है, सर्व सृष्टि-कर्ता, तेजोरूप मैं ही हूँ, पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकादि विशेषणों को -ब्रह्म, ईश्वर, सत्ता, संवित्, ज्ञप्ति आदिक विशेषणों को मैं ही आधारभूत हूँ यह प्रतीत होने लगता है- इतना ही नहीं, किन्तु सकल मनुष्यमात्र को आत्मज्ञान है यह हम प्रतिज्ञा के साथ लिखते हैं, परन्तु इसी को ज्ञान कहते हैं यह तो वे सदा हि भूलते हैं! कण्ठमणि, हस्त-कङ्कण अथवा स्वप्न-वैधव्य के दृष्टान्त की तरह अपने धन की हमें भूल पड़ी है. उसमें भी जगदाभास होता है यह अज्ञान अविद्यामूलक है. इसलिए अपने ज्ञान का सङ्कोच होता है. इस कारण आत्मा की जो उत्तम तटस्थ स्वरूप-लक्षणाएँ हैं उनका अन्तःकरण में स्फुरण होना चाहिए. इसमें कांटे से कांटा निकाल फेंकना, मायावृत्ति से अविद्या को दूर भगाना, जैसा अन्धेरे में भी प्रकाश दीख पड़ता है उस तरह 'मैं प्रापञ्चिक, जन्म लेने वाला, अज्ञानी हूँ' इत्यादि कल्पनाएँ हट जानी चाहिएँ, अन्तःकरण में स्थित भय नष्ट होकर "मैं अनन्त, विभु, व्यापक हूँ" इत्यादि लक्ष-णाएँ प्रकट होनी चाहिएँ इसलिए सद्गुरु की शरण लेकर आत्म-विद्या का अभ्यास करना चाहिए. तथापि ऐसा नहीं कि, आत्मा की विस्मृति हो जाती हो अथवा वह आत्म-धन गुरु के पास से प्राप्त कर लेना है. श्रीमच्छङ्कराचार्य-रचित उपदेशसाहस्त्री ग्रन्था-न्तर्गत भेषज-प्रकरण के अन्त में देखिए! वहाँ बतलाया गया है कि, कोई आत्मा को नहीं भूलता, न कभी भूला है, उसी तरह वह सम्पादनीय नहीं है यह आत्म शब्द पर से ही कैसा स्पष्ट होता है? तात्पर्य, सकल लक्षणाओं से युक्त आत्मा का स्फुरण होनेके लिए वेदार्थ ग्रहण को जो सामग्री चाहिए वही प्रस्तुत है. यह विद्या जो समस्त भोग और ईशपदवी भी प्रदान करने वाली और

सबको सदाकाल प्राप्त कर लेने के लिए तो अत्यन्त आवश्यकीय दीसी है. इसीलिए प्राप्त जन्म में ही साधन-सम्पत्ति की आवश्यकता हमने नहीं बतलाई. सत्व, रज, तम स्वभावों की अनुकूलता कैसी भी रहे, ज्ञान तो ईश्वरानुग्रहका ही फल है. ज्ञानी सत्वगुणी, शिक्षा के साँचे में ढला हुआ पूर्ण वैराग्यशील ही रहता है ऐसा भी कहीं अटल नियम दीख नहीं पड़ता. श्री देवीभागवत में कथा आयी है कि:-अज्ञातवादी वासिष्ठ ऋषि (आडी) बक का रूप धार कर कई हजार वर्षों तक विश्वामित्र के साथ द्वेष से कलह मचाते रहे[१] ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि, इस कलह के अनन्तर ही वह ज्ञानी बने. अर्जुन को श्रीभगवान् ने जो गीता सुनाई वह केवल वैराग्य उत्पन्न होने के लिए ही कही गई ऐसा तो कोई नहीं कहते. उसी तरह याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी. जनक, श्रीकृष्ण आदिक केवल वैरागी थे ऐसा कहीं दीख नहीं पड़ता. वैसे ही ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के कारण जिस गुरु की शरण में जाने के लिए कहा गया है उसमें गुरुको "श्रोत्रिय" यह विशेषण दिया गया है. (श्रोत्रिय शब्द का रूढार्थ "साग्निक" है. अर्थात् ऐसा कहीं वचन दिखाई नहीं देता कि, वेदान्त-उपदेश देने का अधिकार गृहस्थ को नहीं है.) यम जैसे प्राणहारक क्रूर दैवत! तथापि वह ज्ञानी है. इस सम्पूर्ण विवेचन पर से साधक को अधिक नियम-बन्धनों में जकड़ने की तो हमें कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती.

४ यह तो प्रसिद्ध ही है कि, सकल सृष्टि आत्मा से ही उत्पन्न होती है, आत्माधिष्ठान पर उसकी स्थिति और उसका लय भी आत्मा में ही होता है. तब सहज ही जड़ को आत्मरूप

टिप्पणी-१. श्रीदेवीभागवत स्कन्ध ६, अध्याय १२ (बारहवाँ) देखिए.

की प्राप्ति होती है. तो ऐसा जो वेदान्त का सिद्धान्त है कि, जड़-रूप अज्ञान का निरास ज्ञानाभ्यास से करें तब ही मुक्ति मिलेगी, वैसे ही ज्ञानरहित जीव महाप्रलय-काल में यद्यपि ब्रह्म में ही ऐक्यता को प्राप्त हो जाएँ तथापि वे मुक्त नहीं होते इसका रहस्य यह है कि, मुक्त होना यह कोई नवीन लाभ नहीं है, किन्तु वह सहज ही प्राप्त है. इस प्रकार से जिनकी मति स्फुरती है अथवा ऐसा जिनका दृढ़ निश्चय हुआ करता है, सर्वाङ्ग से आत्मा जिस बुद्धि में लक्षणसहित प्रकट होता है, यानी आत्मा का लक्षण असङ्ग, नित्य प्रकाशक, प्रेरक, स्वतन्त्र, स्वार्थ, अक्रिय इत्यादि लक्षणों से युक्त आत्मस्वरूप जिस बुद्धि में प्रकट होता है, यह मेधा जिस अधिकारी व्यक्ति में दीख पड़ती है-स्पष्टार्थ यह कि, आवरण-रहित अन्तःकरण जिस शरीर में रहता है-वह शरीर पूर्ववत् फिर जन्म नहीं पाता. यह अधिकार प्राप्त हो जाय तब मानो कि मोक्षार्थ की सिद्धि हुई. तात्पर्य, आत्मा स्वरूपतः असङ्ग, व्यापक होने से पुरुषार्थ सम्पादन करने वाले को इसका महत्त्व नहीं, किन्तु यह लक्षणाएँ जिस शुद्ध अन्तःकरण में स्फुरण पाती हैं उसी को मोक्ष-पुरुषार्थ की प्राप्ति हुई ऐसा कहना चाहिए.[1] सर्व उपदेश आत्मा को बन्धन से छुड़ाने के लिए नहीं है, किन्तु आत्मा नित्यमुक्त है यह ज्ञान, यह मुख्य रहस्य अच्छी प्रकार पैठाने के लिए है.

टिप्पणीः-१ मोक्ष-प्राप्ति की श्रेष्ठता -विचार कीजिए, आत्मा तो हम ही हैं, निर्व्यापार स्थिति नींद में भी आप ही आप होती है. प्रलय-काल में यह सकल दृश्य पिघल जाता है और पूर्ण आत्मा एक अखण्ड रहता है वे प्रकार आत्मविषयक प्रयत्न न करते स्वभावसिद्ध नित्य अनुभव में आते हैं, परन्तु-

दूसरा-परिशिष्ट

शून्यवाद.

वेदान्त में बहुत जगह यह विषय दिखाई देता है कि, जगत नहीं, दृश्य नहीं, वाच्य नहीं है. ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तियों के वचनों पर से वृत्ति शून्य में जा पड़ती है और ऐसा भ्रम होता है कि, स्वतःसिद्ध हम और हमारा रूप है ही नहीं. समर्थ (रामदास) कहते हैं कि, "एक दृष्टान्त से संशय बढ़ता है; परन्तु उत्तम उपपत्ति से वह नष्ट होता है" हीन विचारी जानों पर श्रवण का, शब्द का विशेष आघात होता है. इसलिए किञ्चित् अधिक खुलासा करना प्राप्त हुआ. विधि का एकांश निषेध है. और विधि की परमावधि बतलाने वाला निषेध है. कोई मनुष्य यदि निषेध-वाक्य सुन पाए तो विधिरूप को यह निषेध विशेषता देने वाला है. यद्यपि अन्यान्य आचार्यों ने विधि की व्युत्पत्ति पृथक् पृथक् बतलाई है तो भी अपूर्वार्थ कहने वाले वाक्य को ही विधि-वाक्य कहते हैं. स्वरूप का अस्तित्व दर्शाने वाला विधि है. कारण, परमावधि विधि के निषेध से स्पष्ट होती है. सिद्धान्त तो स्वतःसिद्ध, द्योतक, स्फुरने वाला पदार्थ विधि-

-इसको मोक्ष-पुरुषार्थ नहीं कहते. इसपर से यह सिद्ध होता है कि, कैसे ही स्थिति में आत्मा नित्य-प्राप्त रहते भी आत्मप्राप्ति होना यह विषय वेदान्त में मुख्य नहीं, किन्तु इसका ज्वलन्त रहस्य यह है कि शुद्धसत्वात्मक वृत्ति में संशयरहित आत्मज्ञान के स्फुरण को ही मोक्ष कहना चाहिए.

निषेध-वाक्यों की अपेक्षा न रखते सदा स्फुरता है, यह अच्छी प्रकार ध्यान में पैठना चाहिए. केवल शब्द और शब्दार्थ के चक्कर में न पड़ते तात्त्विक मन्तव्यों का विचार करना चाहिए यानी (जैसा कि कई स्थलों में कहा है कि–

"अरे जें झालेंचि नाहीं । त्याची वार्ता पुसतोसी काई ।
तथापि सांगों जेणें कांहीं । संशयो नुरे ॥१॥

–(दासबोध, दशक ८, समास ३.)

(अरे! जो हुआ ही नहीं उसका समाचार पूँछता ही क्या है, तथापि कुछ ऐसा कहेंगे कि, जिसके कारण संशय शेष न रहने पाय.) "जगत् नहीं" ऐसा कहने वाले का आशय अस्तित्व की परमावधि दिखलाने के हेतु ऊपरी विचार से प्रकट होता है. "नहीं" यानी अत्यन्ताभाव न समझना चाहिए, किन्तु एकरूप समझें. एकरूप में नानात्व नहीं रहता, उसकी परमावधि बतलाने के हेतु सबका निषेधार्थ कहा गया है. जैसे

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ॥१॥

(छान्दोग्योपनिषत् ॥ तृतीयोऽध्यायः॥ चतुर्दशः खण्डः)

"नेह नानाऽस्ति किंचन" ॥११॥

(कठोपनिषत् ॥ द्वितीऽयेध्यावे चतुर्थी वल्ली)

ऐसी वाक्यें आत्मा की परमावधि बतलाने वाली हैं. इसी प्रकार जो शून्य-निरास-प्रकरण कहा गया है वह देख लीजिए! सब ग्रन्थों में अनुभव कराके शून्यवाद का खण्डन किया गया है. वेदान्त-शिक्षक के लिए वह विषय विशेषतः लक्ष्य में रखने योग्य है.

तीसरा–परिशिष्ट

श्रवण का महत्त्व.

सकल शास्त्रों ने नियत किए अनुबन्ध शास्त्रारम्भक हैं, उसमें मुख्य विधि उपदेश का रहता है, इस सम्बन्ध में किसीका भी कोई आक्षेप नहीं. सर्व प्रसङ्ग में वेदान्त–विवेचन करना मुख्य है. अब प्राप्त प्रसङ्ग में श्रवण का महत्त्व क्या है यह देखें.

शारीरक भाष्य, पञ्चदशी इत्यादि ग्रन्थों में ऐसा कहा गया है कि, अनेक समय श्रवण से भी एक निश्चय नहीं होने पाता, इसलिए उसके अन्यान्य उपाय जो भी बतलाये गये हैं वे सब योग्य हैं. उपनिषद् में यद्यपि –

"द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

–(बृहदारण्यकोपनिषद्, चतुर्थं ब्राह्मणम्.)

इस प्रकार के पृथक् पृथक् मार्ग दर्शाये गये हैं, तथापि वेदान्त में उन सबसे बढ़ कर श्रवण को ही महत्त्व है. बहुधा जो वस्तु परोक्ष रहती है उसका ज्ञान प्राप्त कर लेने के लिए बुद्धि को विशेष श्रम उठाना पड़ता है. पर, जो वस्तु अपने सन्मुख रहा करती है और जिसके साथ अपना सर्वदा सम्बन्ध रहता है उस वस्तुविषय का अज्ञान दूर कर उसकी पहिचान प्राप्त कर लेने के लिए एकवार दिया हुआ उपदेश पर्याप्त है. किसी एक ने यदि पूँछा कि, "घट कैसा रहा करता है?" तब उसे कोई घट दिखला "यह देखो! इस आकृति के वस्तु को "घट" कहते हैं"

इस प्रकार कहनेपर उसको उस पदार्थ की अच्छी पहचान हो जाती है और कहने वाले को भी विशेष श्रम उठाना नहीं पड़ता, यह सार्वत्रिक अनुभव है. वैसे ही परोक्ष-ज्ञान रहते जिसकी बुद्धि तीव्र हो ऐसे मनुष्य को सकृत् उपदेश ही पर्याप्त हुआ करता है, यह बात पूर्वाचार्यों ने मान्य की है. इतना विस्तार-पूर्वक लिखनेका हेतु यह है कि, "वेदान्त केवल सुनने से सफलता नहीं, असम्भावना, विपरीतभावना नष्ट हो जानी चाहिएँ और उसके लिए विशेष अनुष्ठान और अभ्यास की आवश्यकता है" इस प्रकार बहुधा जिनका आग्रह रहता है वे ध्यान में रखें कि, वेदान्त में श्रवण-विधि ही मुख्य है. उसीसे सार्थकता प्राप्त होती है.

इसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्तः- एक ऐसा गवैया जिसके सम्बन्ध में लोग कहते हैं कि इसने कहीं गायन का अभ्यास नहीं किया, केवल सुन-सुन कर गवैया बन गया है. इस कथन पर से सुन-सुन कर गाना और सीख कर गाना यह दो बातें भिन्न भिन्न सी जान पड़ती हैं, परन्तु विचार करने पर दीख पड़ेगा कि, इनमें वास्तविक भेद थोड़ा ही है. शिक्षा पाने के लिए भी तो वारंवार सुनना ही पड़ता है ! एक बार सुनना, दस बीस बार सुनना यह सुनना ही तो है !! दस-बीस बार सुनने को "अभ्यास" कहते हैं. तात्पर्य, अभ्यास में भी श्रवण (सुनना) ही मुख्य है.

ईश्वर ने ज्ञानेन्द्रियें दी हैं, उनकी सहायता से जगत् का व्यवहार चल रहा है. भ्रामक शब्दों से मनुष्य संशयापन्न बन जाता है. अन्तःकरण-स्थित अज्ञान का नाश और भ्रम का निरास अनुभव सहित और संशय-रहित ज्ञानोपदेश के द्वारा होता है. सद्गुरु-राज कहें और सच्छिष्य-कुमार सुने. बोध होने

के लिए इस से अन्य इतर किसी साधन की कोई आवश्यकता नहीं. तथापि हमारा यह आग्रह नहीं कि, जिनमें तीव्र बुद्धि और अर्थग्रहण-सामर्थ्य नहीं है वे अन्यान्य साधन न करें, परन्तु वेदान्त-विचार और अज्ञान-निवृत्ति के लिए तो श्रवण यही एक साधन है, इस सिद्धान्त को कभी न भूलते श्रवण का स्मरणस्रोत निरन्तर बहना चाहिए.

कितने ही तार्किक, चिकित्सक तर्क लढ़ा कर विधान करते हैं कि, "प्रथम केवल शाब्दिक ज्ञान और अनन्तर अभ्यास से अनुभव, ऐसी साधन की सीढ़ीयाँ हैं" ऐसे लोगों को क्या कहें! ऐसों के लिए कौनसी पदवी खोज निकालें, कुछ सुझाई नहीं देता !! पञ्चदशी में दिए हुए दशम के दृष्टान्त की तरह अपना आत्मरूप देखने के लिए शाब्दिक ज्ञान के आतीरिक्त अनुभव क्या कुछ और, अलग है! ऐसा मानने वालों के भ्रम की क्या कहना !!! तार्किक पण्डितों ने "निश्चितज्ञानमनुभवः" इस प्रकार अनुभव की स्पष्ट व्याख्या की है. "हम ही ब्रह्म हैं" इस सम्बन्ध में भी जिसका निश्चय नहीं रहता उसको "अनुभव नहीं" ऐसा यदि कहा जाय तो वह सम्भवनीय नहीं दीख पड़ता. कारण, आत्मा नित्यप्राप्त है वह अपनाही रूप है.

> अस्ति स्वयमित्यस्मिन्नर्थे कस्यास्ति संशयः पुंसः ।
> अत्रापि संशयश्चेत् संशयिता यः स एव भवसि त्वम् ॥४॥
>
> -(स्वात्मनिरूपण.)

ऐसा संशय तो कभी किसीको आता ही नहीं कि "मैं नहीं हूँ" तो फिर इसको शब्दज्ञान कैसा कहा जायगा! हमारा तो ऐसा सिद्धान्त है कि, समस्त जगत नित्यमुक्त है. जो वस्तु हमसे दूर हो और जिसे यत्नतः प्राप्त करना पड़ता है उसके सम्बन्ध में

वह प्राप्त हुए तक उसका केवल शाब्दिक ज्ञान हुआ ऐसा कहना सही होगा. हम परमात्मरूप रहते जीव हैं ऐसी अन्य भावना से यदाकदाचित् किसीको स्वरूप के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हुआ हो, तो वह अंशतः ठीक है ऐसा कहा जा सकेगा. अस्तु, जो कोई विना वेदान्त-संस्कार के वितण्डवाद करते हैं उनका समाधान ब्रह्मदेव भी नहीं कर सकेंगे. जो श्रद्धालु, मोक्षेच्छु और अधिकारी है वह तो ऐसा कभी न कहे कि, आत्मज्ञान शाब्दिक रहा करता है. सही अर्थ यह है कि, मैं देही, मूर्ख, अज्ञानी इस प्रकार का भ्रम हो जाय भी, तथापि आत्मविषयक भ्रममात्र कभी नहीं हुआ करता. दृश्यभ्रम से उच्च-नीच-भाव जान पड़ता है तो भी " यस्यामतम् " इस उपनिषद्वाक्य के अनुसार आत्मा का अस्तित्व सबके लिए समान है. अनुभव जिसको कहते हैं वह आत्मा से अलग है ऐसा तो कभी न कहना चाहिए.

चौथा परिशिष्ट

आत्मानन्द.

सत्ता, चैतन्य और आनन्द यह तीन आत्मा के धर्म हैं, धर्म और धर्मी का प्रकार यद्यपि आत्मस्वरूप में नहीं है, तथापि विषय-निरूपण के लिए शास्त्रज्ञों ने यह भाषा स्वीकार की है. पञ्चपादिका में कहा गया है कि, आनन्द, विषयानुभव, सत्ता, यह चैतन्य से पृथक् नहीं हैं किन्तु वैसे भासते हैं. अस्तु, उपाधियों के स्वरूपानुसार कहीं पहिला तो कहीं दूसरा और कहीं दोनों अथवा तीनों धर्म भी व्यक्त होते हैं. जैसे- उष्णता और प्रकाश यह अग्नि के दो धर्म हैं. पानी तपाने पर उसमें केवल उष्णता ही व्यक्त होती है. लकड़ी जलाई जाय तब उसमें से उष्णता और प्रकाश दोनों धर्म प्रकट होते हैं. उसी प्रकार मृत्तिका काष्ठ इत्यादि पदार्थों में सत्ताधर्म व्यक्त हुआ है. मनोवृत्ति में तीनों धर्म व्यक्त होते हैं. शान्त, घोर, मूढ़ आदिक मन के अनेक वृत्तियाँ हैं. उनमें से घोर और मूढ वृत्तियों में सत्ता और चैतन्य यह धर्म व्यक्त होते हैं और शान्त वृत्ति में आनन्द भी व्यक्त होता है. विषय-सुख, द्रव्य-लाभ अथवा बदला चुकाने की ओर जो प्रवृत्ति हुआ करती है वह घोर-वृत्ति कहलाती है. उसकी उत्पत्ति रजोगुण से होती है. जब कोई इच्छा पूर्ण कर लेना अशक्य हो जाता है तब मन में विषाद प्राप्त होकर मनुष्य

किंकर्तव्य-विमूढ़ बनता है, वह मूढ़ वृत्ति है जो तामस कहलाती है. वह शान्त वृत्ति है जो इच्छा पूर्ण होने पर उत्पन्न होती है और उसे सात्विक कहते हैं. वह सात्विक रहने से अत्यन्त निर्मल है, इसलिए इस वृत्ति में सत्ता, चैतन्य और आनन्द यह तीनों धर्म व्यक्त होते हैं. यानी जो अभीष्ट वह प्राप्त हो जाय तो आनन्द होता है, उसको "विषयानन्द" कहते हैं. वह भोग्य विषय से प्राप्त होता है ऐसा यद्यपि हम मानते हैं, तथापि वस्तुतः यह आत्म-धर्म रहते हुए- बात इतनी ही है कि, इच्छित विषय प्राप्त होने पर व्यक्त होता है. इसके लिए उदाहरण :-हर कोई रङ्ग सूर्य किरणों का (रूप यानी रङ्ग यह तेज का गुण है ऐसा तर्क-ग्रन्थों में वर्णन आया है.) धर्म है. परन्तु किसी पदार्थ पर सूर्य-किरण पड़ने से पीला रङ्ग व्यक्त होता है, तो किसी पदार्थ पर लाल रङ्ग भड़क उठता है, परन्तु अशास्त्रज्ञ मनुष्य समझते हैं कि, रङ्ग यह सूर्य-किरणों से प्रकाशित हुए पदार्थों का धर्म है. वैसा ही यह प्रकार है. सम्पूर्णतः तात्पर्य इतना ही है कि, आनन्द यह विषयधर्म नहीं है जिस विषय की इच्छा है और वह प्राप्त हो जाय तो ही आनन्द होता है. जैसे उष्णता यह अग्नि का धर्म है. इस कारण किसीको भी अग्नि गरम ही लगता है. किसी एक को गरम और अन्य किसी को ठंडी ऐसी प्रतीति कभी शक्य नहीं. यह प्रकार अलग है कि, प्रकृति-मान के अनुसार किसी को उष्णता प्रिय होगी तो किसी एक को अप्रिय होगी, परन्तु अग्नि उष्ण नहीं है ऐसा तो कोई भी नहीं कह सकेगा. अग्नि के उष्णता की तरह आनन्द यदि विषय-धर्म होगा तो भोग्य-विषय सबको समान सुखकारक जान पड़ेगा, परन्तु ऐसा नहीं होता. कोई सुन्दर तरुणी किसी

तरुण को हीं सुखदायिनी होती है, पर वह षण्ढ के लिए सुखदायिनी नहीं होती. कारण क्या ? तो उसमें स्त्रीविषयक इच्छा ही उत्पन्न नहीं होने पाती. उत्तम जाती का बढ़िया आम्रफल ला यदि किसी अनजान के हाथ में धर दिया जाय तो उसके लाभ से उसे एक प्रकार का आनन्द तो होगा, कारण लाभकी ओर मन का स्वाभाविक झुकाव रहा हि करता है; पर उसकी रुचि यदि पहिले कभी उसने न ली हो तो उसे यथार्थ आनन्द नहीं होने पाता. इसलिए कि उसको आम्र की इच्छा ही नहीं हुई. तात्पर्य, इच्छा पूर्ण होना ही आनन्द का कारण है.

क्रोध से अथवा किसी वस्तु की प्राप्ति और उसको भोग लेने की इच्छा उत्पन्न होने से अथवा ऐसे ही किसी और कारण से मन में क्षोभ उत्पन्न होता है. वह क्षोभ अभीष्ट-प्राप्ति आदिक कारणों से शान्त होता है. इस स्थिति को ही शान्त-वृत्ति कहते हैं.

प्रश्नः-शान्त वृत्ति में आत्मस्वरूप का आनन्द व्यक्त होता है इसका अर्थ क्या ?

उत्तरः- आनन्द उत्पन्न करना विषय का धर्म नहीं है, यह ता कहा ही गया है. आत्मस्वरूपगत जो आनन्द वह मनोवृत्ति के द्वारा प्रकट होता है. जैसे-तेज यह वायु से उत्पन्न होने के कारण वायु में अव्यक्तरूप से रहता है, पर वह स्पष्ट नहीं दीखता. काष्ठों के घषण से अथवा पाषाण पर लोहे का आघात करने पर वह अभिव्यक्त होता है. उसी प्रकार आत्मानन्द मनोवृति में ही अभिव्यक्त होता है.

प्रश्नः-आनन्द यदि आत्मा का स्वरूप है, तो प्रेमविषय के भोग विना भी आनन्द भासमान होना चाहिए ?

उत्तरः-नींद से जागा हुआ मनुष्य कहता रहता है कि "मैं सुख से सोया था" यह जो उसके निद्रा-स्थिति में अनुभव की हुई सुखावस्था का स्मरण है उसपर से निद्रावस्था में वह सुख का अनुभव करता था यह नींद छूटनेपर सिद्ध होता है. कारण, स्मरण यह अनुभव पूर्वक ही रहा करता है यानी विना अनुभव के स्मरण ही नहीं होने पाता.

प्रश्नः- "सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्" इस प्रकार जो सुप्तोत्थित (नींद से जागे हुए) को स्मरण होता है उसपर से पातञ्जल योग-सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि, निद्रावस्था में मनुष्य को अज्ञान का और सुख का भी अनुभव आता है. और इसीका अनुवाद पञ्चदशी इत्यादि ग्रन्थों में भी किया गया है, परन्तु यह मत पूर्वाचार्यों को मान्य नहीं. श्री शङ्कराचार्य जी के प्रस्थानत्रयी में कहीं इसका उल्लेख नहीं. पञ्चपादिका में तो यह मत तोड़ दिया गया है और बृहदारण्यक भाष्य के वार्तिक में भी सुरेश्वराचार्य जी ने इसका खण्डण किया है. इसलिए कोई और उदाहरण चाहिए.

उत्तर :-तुम्हारा कहना योग्य है. दूसरा उदाहरण सुनिए! मानो कि कोई मनुष्य शान्त समय खुले मैदान में एक वृक्ष के तले स्वस्थ बैठा है, यदि उसके मन को अथवा शरीर को कोई व्यथा न हो तो वह आनन्द में रहता है इसका कारण क्या?

पूर्वपक्षीः-घनेरे वसती के कारण अथवा नगर-वासीयों के झुण्ड में होने वाले कोलाहल इत्यादि कारणों से वह त्रस्त होता

है. मैदान में किसी प्रकार की गड़बड़ाहट नहीं रहती, इसके अतिरिक्त धूप, दुर्गन्ध, पुकार आदिक उपद्रव नहीं होने पाते, इसलिए उसे वहाँ आनन्द आता है.

सिद्धान्तीः–दुःख नहीं रहता इसलिए आनन्द होता है ऐसा तुम्हारा कथन, परन्तु यह विचारणीय है कि, दुःख के अभाव को आनन्द कहा जा सकेगा या क्या?

पूर्वपक्षीः—उस समय आनन्द होता है इतना तो सही और दुःख नहीं रहता यह भी निश्चित है, तब हम कहते हैं कि, दुःख नहीं रहता इसलिए आनन्द होता है.

सिद्धान्तीः—दुःख का अभाव यह आनन्द का स्वरूप नहीं जैसे—कोई एक वस्तु केवल कडवी न होने से मीठी तो नहीं कहलाई जा सकती! मिठास यह एक स्वतन्त्र रस है. उसी तरह आनन्द यह भावरूप पदार्थ है, दुःख का अभाव नहीं.

आनन्द यह आत्मा का स्वभाव-धर्म है, परन्तु बाह्य कारणों द्वारा चित्तक्षोभ होने से भासता नहीं. जैसा–पानी से भरे बासन के तल में रहा हुआ रुपया पानी स्वच्छ हो तो ही दीखता है, गदले पानी में नहीं दिखाई देता, अथवा काँच के अन्दर रहा हुआ दीप–प्रकाश यदि काँच स्वच्छ रहे तब ही दीखता है यदि वह कारिख से भरा हुआ हो तो नहीं दीख पड़ता. आत्मानन्द का भी वैसा ही प्रकार है. यहाँ प्रकाश की जगह आत्मानन्द और काँच की जगह मन को समझना चाहिए. शास्त्र-ग्रन्थों ने आत्मानन्द के सम्बन्ध में छोटे (कनीयान्) बालक का उदाहरण दिया है. यदि वह माता का स्तन-पान कर मृदु शय्या पर सोया हुआ हो तो आनन्दित दिखाई देता है. वही स्थिति ब्रह्मनिष्ठ

मनुष्य की रहा करती हैं. लहुरा (नन्हा) बालक क्यों भला आनन्द में रहता होगा? इसका ठीक उत्तर यह है कि, उस नन्ही सी कनीयान् काया में उस समय भूख इत्यादि मनोव्यथा उत्पन्न करने वाले कारणों में से किसी एक का भी पता नहीं रहता और जो वयस्थ मनुष्य के मन में स्पष्ट अथवा बीजरूप से रहने वाले चिन्ता, काम-क्रोधादिक विकार वह तो पहले ही से उसमें नहीं रहते! अतः आत्मानन्द पर आच्छादन डालने वाला मूल मनोक्षोभ ही न रहने के कारण वह बालक आनन्द में रहता है. तात्पर्य यह कि, नाना प्रकार के विकारों से मन कलुषित रहने के कारण आत्मानन्द का अनुभव नहीं आने पाता, न यह बात कहते और समझते बनती. इच्छा ही मनःक्षोभ का मुख्य कारण है. क्रोधादिक इच्छा के ही परिणाम हैं. इसलिए कहा गया है कि-

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
इच्छाक्षयसुखस्यैते कला माऽर्हन्ति षोडशीम् ॥

(महाभारत)

(संसार में कामजनित सुख अथवा स्वर्गमें उत्तम भोग-सुख ये दोनों ही वासनाक्षयजनित अनुपम सुखके सोलह[1] भागोंमें से एक भाग भी नहीं हो सकते.)

अस्तु, तात्पर्य इतना ही है कि, कोई रूप रसादिक इन्द्रिय-भोग्य विषय अथवा काव्यशास्त्रादि विषय न रहते भी चित्त-

टिप्पणीः—१ प्राण १, श्रद्धा २, आकाश ३, वायु ४, तेज ५, उदक ६, पृथिवी ७, कर्मेंद्रियें और ज्ञानेंद्रियें ८, मन ९, अन्न १०, वीर्य ११, तप १२, मन्त्र १३, कर्म १४, कर्मफलरूप लोक १५, और नाम १६.

स्वास्थ्य विचलित होने योग्य कोई कारण उपस्थित न हो तो मनुष्य आनन्द में रहता है, यह बात अमान्य करने योग्य नहीं है. संसारसुख तो कुछ भी न हो और इधर दुर्जनों ने छल, कपट चलाया हो ऐसे स्थिति में भी अनेक सत्पुरुष आनन्द में रहते हैं, ऐसा अनेक ग्रन्थों में जो वर्णन आया है (उसके अनुसार यदि कोई मनःपूर्वक देखना हि चाहे तो कहीं कहीं देखा भी जा सकता है.) तो यह जो आनन्द वह आत्मा का स्वभावसिद्ध धर्म है. अधिकन्तु यह भी स्पष्ट है कि, स्त्री, पुत्र, मित्र, द्रव्य आदिक विषयों पर जो प्रेम रहता है वह अपने लिए, न कि उस विषय के लिए! -

"न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।"

—(बृहदारण्यकोपनिषद्, दूसरा अध्याय, चौथा ब्राह्मण.)

(हे मैत्रेयि! यह बात प्रसिद्ध है कि, "जाया (स्त्री) के निमित्त से पति को जाया प्रिय नहीं, किन्तु अपने स्वतः के उद्देश्य से उसको जाया प्रिय हुआ करती है")

इत्यादि श्रुति ने भी यही स्पष्टतया कहा है. जब कि प्रेम का मुख्य स्थान आत्मा हीं है तो वह परमानन्दरूप है ऐसा पञ्चदशी-कारों ने आत्मानन्द-प्रकरण में सविस्तर प्रतिपादन किया है.

पाँचवाँ–परिशिष्ट

मायावाद.

प्रश्नः—जैसा रज्जु-सर्प अथवा स्वप्नदृष्ट पदार्थ उसी प्रकार यह सब जगत् मायामय रहने से मिथ्या है ऐसा वेदान्त-शास्त्र प्रतिपादन करता है, परन्तु यह युक्ति के विरुद्ध दीख पड़ता है. जो पदार्थ सब लोगों को सर्वदा एक रूप से नहीं भासता वही पदार्थ मिथ्या समझते हैं. जैसा रज्जु-सर्प, कोई एक यदि दृष्टि दोष के कारण रज्जु पर सर्प की कल्पना कर बैठे तो अन्य मनुष्य को वह रज्जु ही जान पड़ती है और जिसको सर्प-भ्रम हुआ हो ऐसे मनुष्य को भी पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होने पर वह स्पष्ट रज्जु ही दीखता है. इसलिए समझ में आता है कि रज्जु-सर्प मिथ्या है. जगत् के सम्बन्ध में ऐसी स्थिति नहीं है. जगत तो सबको समान ही सत्य जान पड़ता है. तो फिर वह मायामय कैसा?

उत्तरः—मायामय यानी सर्वथा रज्जु-सर्प-तुल्य ही नहीं-रज्जुसर्पादिक दृष्टान्त विषय को सुबोध करने के हेतु हैं. दृष्टान्त कभी सर्वांशसहित दार्ष्टान्तिक से तुल्य नहीं रहता. "उस स्त्री का मुख पूर्ण-चन्द्र की तरह है" ऐसा कहने से चन्द्रमण्डल जिस प्रकार कि वर्तुलाकार रहता है वैसा ही केवल गोल मुख

है यह उसका अर्थ नहीं, किन्तु चन्द्र जैसा दृष्टि और मन को आल्हाददायक दीखता है वैसा यह मुख है, केवल इतना ही उस दृष्टान्त का अर्थ रहा करता है. उसी प्रकार प्रस्तुत विषय में ऐसा अभिप्राय है कि, नेत्रों को रज्जु-सर्पादिक पदार्थ दीख पड़ें तो भी वे जैसे विचार के कसौटी पर पूरे नहीं उतरते उसी तरह विश्व के विषय में विचार करने पर वह भी विचार के कसौटी पर टिकाव नहीं पकड़ते, इसलिए वह मायामय है ऐसा वेदान्त-शास्त्र का मत है. इसके अतिरिक्त सब लोगों को जो बात अथवा वस्तु एक ही प्रकार की भासती है वह भी तो ऐसी नहीं रहती जो भ्रमात्मक न होती हो. आकाशस्थ सूर्यादिक ग्रह पृथ्वी के चहुँ ओर फिरते से समस्त जन-नयनों को सर्वदा भासते हैं. परन्तु पृथ्वी जैसे विशाल और कितने तो पृथ्वी से भी कई गुण्य बड़े ऐसे लक्षावधि गोल पृथ्वी को घेरे मण्डलाकार घूमते रहते हैं. यह कल्पना विचार की कसनी पर काम नहीं देती-किन्तु पृथ्वी ही अपने चहुँ ओर घूमती रहने से सब ग्रह घूमते से दीख पड़ेंगे यह कल्पना सयुक्तिक प्रतीत होती है. इसलिए सूर्यादिक ग्रहों का परिभ्रमण दीख पड़ना भ्रम है ऐसे निर्धारण का अर्वाचीन ज्योतिषशास्त्रज्ञों ने निर्देश किया है. उसी प्रकार वेदान्त-शास्त्र ने भी जगत् को मायामय कहा है.

प्रश्नः—वेदान्त-मत के अनुसार "मायामय" यानी क्या?

उत्तरः—जिसका निरूपण विचार पूर्वक करने बैठें तो जो नहीं किया जा सकता, परन्तु स्पष्ट भासता जरूर है वह "मायामय" कहलाता है. जैसे मदारी (सपेरे) ने बनाये हुए पदार्थ. जगत् भी वैसा ही है. यह स्पष्ट भासता तो है परन्तु उसका निरूपण नहीं किया जा सकता. जिन विद्वानों ने इसका

निरूपण करनेका यत्न किया है वे सामान्य जनता से कुछ सीढ़ीयाँ ऊपर चढ़े हुए हों भी तो आगे चलकर उनको अन्धेरा ही दीखेगा. उदाहरणार्थ -वृक्ष, तुलसी आदिक कुछ छोटे वृक्ष रहते हैं और बड़ इत्यादि वृक्ष बहुत बड़े रहते हैं. इस भेद का कारण क्या? ऐसा प्रश्न उठाया जाने पर सामान्य जन तो "हम नहीं जानते" यह उत्तर देकर छुटकारा पाते हैं, पर विद्वान् मनुष्य कहते हैं कि, पृथ्व्यादि भूतों के सजातीय द्रव्य वृक्षों के अङ्कुरों में मिलने से वृक्ष बढ़ते हैं. जिन वृक्षों को उनकी जड़ें (मूल) दूर फैल जानेके कारण अधिक सजातीय द्रव्य प्राप्त होते हैं वे ही बड़े और ऊंचे बढ़ते चले जाते हैं. इसपर भी प्रश्न उठ खड़ा होता है कि :-बड़ को ही सजातीय द्रव्य अधिक क्यों प्राप्त होते हैं और तुलसी को क्यों नहीं? इसपर कोई उत्तर देंगे कि, बड़ के बीज में अधिक आकर्षण करने की शक्ति है, वैसी तुलसी के बीज में नहीं है. इसपर यदि फिर प्रश्न आ जाय कि, बड़ के बीज में ही ऐसी शक्ति क्यों रहनी चाहिए? और तुलसी के बीज में क्यों नहीं? तो यहाँ मति कुण्ठित ही हो जाती है. प्रसङ्गप्राप्त जान पड़ने पर किसी पण्डित ने अपने एक लेख में जो लिख रखा है उसका कुछ भाग अवतरण-रूप से हम यहाँ उद्धृत कर देते हैं.

"अहो! मनुष्य का ज्ञान बहुत-बहुत हुआ भी तो कितना"
"अत्यल्प है! मैं ने अपना सारा जन्म ज्ञान सम्पादन करने में"
"बिताया न! पर इतना करने पर भी मेरी समझ, मेरे ज्ञान का"
"तो क्या पूँछना! सृष्टि के गूढ रहस्यों का खुलासा कर दिख-"
"लाने की ईर्षा धारण किए मैं गहरे से गहरे विचार में ज्यों"
"ज्यों घुसने लगा त्यों त्यों मेरी बुद्धि पूरी की पूरी भ्रम के चक्कर"
"में पड़ जाने से मुझको कुछ भी सुझाई नहीं देता! पहले"

"पहले मेरी मति कुछ न कुछ कार करती थी, परन्तु मेरा"
"निश्चित ज्ञान-बल उतना ही! आगे चलकर तो केवल कल्प-"
"नाओं पर ही बुद्धि को निर्भर रखना पड़ा. जिस पृथ्वीपर मैं"
"अपनी जीवनी बिताता हूँ उस सृष्टिविषयक व्यवस्था की"
"जानकारी में तो मेरी समझ ही कितनी! अग्नि की दहन-क्रिया"
"कैसी हुआ करती है अथवा जल का प्रवाहित्व-धर्म का कारण"
"क्या? इत्यादि बातों का कया मुझ जैसा कुछ अल्प-सा भी"
"उपपादन कर सकेगा? सृष्टिविषयक-शास्त्र में निपुणता प्राप्त"
"हो जाने से प्राणिवर्ग, उद्भिज और खनिज-वर्ग यह तीन"
"विभाग, वैसे ही अन्यान्य जाति और उपजातियों का चुनाव"
"किया जा सकता है; परन्तु इतना परिश्रम, कष्ट उठाने पर भी"
"हरे घास के एक पत्तीका भी तो पोषण-प्रकार क्या मुझ से"
"कहा जा सकेगा? मैं बहुत ही बहुत, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विचार"
"करूं भी तो सृष्टिकर्ता के कमल-वन-पुष्पों में भाँति-भाँति के रङ्ग"
"भरने की चतुराई का खोज क्या मैं कर सकूंगा? वैसे ही मर-"
"कत, माणिक आदि रत्नों पर जो रङ्ग झलकते रहते हैं और"
"तरह तरह के सीपीयों पर जो जो रङ्ग हिलोरे मारते हैं उसका"
"कारण भी तो आज तक विचार कर कर के थकने पर भी कुछ
तो जान पड़े!!" इत्यादि. इत्यादि.

पञ्चदशी में भी जगत् को मायामय कहने का यही कारण बतलाया गया है.

"न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या।
सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥१४१॥
स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम्।
मायामयं जगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥१४२॥

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पंडितैः ।

अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥१४३॥

– (पञ्चदशी, चित्रदीप.)

(जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता, परन्तु जो स्पष्ट भासती है वह माया है, ऐसा गारुड इत्यादि माया-पदार्थों के सम्बन्ध में लोगों का मत हुआ रहता है. जगत् तो स्पष्ट भासता है, परन्तु उसका उपपादन नहीं किया जा सकता. तस्मात् निःपक्षपाततः यह जगत् मायामय है. यदिअ नेकों पण्डित इकट्ठा होकर जगत् के निरूपण को प्रारम्भ करें भी तो उस मार्ग में कुछ दूर चलने पर आगे-आगे उन्हें अज्ञान ही भासता है.)

जगत् का निरूपण करने का अभिमान रखने वाले तार्किकादिकों ने तर्क लड़ा कर दिखलायी हुई उपपत्तियाँ कितनी भूल और भ्रमयुक्त हैं यह हर्षमिश्रादिकों ने (नैषध महाकाव्य के रचयिता जो हर्ष कवि उनको ही हर्षमिश्र कहते हैं. उनका "खण्डनखाद्य" नामक जो एक ग्रन्थ है उसमें तार्किकादिकों के युक्तिवादविषयक प्रत्येक बात का खण्डन करके सृष्टि का अनिर्वचनीयत्व प्रतिपादन किया है) खण्डनादि ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है ऐसा भी पञ्चदशी में आगे कहा गया है.

जगत् का निरूपण नहीं किया जाता इसीलिए उसको "मायामय" कहते हैं ऐसा कहा गया. रज्जु-सर्पादिक जो दृष्टान्त दिये हैं उनके सम्बन्ध में ऐसा भी नहीं कि, वह सर्वांश से ग्रहण करना ही चाहिए. यह पहले कहा गया ही है. अब एक और बात ध्यान में रखनी चाहिए कि, रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत यह दृष्टान्त जैसे श्री शङ्कराचार्य जी ने जगन्मिथ्यात्व कहने के हेतु दे रखे हैं उसी प्रकार मृत्तिका और घट, सुवर्ण और अलङ्कार

यह कारण के उदाहरण भी बतलाए हैं. और उनके विवेचन में ऐसा कहा गया है कि, जैसा घट मृत्तिका से और सुवर्ण अलङ्कार से भिन्न नहीं है उस प्रकार ब्रह्म से विश्व भिन्न नहीं है. कारण, कार्य यह कारण से अभिन्न रहता है, उसको कारण से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं. जिसको पहले मृत्तिका कहते थे उसी को पीछे किञ्चित् आकार-भेद से घट यह नाम दिया जाता है.

स्पष्टीकरणार्थ दूसरा उदाहरणः-

किसी एक पाषाण को हथियार, औजारादि साधनों से खोर कर, खसोट कर उसकी मूर्ति बनाते हैं उस मूर्ति में पाषाण के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं रहता. यदि मूर्ति हाथी की बनायी हो तो जिस पदार्थ को हम पहले पाषाण कहते थे उसीके कुछ भाग औजार से छीलते ही उसको हम हाथी का नाम देते हैं. इस हाथी में विना पाषाण के और क्या है! इस दृष्टान्त पर से स्पष्ट होता है कि, कार्य कहा जाय तो उसमें कारण से भिन्न ऐसा कुछ भी नहीं रहता. इसलिए घट हाथी इत्यादि आकार और नाम ही भिन्न होते हैं. इसीलिए नाम और रूप केवल व्यावहारिक कल्पना है. व्यवहार की मर्यादा तक वह कल्पना सत्य ही है. यदि विष्णु और गणपति की मूर्तियाँ पत्थर खोद-खुरच कर बनायीं तो विष्णु-पूजक विष्णु की और गणेश-भक्त गणपति की ही मूर्ति ले लेगा. इस उदाहरण में कार्य कारण का अभेद स्पष्ट दीख पड़ने पर भी लोग गणपति और विष्णु-मूर्तियों का व्यावहारिक सत्यत्व ही समझते हैं. उसी प्रकार श्रुति ने जगत् ब्रह्म से अभिन्न, मिथ्या, अतएव मायामय कहा है. तथापि जगत् का व्यावहारिक सत्यत्व माना ही है. "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों पर से यद्यपि गाय,

गर्दभ, ब्राह्मण, चण्डाल यह भेद तात्विक दृष्टि से सत्य नहीं तथापि गोदान की इच्छा रखने वाले मनुष्य ने गर्दभ-दान किया भी तो ठीक अथवा श्राद्ध में ब्राह्मण को नेवता देने के बदले चाण्डाल को दें तो कोई प्रत्यवाय नहीं ऐसा तो श्रुति ने कहीं नहीं कहा है.

प्रश्न:—जो और जिस प्रकार का भेद हो वह सब मिथ्या, मायाकल्पित है ऐसा यदि कहा जाय तो गुरु, शिष्य, श्रुति, उपदेश आदि सब मिथ्या ही कहना पड़ेगा ?

उत्तर:—सत्य है.

प्रश्न:—यदि ऐसा ही हो तो मिथ्या गुरु और श्रुत्युपदेश से प्राप्त होने वाला ज्ञान भी सत्य कैसा ?

उत्तर:—व्यवहार में मिथ्या पदार्थ का भी कार्य सत्य रहा हुआ दीख पड़ता है. स्वप्न में मानो किसीने व्याघ्र देखा. यद्यपि वह मिथ्या है तथापि उसका कार्य सत्य रहता है. ज्ञाता, ज्ञेय, विषय और ज्ञान साधनाएँ ये सब मिल कर ज्ञान यह कार्य कहलाता है. स्वप्न में से जाग्रत हुए मनुष्य को मैं ने स्वप्न में बाघ देखा" ऐसा जब स्मरण होता है उस समय वह मनुष्य व्याघ्र को मिथ्या समझता है, परन्तु स्वप्न में व्याघ्र का जो ज्ञान हुआ उसको कोई मिथ्या नहीं मानता. विषय केवल मिथ्या, पर विषय का ज्ञान मिथ्या नहीं. असत्य व्याघ्रद्वारा जो ज्ञान हुआ हो वह सत्य रहा करता है यह हर कोई मानेगा ही.

तीसरा उदाहरण:—वाग्भट नामक वैद्यक ग्रन्थ मे मृत्यु का जो चिन्ह कहा गया है उसके संबन्ध में एक श्लोक आया है कि

"अपूपशष्कुलीर्जग्ध्वा विबुद्धः तद्विधं वमन् न जीवति"

"स्वप्न में अपूप (पूआ), शष्कुली (मालपुआ खाकर जाग्रत होते ही उसी प्रकार की अर्थात् अपूप-शष्कुली की उलटी हो जाय तो वह जीता नहीं रहता." यह कोई भी समञ्जस मनुष्य मान लेगा कि, ऐसी बात विना अनुभव के 'वाग्भट' नहीं लिखेगा. स्वप्न में भक्षण किए हुए अपूप-शष्कुली मिथ्या रहते हुए वमन में दीख पड़ने वाले अपूप-शष्कुली के टुकडे सत्य रहते हैं!

चौथा उदाहरण:—महाभारत के भीष्म-पर्व में भीषण युद्ध का घोर वर्णन आया है उसमें एक प्रसङ्ग ऐसा कहा गया है कि 'भगदत्त' नाम का एक कौरव-पक्षीय राजा 'सुप्रतीक' नामक हाथी पर बैठकर भीम-पुत्र 'घटोत्कच' राक्षस से युद्ध कर रहा था, तब 'घटोत्कच' ने ऐसी राक्षसी माया रची कि, हाथी के चार रूप धारण कर 'सुप्रतीक' हाथी के चहुँ ओर घेर कर उस-पर धावा कर दिया. मायिक हाथी के चढ़ाई से 'सुप्रतीक' व्याकुल होकर आर्त शब्द करने लगा. उस स्थान में मायामय हाथी ने की हुई चढ़ाई का कार्य सत्य रहा हुआ वर्णन महा-भारत में स्पष्ट है. भारत ग्रन्थ मायावाद पर श्रद्धा न रखने वाले द्वैतवादियों को भी मान्य रहने से असत्य कारण के द्वारा सत्य कार्य हुआ करता है यह उनको भी मान्य करना पड़ा! इसलिए प्रस्तुत आक्षेप में कोई अर्थ नहीं.

प्राचीन काल (द्वादश शताब्दी के मध्यभाग) में मिथिला-नगरानिवासी उदयनाचार्य नामक तर्क-शास्त्र में एक अत्यन्त विद्वान्, सुविख्यात दार्शनिक पण्डित हो गये. उनके बनाये अनेक ग्रन्थ हैं. उन्हों ने एक प्रसङ्ग में कहा है कि, प्रमाण क्या है और प्रमेय क्या? इस विषय के सिद्धान्त जैसे हम कहें वैसे

ही हैं यह किसीको भी मानना ही पड़ेगा, परन्तु व्यवहार से परे दृष्टि देकर विचार किया जाय तब वेदान्त-शास्त्र के अनुसार एक ब्रह्म ही सत्य है तथापि वह गहन विचार हमें यहाँ करने का कारण नहीं. हाथ पर अदरक (आर्द्र=हरी सोंठ) लिए बेचते फिरने वाले को मालसे भरे बड़े जहाज का विचार ही क्या और क्यों?

ऊपर जो कुछ विधान किया गया वह केवल इतने ही कारण से है कि, जो कोई तार्किक हों, ऐसे पाठक जिन्हों ने अनेक ग्रन्थों का अवलोकन किया हो उनके पास अनेक प्रकार का संग्रह रहे और उनके चित्त को विनोद और मन का रञ्जन हो जाय. वास्तविक देखा जाय तो वेदान्त में व्यावहारिक और प्रातिभासिक यह भेद विशेष नहीं, किन्तु दृष्टि-सृष्टिवाद ही मुख्य है. उसी तरह क्रिया न करने वाले वृत्ति को क्रियात्मकता का विशेषण ही लागू नहीं होता. अधिकन्तु ज्ञान के अतिरिक्त सृष्टि वास्तव में नहीं है. जिस समय एक ही पदार्थ दो व्यक्तियों के दृष्टि में दो रूप से भासता है, तब वह दोष उस पदार्थ का नहीं है, किन्तु द्रष्टा के दृष्टि का है. इसलिए अज्ञात-सा कोई पदार्थ ही जगत् में नहीं है. और यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि, माया-सामर्थ्य से क्षणिकता जैसी भासती है उसी प्रकार जगत् की अखण्ड स्थिरता अथवा यह पञ्चमहाभूत समय-समय पर जब कभी देखा जाय एक ही रूप से भासना यह भी तो माया का कार्य है. अर्थात् प्रातिभासिकता और व्यावहारिकता में माया ही एक भासक रहने के कारण कोई

भेद नहीं समझना चाहिए, केवल बालबोध के लिए व्यावहारिक और प्रातिभासिक-सा सत्ता-भेद बतलाया गया है.

देखिए! जहाँ जहाँ विद्वानों ने माया को मिथ्या, अनिर्वचनीय—जिसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता, यदि हठात् कही जाय तो कहते नहीं बनती-से विशेषणाएँ देकर उसका जो महत्त्व वर्णन किया है उसमें यह उद्देश्य है कि, जिस अधिकारी जीव को यह उपदेश देना हो वह स्व सामर्थ्य, आत्म-शक्ति भूल कर भ्रामक-वृत्ति द्वारा भ्रमिष्ट, हीन, दीन बना रहता है और जिसको जगत् का आडम्बर उत्पन्न करना, उसकी स्थिति और लय करना यह बातें अपूर्व जान पड़ती हैं. ऐसे मनुष्य को पूर्णतः आत्मज्ञान हुए तक उसे "माया वह जो नहीं कही जा सकती" ऐसा कहना ही ठीक और उपकार-बुद्धि से युक्त कहलाता है; परन्तु पूर्णतः आत्म-ज्ञान होनेपर (जो मार्ग भटके हुए पथिकों का ध्रुव-तारा है) चैतन्य-शक्ति का व्यापार सहजता से जो करता है वही सच्चा योगेश्वर है. श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं :—

"म्हणे सृष्टि म्हणे संहार। तो जाणावा योगीश्वर॥"

(योगेश्वर उसे कहना चाहिए जो कहता हो कि, "सृष्टि हो जाय, संहार हो जाय.")

इसपर से यह स्पष्ट होता है कि योगी, महन्त चाहे जो कर सकते हैं. स्वप्न में मानसिक शक्ति का कौतुक विशेष नहीं माना जाता उस प्रकार आत्म-सामर्थ्य रहने वाले ज्ञानी पुरुष के लिए ऐसा कहना कि माया का वर्णन बड़ा ही कठिन और कहना है मानो कि किसी एक छोटे बच्चे से कुछ मनमानी-सी

कह डालना है. एक पक्ष में आत्मा सर्व-शक्तिमान् रहते हुए "ययोल्लसति" इस वासिष्ठ-वाक्य के अनुरूप जो शक्ति प्रत्यय रूप से दीख पड़ती है उतनी ही अनुभवारूढ़ होकर लौकिक में प्रकट-सी हो जाती है. इस कथन का हेतु यह है कि, माया अतर्क्य नहीं. कई स्थानों में तो "गोष्पद-तुल्य" कह के तुच्छ-रूप से माया का वर्णन किया गया है. अर्थात् माया कुछ पदार्थ ही नहीं. फिर उसका महत्त्व ही कैसा और क्यों ? यह वेदान्ती पुरुष को सब ज्ञात है. तथापि विद्यारण्यप्रभृति ने उसका जो वर्णन किया है वह "अरुन्धती-दर्शन" न्याय से ठीक ही है.

छठवाँ परिशिष्ट.

कारण-निर्देश.

वेदान्त में सर्वत्र व्यष्टि-समष्टि, कार्य-कारण प्रकरणों का
ऊहापोह करना पड़ता है तो भी इसके अनन्तर का खुलासा
अवश्यमेव ध्यान में रखना चाहिए. कारण और कार्य इनमें
कारण के अनेक नाम, प्रक्रियाएँ और रूपान्तर दिखाई देते हैं,
परन्तु "नहि दृष्टांते सर्वसामान्यम्" इस नियम के अनुसार दिया
हुआ दृष्टान्त सदैव एकदेशीय ही रहा करता है जैसा "चन्द्र-
मुखी" इस शब्द से यद्यपि मुख को चन्द्रमा की उपमा दी गयी
है तथापि चन्द्र की गोलाई इत्यादि सभी गुण नहीं लिए जाते,
किन्तु केवल उसका आल्हादत्व मात्र स्वीकार किया जाता है.
उसी प्रकार यद्यपि माँसमय, तेजोमय जैसे भिन्न पदार्थ हैं
तथापि दृष्टान्त एकांश से ही लिए जाते हैं. प्रस्तुत विचार यह
है कि, प्रायः निमित्त-कारण और उपादान-कारणों की व्याख्या
सर्व साधारण रीति से यूँ किया करते हैं कि, जो कारण कार्य से
निरा, बिलग रह सकता है वह है "निमित्त-कारण" इसीलिए
कुम्हार, उसकी थापी इत्यादि कारणाएँ घट में व्यापकता से
और नित्य संलग्न नहीं रहते इसलिए उनको निमित्त-कारण
कहते हैं, परन्तु मृत्तिका उस घटरूप कार्य में अनुस्यूत (परि-
पूरित) रहने के कारण उसको "उपादान-कारण" कहते हैं, पर

यह न्याय सर्वत्र दिखाई नहीं देता. जैसा श्री शङ्करगुरु ने कहा है कि अज्ञान, अविद्या ही संसार को दिखलाने वाली है यानी निमित्त-कारण को ही आदि-कारण माना है. रोग निमित्तक जो कुछ विकार हुआ करते हैं निमित्त-कारण नाश हुए विना उनका नाश नहीं होता. अर्थात् निमित्त ही सामर्थ्यरूप से कार्य में सम्पूर्ण भरा हुआ दिखाई देता है. इस विषय में अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं. राजा, सैन्य, आकाश, पर्जन्य और वायु इनका विचार किया जाय तो कहना पड़ता है कि, निमित्त के नाश हुए विना कार्य का समूल विनाश नहीं हुआ करता. तो फिर निमित्त कार्य से अलग रहता है ऐसा जो कहा गया उसका क्या अर्थ? यह शङ्का सहज ही उत्पन्न होती है. इसमें मार्मिक रहस्य यह है कि, जो कारण कार्य में प्रत्यक्ष क्रियारूप से विकार को प्राप्त हुआ रहता है और कार्य में प्रत्यक्ष दीख पड़ता है वह उपादान-कारण है, और जो स्वयम् अक्रिय, अविक्रिय परन्तु सत्ताप्रदानरूप निज सामर्थ्य से, स्वप्रभाव से कार्य का चालक होता है उसको निमित्त-कारण कहते हैं. देखिए! कि, वेदान्त-प्रक्रिया के अनुसार ईश्वर ही स्वयम् सकल नाम और रूप के भेष में प्रकट हुआ है, इसीलिए किसी विशेषण- विशेष्य का दोष उसपर नहीं लदने पाता. सब में अस्तित्व, स्वकीयता स्फुरण और स्वार्थाकर्षण करने का सामर्थ्य उस चेतन में स्थित और वही सबमें सर्वरूप से भरा पुरा रहने के कारण शब्द का, दृष्टान्त का दोष और विषय-भाव परमेश्वर की ओर लागू नहीं होता. अब उपादान जैसा कि जड़रूप से उस कार्य को घेर कर

व्याप्त रहता है वैसा यदि निमित्त जड़रूप से क्रय विक्रय हो कर कार्योत्पादक न हुआ हो, तथापि यह पहचानना चाहिए कि, वह सामर्थ्यरूप से उन कार्य में व्याप्त ही रहा करता है. आत्मा ऐसा ही निमित्त-कारण है. वह केवल सामर्थ्य से व्यापक होता हुआ असङ्ग, अक्रिय रहता है. वह आत्मा यानी हम इसलिए अखण्ड सकल व्यवहार के भासक होते भी अक्रिय हैं, हमारे प्रकाश-रूप में कभी किसी प्रकार का भी बदल नहीं होता यह पैठाने के लिए कहना पड़ता है कि "तू निमित्त-रूप है" परन्तु चैतन्य यह अभिन्न-निमित्तोपादान है और वही केवल निमित्त भी है इस बात की विस्मृति कभी न होने पाय.

सातवाँ परिशिष्ट.

महावाक्य

१ "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (ऋग्वेद)

२ "अहं ब्रह्मास्मि" (यजुर्वेद)

३ "तत्त्वमसि" (सामवेद)

४ "अयमात्मा" ब्रह्म (अथर्व वेद)

वेद-पुरुष ने बड़े ही उल्हास.वृत्ति से, अट्टहास पूर्वक महा-वाक्यों का उपदेश दिया है. इसपर विपुल ग्रन्थ रचे गये हैं पर, हम भी बड़े आनन्दोत्सव पूर्वक कहते हैं कि, पारमार्थिक दृष्टि, सत्ता, अनुभव इस सत्य-स्थिति में पञ्चमहाभूत मूलतः पृथक् नहीं हैं औपचारिक रीति से हमारा भूताकृति भास होता है, परन्तु यह औपचारिकता भी एक उस आत्म-सामर्थ्य का प्रभाव-विलास ही है. वह द्वैतत्व नहीं है. ऐसा रहते भी आत्मा, ब्रह्म, हम, चेतन, स्फुरद्बीज, एक रहने के कारण, आत्म-सामर्थ्य से महत्तत्व अथवा मानस-सङ्कल्प उत्पन्न होते हैं. उसमें भी अखण्ड समाधि, नहीं बिगडती. यह अनन्तता अथवा सुख-दुःखादि भावनाएँ ये सब आत्म-सामर्थ्य को ही प्रकट करते हैं. किसी अवस्था में कैसे भी हम रहें तो भी अपना अस्तित्व तो कभी नहीं ढलकता. "मैं चलता हूँ, मै बोलता हूँ" इस अनुभव में भी हम प्रथम अहंवृत्ति का अनुभव करते हैं और अनन्तर

सङ्कल्पाकृति स्फुरण पाती है और विषय भी स्फुरते हैं, परन्तु सबके पहले तो अहं-भाव (आपा) का स्फुरण होता है. अर्थात् सब व्यापार में सामर्थ्य, सङ्कल्प-क्रिया, चलना, फिरना सब कुछ आत्म-सामर्थ्य से ही हुआ करता है. यह स्पष्टतः पैठाने के लिए ही वेद ने बड़े उल्हास से "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह वाक्य कहा है. इसी प्रकार सर्व महावाक्यों का तात्पर्य यह है कि, अनेक, अनन्त भी हम ही हैं और एक अद्वितीय भी हम ही हम हैं. एक अथवा अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना और अनन्त मानसिक सङ्कल्पों के कारण आत्म-रूप में चाञ्चल्य का भास होता है तो भी भासक, रूपान्तर हो कर दीखने वाला आत्मा, चैतन्य "मैं ब्रह्म-रूप एक हूँ" यह आनन्द, यह सुख प्राप्त हो जाय इसलिए वेदों ने महावाक्यों का उपदेश दिया तो भी सदोष वृत्ति के स्फुरण में जो व्यापक चैतन्य है उसको "जीव" यह नाम प्राप्त होता है और पूर्ण व्यापक प्रकाशक-रूप अनन्त ब्रह्माण्ड-गुण-कल्पक वृत्ति से जो चैतन्य भरा हुआ है उसको 'ईश्वर" कहते हैं. इसमें जीव यह विशेषण मिट कर ईश्वर विशेषता आ जाय और अज्ञानता नष्ट हो कर सज्ञानता प्राप्त हो जाय, पुरुषार्थ-सिद्धि हो जाय, किम्बहुना इस मायिक प्रपञ्च-विलास में भी आत्मा नित्यमुक्त है ऐसा शुद्ध वृत्ति के योग से अनुभव कर वैसा ही स्फुरण होता रहे, हम जन्म-मरण-रहित, हैं, अर्थात् हमको जीवित्व भी नहीं और न मृत्यु है ऐसा अनुभव कर हमें मानुषानन्द से लेकर ब्रह्मानन्द तक सकल आनन्दों की प्राप्ति हो जाय यही इस ("ज्ञानमार्तण्ड") "सुधांशु" ग्रन्थ के विचार का मुख्य फल समझना चाहिए. परमार्थ तो नित्य, शुद्ध है. "ब्रह्माहमस्मि" यही सत्य है.

श्री सकलमत-सम्प्रदाय-सिद्धान्त-रहस्य.

१ इस सम्प्रदाय में चैतन्य अर्थात् आत्मोपासना मुख्य मानी गई है.

२ आत्म-स्वरूप की लक्षणाएँ—सत्, आनन्द और प्रकाश, उसी प्रकार तटस्थ लक्षणाएँ -व्यापक, ईश्वर, प्रेरक यह अच्छी प्रकार समझ लेनी चाहिएँ.

३ मतमतान्तर के सम्बन्ध में द्वेष (जैसा कि और और अनेकों सम्प्रदायों में अपने हीं साम्प्रदायिक मत और विशिष्ट आचार ही हितकारक मानते हुए अन्य मतानुकूल आचार दोष-दृष्टि से देखने की प्रवृति पायी जाती है) नहीं मानना, किन्तु प्रेम बढ़ाना और उपकार बुद्धि से गुण-दोषों का विचार कर दोषों का त्याग और सद्गुणोंका ग्रहण करने में हाथ बटाना चाहिए.

४ वाराधिपति (जिस देवता के नाम से प्रत्येक वार गिना जाता है) का नित्य भजन, पञ्चपदी, आरती, अष्टक, शेजारती और उपदेशरत्नमाला इनका नियमितता से पाठ करना चाहिए.

५ सुभीता के अनुसार नित्य नियम पूर्वक श्री प्रभु के गद्दी अथवा तसवीर के सन्मुख नाम का घोष करते हुए सप्रेम

नाचना चाहिए. (स्वर-ताल युक्त नाम-घोष में लय-लीन होकर देह-भान छोड़ छाड़ भक्ति-परिप्लावित अन्तःकरण से नाचना तो एक बड़ी ही भाग्यमानी की बात है.)

६ प्रति गुरुवार और शनिवार के सायंकाल में समस्त आरती और अष्टकों का पाठ करने के अनन्तर प्रभु को पुष्पाञ्जलि चढावें और सबको श्री-प्रसाद बाँटें.

७ पूजा में यदि "सटका" (दण्ड अथवा सोंटा) उपस्थित (रखा हुआ) हो तो भिक्षान्न नैवद्य ही उसे अर्पण करना चाहिए. ब्रह्मचारी, गृहस्थ, अथवा वैराग्यशीला स्त्री भी उन्हें कुलधर्म-प्रकार से यह भिक्षा प्राप्त कर लेने में कोई प्रत्यवाय नहीं.

८ यूँ तो पूजा के अनेकों प्रकार हैं, उनमें भी यहाँ मानस-पूजा और यथाभि-लषित ध्यान-धारणा को मुख्य समझना चाहिए.

९ आत्मविद्याभ्यास तो अवश्यमेव सम्पादन करना चाहिए.

१० प्रतिदिन किमानपक्ष (कम से कम) आधा घण्टा तो नियम पूर्वक एकान्त में शान्त-चित्त हो कर (आत्म)-विचार करना ही चाहिए.

११ मन और बुद्धि के शुद्ध ज्ञान-स्फुरण को प्रतिबन्धक जो अज्ञानकृत असम्भावना, विपरीत भावना अर्थतः "मैं अल्प हूँ" की दूषित भावना नष्ट हो कर "मैं महान्, विराट्-स्वरूप, पञ्चभूतों का प्रेरक, सबका आत्मा हूँ" इस प्रकार की आत्मस्मृति-वर्धक वेदान्तचर्चा अखण्ड, अविराम करनी चाहिए.

१२ अपने चित्त में दृढ़ निश्चय पूर्वक यह पैठाना चाहिए कि, आत्मा आकाश के भाँति स्पर्श से परे अतएव अस्पर्श्य है और पाञ्चभौतिक विकार, तत्संघातकृत विषय, इन्द्रिय-व्यापार, मानसिक शक्ति इनका किसी के भी आत्मा पर आघात नहीं हुआ करता.

१३ हम सब सहज नित्यमुक्त है. ज्ञान के दृढ़ अभ्यास से अन्तः करण-निष्ठ अज्ञान का, जड़ांश का सर्वथा नाश होने के लिए सबको चाहिए. कि वे समस्त लक्षणाओं से युक्त, निश्चय पूर्वक "हम आत्मा ही हैं" ऐसा स्फुरण होते रहने के हेतु उत्तम और उच्च सिद्धान्त-ग्रन्थों का सदाकाल मनन करते रहें.

१४ यह अच्छी तरह पहचानना चाहिए कि, स्वर्ग, वैकुण्ठ, कलास, ब्रह्मलोकादिक समस्त पाञ्चभौतिक, आत्मप्रकाश-बिम्बित मानस-बल पर मैं ने ही बना लिया है, मेरा आत्मा इन लोकों की अपेक्षा अनन्त गुण्य विभु, व्यापक और स्वयंप्रकाशभूत है.

१५ विना प्रत्ययाकृति के नाम नहीं रक्खा जा सकता. अर्थात् वाच्यांश पर से यदि देखा जाय, शब्द तो विषयद्योतक हैं, प्रत्युत लक्ष्यांश-द्वारा सकल शब्द ब्रह्म को ही दर्शाने वाले हैं.

१६ परमाणु से लेकर विराट् पर्यन्त समस्त दृश्य-पदार्थ जो हैं वे अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप इन पाँच अंशों से बने हुए और इनके अतिरिक्त कोई एक भी मानसप्रत्यय और इन्द्रियादि प्रत्यक्ष विषय-पदार्थ सर्वथा नहीं हैं उनमें वाच्यांश का

अर्थतः नाम-रूपों का बाध करके सभों में ब्रह्मरूप का अस्तित्व दर्शाया जा सकता है.

१७ कितना क्यों न घना अन्धकार मचा हुआ दिखायी दे तो भी श्रीशंकराचार्य-कृत:-

(वृत्त- शार्दूलविक्रीडित. अक्षर १९)

(गण- म स ज त त ग=SSS।। S IS IIIS -SSISSIS १२+७=१९)

किं ज्योति स्तव भानुमानहनि मे रात्रौ प्रदीपादिकम्।
स्यादेवं रवि दीपदर्शनविधौ किं ज्योतिराख्या हि मे॥
चक्षुस्तस्य निमीलनादिसमये किं धीर्धियो दर्शने।
किं तत्राहमतो भवान् परमकं ज्योतिस्तदस्मि प्रभो!॥१॥

(श्री भगवान् शङ्कराचार्य कृत एकश्लोकी उपदेश)

(यह १९ अक्षरात्मक श्लोक "शार्दूलविक्रीडित" वृत्त में है तो इसी अर्थ का एक और इक्कीस अक्षरात्मक श्लोक "स्रग्धरा" वृत्त में भी है.)

(वृत्त--स्रग्धरा. अक्षर २१) ७+७×७=२१)

(गण- म र भ न य य य— SSSS ISS-II III IS-S ISS ISS)

किं ज्योतिस्ते वदस्वाहनि रविरिह मे चंद्रदीपादि रात्रौ।
स्यादेवं भानुदीपादिकपरिकलने किं तव ज्योतिरस्ति॥
चक्षुस्तन्मीलने किं भवति च सुतरां धीर्धियः किं प्रकाशे।
तत्रैवाहं ततस्त्वं तदसि परमकं ज्योतिरस्मि प्रभोहम्॥१॥

प्रश्न—हे शिष्य! कहो, कि तुम किस तेज से (किस प्रकाश के सहारे) अपना सारा व्यवहार किया करते हो?

उत्तर-व्यवहार के लिए दिन में सूर्य और रात में चन्द्रमा, दीप इत्यादि मेरे तेज हैं.

प्रश्न ठीक है, परन्तु सूर्य, चन्द्र, दीप इत्यादिकों का ग्रहण किस ज्योति से किया करते हो?

उत्तर--नेत्र से.

प्रश्न-और नेत्र मूँदनेपर किस तेज से व्यवहार करते हो?

उत्तर-सर्वप्रकाशक बुद्धि-तेज के द्वारा.

प्रश्न-बुद्धि का प्रकाशक कौन है?

उत्तर-मैं अहङ्कार!

प्रश्न-तुह्मारा प्रकाशक कौन?

उत्तर-मैं शुद्ध चिद्धन आत्मा.

गुरु-तस्मात् हे शिष्य! वह (तत्) तुम (त्वं) हो.

शिष्य-हे प्रभो! मैं सर्वश्रेष्ठ तेज हूँ.

इस एकश्लोकी उपदेश में कहे अनुसार आत्म-प्रकाश सुतराम् नष्ट नहीं होता. व्यवहारतः दिवा में सूर्य-प्रकाश और रात्रौ दीप-प्रकाश जो मुख्यतः माना जाता है उस प्रकाश का भी प्रकाशक कौन? तो वह बुद्धि है! परन्तु जिस प्रकार से कि हम निद्रा और स्वप्न की जानकारी पाते हैं, बुद्धि को पहचानते हैं उस आत्मप्रकाश का लोप कभी नहीं होता.

१८ आत्म-ज्योति-प्रकाश को ही समस्त विषयावगति, उपलब्धि कहते हैं. कारण, अपने अवगतिरूप ज्योति से सकल विषयाभासक, द्योतक आत्मा ही होते हुए वह आक्रिय रहता है.

रूप-ग्रहण समय में बुद्धि सक्रिय बनती है. शब्द विषय स्वीकार की क्रिया अन्तःकरण किया करता है, उसी प्रकार आत्मज्योति रूप अवगति भी अक्रिय रहती हुई पूर्ण व्यापक बनने के कारण अपनी जगह ही स्थित रहते समस्त विषयों का भास कराती है. जड़ को तो भोक्तृत्व है नहीं! अतः इसकी विस्मृति न होने पाय कि, सोपाधिक बुद्ध्यारूढ आत्मा ही सबका भोक्ता है.

१९ चाहे अन्तःकरण-व्यापक आत्मा कहा जाय, चाहे ऐसा समझा जाय कि, चैतन्य-सत्ता से अन्तःकरण ही सब कुछ जानता है अथवा तन्निष्ठ आत्मा ही देखता है, पहचानता है एवम् सभी व्यवहार में रहता है; परन्तु पहचानने वाला जो तत्त्व है उसपर कर्मेन्द्रियों का विशेष परिणाम नहीं होता स्पष्टार्थ यह कि, जिस प्रकार व्यावहारिक जड़ पदार्थ पटकने पर टूटते हैं, टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं जलाने पर जलकर राख होते हैं. उस प्रकार अन्तःकरण खण्डित किया; जलाया नहीं जा सकता. वह आकाश-तत्त्व से बना रहने के कारण उसपर जड़ का विशेष आघात नहीं होने पाता. और उस अन्तःकरण में ज्ञान-प्रकाश अतिशय प्रकाशित रहने के कारण अन्तःकरण-लहरी यानी वृत्ति ही सकल विषयों को घेर कर प्रकाशित करती है. तथापि वह (वृत्ति) अग्नि में प्रवेश करने पर भी जलने नहीं पाती. समझ लो कि, चिदाकाश का प्रथम विकार अन्तःकरण-रूप है. निर्विकल्प का प्रथम स्फुरण अथवा "आद्यो विकार आकाशः" इस प्रमाण-वाक्य पर से पहिला विकार आकाश है. जब कि इस प्रकार का आकाश-रूप अन्तःकरण भी नहीं भीगता, जल नहीं

सकता तो फिर आत्मा तो उससे भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर रहने के कारण भला वह किस तरह जलने, भीगने चला! अर्थात् जलना, भीगना, टूटना, फूटना आदिक जो देह-धर्म वह अपना धर्म मानना अर्थतः "मुझे मार लगा, मुझे जलन होती है" ऐसा कहना अज्ञान नहीं तो और क्या? तब तो यह विपरीत धर्म हमें क्यों भासते हैं? इसमें यह रहस्य है कि, मन की जैसी विषयाकृति बनती जाय वैसा वैसा स्फुरण होने लगता है. यदि शरीर जलते रहने पर भी अन्तःकरण आकाशाकृति धारण कर के "मैं नहीं जल सकता" इस प्रकार की वृत्ति बनाए रखेगा तो उसे ऐसा जान पड़ेगा कि. "मैं नहीं जल रहा हूँ किन्तु दग्धता से पूर्ण अलिप्त हूँ." अर्थात् जानकारी प्रकट हुए विना यानी विषय-ग्रहण करने के लिए समर्थ हुए विना जड़ शरीर की ओर से कोई क्रिया अथवा चेष्टा की घटना हो भी जाय, तो यह दृढ़ निश्चयता से मन में पैठाना चाहिए कि, जब तक कि उसका ज्ञान न हो जाय उस समय तक तद्गत सुख दुःख के सम्बन्धी विकार होने नहीं पाता.

२० सम्पर्क रीति से इसकी समझ पानी चाहिए कि, ख्यातिवाद में भ्रम-पदार्थ की जो तात्कालिक उत्पत्ति मानी गई है वह अनिर्वचनीय ख्याति साधकों के अनुभव को सहायता पहुँचाने वाली है.

२१ इसकी विस्मृति न होने पाय कि, शून्य-वाद सापेक्ष सावधिक है, यानी शून्य को स्वतःस्फुरण नहीं है.

२२ इस सम्बन्ध में कि निषेध यह विधि-लक्षणा की परि-सीमा है किसी को यदि कोई सन्देह रह जाय तो वे शास्त्र-रीति से समझ लें.

२३ यह पूर्णतः ध्यान में रखना चाहिए कि, "अस्मत, युष्मत, तत्, त्वं, मम, अहं, मैं, तू" इन समस्त प्रत्ययों में भी जो अहङ्कार स्फुरता है वह प्रसङ्ग के अनुसार क्रियार्थ दर्शक है और "अहं" शब्द मुख्यतः सत्तावोधक है.

२४ "अहं" शब्दार्थ के मुख्यार्थ और अमुख्यार्थ ऐसे दो प्रकार और वह क्रियार्थ-वाचक माने जाते हैं. पञ्चदशी में इसका उत्तम रीति से जो विवेचन किया गया है वह ध्यान में रखने योग्य है; और उपनिषद् में जहाँ जहाँ इस प्रकार कहा गया है कि, काष्ठ-पाषाणादि देव, दानव सब कुछ मैं ही हूँ वहाँ इस बात की विस्मृति कदापि न होने पाय कि, अहङ्कार (आपा) सत्ता-द्योतक है. ब्रह्म को वह आकाश के समान रहने के कारण "चिदाकाश" कहते हैं. रामदास जी ने "नभाचें सारिखें" (आकाश के भाँति) यह अच्छी तरह चित्त में पैठाने के लिए बार बार कहा है. यद्यपि आत्मा आकाशरूप है तथापि शब्दसहित आकाश "विकारी भूताकाश" कहलाता है. विकार नष्ट होनेपर वही चिदाकाश है. इस प्रकार यदि अहङ्कार में जड़ांश नाम-रूप का स्फुरण हो जाय तो उसको जड़ अहङ्कार विकारी कहते हैं. जीव के लिए मोती, सैन्धव (नौन) बुलबुला, ओला आदि का दृष्टान्त लिया जाता है. कारण, सैन्धव पानी से पिघलता है और बुलबुला तो तत्काल फूटकर पानी में मिल जाता है. सारांश, इन पदार्थों के नाम-रूप मिट जाने पर जिस प्रकार पानी का पानी ही बना रहता है उसी तरह जड़ांश का लोप होनेपर उसको सत्तास्फोरक, अहङ्कारद्योतक, सर्वावभासक चैतन्यस्फूर्ति कहनी चाहिए. उपनिषद् में इस स्फूर्ति का वर्णन समय समय पर जो आया है वह

इस प्रकार कि, "काष्ठ-पाषाणादि मैं ही हूँ" विषय हो, चाहे मानस-प्रत्यय हो उनमें विना अहंपद (आपा) स्फुरण के विषय-प्रकाश नहीं होता. और विषयव्यवहार में विना आत्म-प्रकाश के ज्ञान की पूर्णता नहीं होने पाती यानी "मैंने देखा" "मुझे ज्ञात हुआ, इस विषय को मैं समझ चुका।" इस प्रकार का अनुभव प्रतीत होने के लिए आत्मा विषय में स्फुरण पाना चाहिए. इसीलिए कहा जाता है कि, आभास से साधारण ज्ञान हुआ करता है तो विशेष-ज्ञान ब्रह्म-चैतन्य द्वारा होता है. इसका प्रतिपादन वार्तिक विवरणादि ग्रन्थों में स्पष्टतः किया गया है. अर्थात् समस्त विषयों में हम ही सत्तारूप, सुखरूप और आनन्दरूप स्फुरते हैं. विना आत्म-ज्योति के किसी विषय की अवगति, उपलब्धि नहीं होने पाती, यह मुख्य वेदान्त-रहस्य है, इसलिए प्रसङ्गवशात् यहाँ विस्तार पूर्वक कहा गया. तात्पर्य "अहं" शब्द में आत्मचैतन्य और बुद्ध्यादि उपाधियों का समावेश होता है. "अहं" शब्द लौकिक व्यवहार में उपाधि-मूलक मानते हैं. उदाहरणार्थ- "मैं दुःखी हूँ, मैं दुबला हो गया हूँ" इन वाक्यों में "मैं" शब्द शरीर और बुद्धि के हेतु है. यह वाच्यार्थ कहलाता है. और "अहं ब्रह्मास्मि" इस श्रुति-वाक्य में का "अहं" शब्द आत्म-चैतन्य-प्रधान रहने के कारण उसे लक्ष्यार्थ समझना चाहिए.

२५ काम, क्रोध, लोभ, दुःख संतोषादि मन के ही विकार हैं. यदि मन भ्रम की चक्कर में पड़ जाय तो "मैं कामी, क्रोधी, लोभी" इस प्रकार का सदोष आत्म-स्फुरण हुआ करता है,

और उस कारण "मैं भी वैसा ही हूँ" ऐसा जान पड़ता है. मन के नीच (क्षुद्र) भावना से वैसी समझ हो बैठना अथवा उच्च भावना के साथ "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा स्फुरण पाना यह मन का आगंतुक (दोष) विकार है. आत्मा केवल स्फुरणमात्र है. यहाँ यह खूब ध्यान में रखना चाहिए कि, जिस प्रकार दोष की उत्पत्ति है उसी प्रकार उसका नाश भी हुआ करता है, परन्तु संवित्-स्फुरण-रूप आत्मा अविनाशी है.

२६ खाना, पीना, चलना, फिरना, हँसना, देखना, गाना इत्यादि समस्त व्यवहारों में अस्ति, भाति, प्रिय और प्रकाश-रूप से उन-उन प्रकाशक उपाधियों के योग्यतानुरूप सभी विषयों में "सकृत् विभात्" आत्मा ही स्फुरण पाता है. कोई पदार्थ जब कभी देखा जाता है प्रथमतः आत्म-प्रकाश दीखता है जैसे -षड्रस में जो माधुर्य प्रतीत होता है वह आत्म-ज्योति की ही ओर से. विषयों में आनन्द-रूप आत्मा ही स्फुरता है. बिना आत्म-प्रकाश के विषय का न स्फुरण है, न उसमें माधुर्य न ही उसका मूल अस्तित्व भी. कुछ अवधान अथवा कालावधि से यद्यपि शाब्दिक विषयों का स्फुरण हो जाय तो भी वह विषय का ही अज्ञाना-वरण समझ लेना चाहिए. आत्म-स्फुरण नित्य सर्वकाल समान है, यह सिद्धान्त बार-बार समझ लेना चाहिए.

२७ आत्मज्ञान सम्पादन करने का अधिकार जिस पुरुष को है उसको अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं जन अज्ञान-वश तभीतक असत्य को चिपटाये रहते हैं जबतक कि सद्रूप-ज्ञान

निस्सन्देहपूर्वक निर्धारित न होने पाय. सहज-मुक्ति का लक्षण यानी संशय-रहित ज्ञान प्राप्त होना ही मुख्य समझना चाहिए, इसके अतिरिक्त इतर अन्यान्य साधनों की कोई आवश्यकता नहीं. मुक्त (पुरुष) किसी अवस्था में कैसे ही बन रहें भी तो वे मुक्त ही हैं, यही विशेषता से कहना, अच्छी तरह समझना और समझाना भी चाहिए कि, ब्रह्मादि-पिपीलिका-पर्यन्त स्थावर जङ्गमादि समस्त पदार्थों में जीवता, आत्मता और ईशता आदि विशेषणों से एक आत्मा ही व्यापक है और वह नित्यमुक्त है; यह जो अच्छी प्रकार समझ लेगा वही इस सकलमतसाम्प्रदायिकों में श्रेष्ठ है. जिसको सच्चा आत्मज्ञान हुआ वह कभी विषय-सम्बन्ध में दीर्घ वासना नहीं रखता. कारण, यह किसी समय में, किसी भाग और अवस्था में भोग्य यानी विषय-रूप न रहते भोक्ता ही बना रहता है, भूले भी भोग्य और जड़ नहीं बनता. चैतन्य यह स्वार्थ है, पदार्थ नहीं! यही कारण है कि, जड़ भोग्य पदार्थ हैं और चैतन्य उनका भोक्ता है. विना चैतन्य के अपना अस्तित्व ही नहीं. अर्थात् प्रथमोपाधिभूत जो आकाश वह तक जब जलता नहीं, भीगता नहीं तो उसका भी प्रकाशक जो आत्मा वह भला कहीं विकारी हो सकता है? अतः यही अन्तिम हार्दिक कथन है कि, हम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अविकारी सर्वदा भासमान, लोप-रहित अखण्ड एकरूप हैं. इसके अतिरिक्त शेष मार्मिक शास्त्रीय सिद्धान्त जो उपदेशक आचार्यों के उपलक्षित रहने के कारण उनका यहाँ विस्तारशः उल्लेख नहीं किया

गया सकलमतसाम्प्रदायिकों को चाहिए कि, यह सब सिद्धान्त वे ध्यान में रक्खें. समस्त मार्गों में यही एक श्रेष्ठ राजमार्ग है यह हमने निस्सन्देह-सचमुच श्रीचरण-स्मरण-पूर्वक, साम्प्रदायिकों के केवल कल्याण के हेतु जो कुछ कहा है वह सकल साम्प्रदायिकों को सुखप्रद होवे।

इति शोभने शोभनम्।
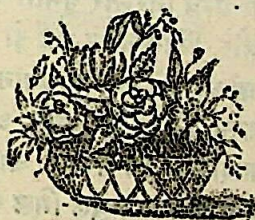
उपसंहार.

हे विश्वजन! हमारा यह अनुनय, आर्द्र-चित्त हो कर तलमलाहट के साथ कहना कभी न भूलो! देखो! खूब ध्यान लगाओ! "मैं देही" कहते समय देह और अहम्भावना (आपा) इन दोनों का स्फुरण होता है. मध्य में, बीच-बीच में विषयावगति (विषय-विज्ञता) की जो जो क्रिया होती रहे वह वह अज्ञान-वशात् लुप्तप्राय होती जाती है. इसी प्रकार सुनना, पहचानना, देखना यह जो क्रिया-यन्त्र निरन्तर घूमता रहता है उस समय में प्रत्यय-रूप विषय और अहं-स्फुरण यह दो ही विषय भासते हैं. इसलिए मैं कामी, क्रोधी, लोभी, पुण्यवान्, पापी आदि स्फुरण हुआ करता है. किसी विषय को सब ओर से समूचा भास करना यह ज्ञान-प्रकाश-सामर्थ्य विना आत्मा के अन्य में नहीं है. जैसे कि, पक्वान्न में समरस (घुल-मिल कर एक) हुई शर्करा यद्यपि अलग कर दिखाई नहीं जा सकती, तथापि यह तो मान्य करना ही पड़ता है कि, विना खाण्ड के पक्वान्न में मधुमाधुर्य (मिठास) न आने पायी. उस प्रकार वृत्तिव्यापार, गुण, चञ्चलता, "इदं इदं" (यह यह) की आघात-रूप क्रियाएँ निर्विकार चैतन्य की नहीं हैं, किन्तु यह सब वृत्ति को दर्शाने वाली हैं. चाहे कोई विषय क्यों न हो "विषयी मैं हूँ" यह कहने के लिए आत्मा सदैव तत्पर है. इसमें चैतन्य-स्फुरण यानी स्फूर्तिमात्र ही समझनी चाहिए. यद्यपि सङ्कोच-वृत्ति से आत्मा दोष-युक्त

और "मैं ईश्वर, मैं ब्रह्म, मैं नियन्ता" इस प्रकार के स्फुरण से आत्मा को महत्त्व प्राप्त होता-सा जान पड़े तो भी आत्मा छोटा-बड़ा, कामी, क्रोधी, ज्ञानी, सन्त, महन्त आदि विशेषणों से युक्त होता हो, तथा आत्मा में बद्ध-मुक्तता का दोष अथवा महाति आ जाती हो, तथापि जिस समय हम सविशेष स्फुरते हैं उस समय वृत्ति का व्यापार चला रहता है. वृत्ति जब रहती ही नहीं उस समय में निर्विकल्प चैतन्य आत्मरूप स्वतःसिद्ध रहा हुआ ही प्रकट होता है. अतः आप सब अहोरात्र निरन्तर विभु लक्षण से युक्त आत्म-चिन्तन करते सब प्रकार के भय से विमुक्त होवें.